जैन जगत के

ज्योतिर्धर आचार्य

राजस्थानकेशरी विश्वसंत

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी

के सुशिष्य

साहित्यवाचस्पति

श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का पुष्प २३६ वां

☐ प्रथमावतरण

वीर निर्वाण संवत् २५१२
वि० सं० २०४१, पौष
जनवरी १९८५

☐ प्रकाशक

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर-३१३००१
(राजस्थान)

☐ मुद्रक

श्रीचन्द सुराना के निदेशन में
एन० के० प्रिन्टर्स, आगरा

☐ मूल्य

लागत मात्र [illegible] रुपया केवल

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय ★ उदयपुर ★
संशोधित मूल्य
50/-

आशीर्वचन

जैन परम्परा का इतिहास अत्यन्त गौरवशाली रहा है। त्याग, तप, संयम, सेवा और श्रुताराधना की इस पुण्य सलिला गंगा का प्रवाह जन-जीवन को सदा पावन और परितृप्त करता रहा है।

अपने इतिहास का ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिए। इतिहास हमें प्रेरणा देता है, उत्साह जगाता है और मार्गदर्शन भी देता है।

श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने प्रस्तुत पुस्तक में जैन जगत के प्रमुख ज्योतिर्धर आचार्य तथा प्रभावक श्रमणों के उज्ज्वल चरित्र की एक सुन्दर, प्रामाणिक और प्रेरणादायी झलक प्रस्तुत की है, यह सब के लिए पठनीय है।

श्री देवेन्द्र मुनि मेरे प्रिय शिष्य है, वे आगम, इतिहास, तत्वज्ञान तथा दर्शन आदि विभिन्न विषयों का अध्ययन अनुशीलन करते रहते हैं, और उस पर अधिकारपूर्वक लिखते भी हैं। अनेक जैन तथा अजैन विद्वान उनके साहित्य से प्रभावित हैं। हजारों पाठक उससे ज्ञान वृद्धि करते हैं।

मैं आशा करता हूं, श्री देवेन्द्र मुनि इसी प्रकार निर्विघ्न रूप में श्रुत-सेवा करते हुए जिनशासन का गौरव बढ़ाते रहेंगे।

—उपाध्याय पुष्कर मुनि

महावीर भवन
चांदनी चौक, दिल्ली

उन

रत्नत्रयाराधक

आत्म-उत्थान एवं जन कल्याण के लिए समर्पित जीवन

जिनशासन प्रभावक आचार्यों को,

जिनकी श्रुत - संयम ज्योति

मेरे लिए प्रेरणा स्रोत बनी

—देवेन्द्र मुनि

प्रकाशकीय

अपने प्रेमी पाठकों के कर कमलों में 'जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य' ग्रन्थ समर्पित करते हुए हृदय आनन्द से झूम रहा है। यह एक ऐसा ऐतिहासिक ग्रन्थ है जिसमें हमारे ज्योतिर्धर पूर्वाचार्यों का जीवनवृत्त अंकित है। इस ग्रन्थ रत्न को पढ़कर हमें सहज ही ज्ञात हो सकेगा कि हमारे पूर्वाचार्य कितने महान थे, कितने तेजस्वी और प्रभावशाली थे।

प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों के आलोक में साहित्य वाचस्पति श्री देवेन्द्र मुनि जी ने उन महान् पुरुषों के जीवन चरित्रों को प्रमाण पुरस्कार प्रस्तुत कर पाठकों पर महान उपकार किया है। यह ग्रन्थ चार प्रकाश में विभक्त है। जैन इतिहास का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के इच्छुक पाठकों के लिए ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। लेखक मुनिश्री ने तटस्थ दृष्टि से चिन्तन किया है। उनका गंभीर अध्ययन प्रत्येक पंक्ति में झलक रहा है।

पूज्य गुरुदेव राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी म० का मंगलमय आशीर्वाद ग्रन्थालय को मिलता रहा है जिसके फलस्वरूप ही ग्रन्थालय फलता फूलता रहा है और नित्य नये शानदार ग्रन्थ प्रकाशित कर सका है। उसी की पावन लडी में इस ग्रन्थ रत्न का प्रकाशन करते हुए हमें अपार आह्लाद हो रहा है। आशा है हमारे अन्य प्रकाशनों की तरह यह ग्रन्थ भी अत्यधिक लोकप्रिय होगा।

इस प्रकाशन में जिन उदार महानुभावों ने अर्थ सहयोग प्रदान किया है, उनके अर्थ सौजन्य के प्रति हम सादर आभार प्रकट करते हैं तथा भविष्य में इसी प्रकार सहयोग का हाथ बढ़ता रहेगा, यह शुभ कामना करते हैं।

—चुन्नीलाल धर्मावत
(कोषाध्यक्ष)

लेखक की कलम से

इस विराट विश्व में प्रतिपल-प्रतिक्षण हजारों आत्माएँ जन्म लेती हैं। और क्रूर काल के महाप्रवाह में बह जाती हैं। न उनके जन्म पर आनन्द की ऊर्मियाँ उछलती हैं और न मृत्यु पर शोक के अश्रु ही छलकते हैं। वे जिस प्रकार आते हैं, उसी प्रकार चले जाते हैं। न उनका आना महत्त्वपूर्ण होता है, और न जाना ही। पर कुछ ऐसी विशिष्ट विभूतियाँ होती हैं जो अपने पवित्र-चरित्र के द्वारा प्रतिभा की तेजस्विता के द्वारा जन-जन के अन्तर्मानस पर अपनी छवि, अंकित कर देती हैं। जो भुलाने पर भी भुलाई नहीं जा सकती। क्रूर काल की छाया उनकी सुनहरी छवि को धुंधली नहीं बना सकती। वे कालजयी होते हैं। युग-युग तक वे प्रकाश स्तम्भ की तरह प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं।

जैन धर्म के इतिहास में हजारों ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिनका जीवन ज्योतिर्मय था। जिनका आचार निर्मल था और विचार पवित्र था। पाश्चात्य चिन्तकों की तरह वे जीवन में आचार और विचार को पृथक-पृथक नहीं मानते थे। उनकी कथनी और करणी पृथक्-पृथक् दिशा में नहीं थी। व्यक्तिगत जीवन कहकर आचरण के क्षेत्र में वे उपेक्षित नहीं थे। जो विचार में था जो मन में था, वही वचन में था और वही कर्म में। इसीलिए उनके दिव्य जीवन की अमिट छाप जन-जीवन पर अंकित होती।

मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन परम्परा के कुछ महापुरुषों की जीवन-झांकियाँ प्रस्तुत की हैं। यह पूर्ण सत्य है कि जैन मनीषी जन अपने जीवन वृत्त को प्रकट करने में बहुत ही संकोचशील रहे हैं। वे सोचते थे कि जीवन वृत्त को बताना आत्म-प्रदर्शन है। वे आत्म-दर्शन के इच्छुक थे, इसीलिए आत्म-प्रदर्शन से कतराते थे तथापि इतिहासप्रेमी मनीषियों ने उनके जीवन की अभूतपूर्व विशेषताओं को अंकित किया है कि आने वाली पीढ़ी उनसे प्रेरणा ग्रहण करे।

श्रमण भगवान महावीर के पश्चात् की आचार्य परम्परा का लेखन सर्वप्रथम श्रुत केवली आचार्य श्री भद्रबाहु ने प्रारम्भ किया और वह कल्प-

सूत्र की स्थविरावली में अंकित है।[1] उसके पश्चात् आचार्य देववाचक ने नन्दी सूत्र में अनुयोग धरों की पट्टावली दी है। दोनों ही पट्टावलियों में मुख्य रूप से अन्तर यह है कि कल्पसूत्र में जो पट्ट परम्परा दी गई है वह पट्टानुक्रम से है और नन्दीसूत्र में जो पट्ट-परम्परा दी गई है, वह अनुयोगधरों की दृष्टि से है।[2] कल्पसूत्र और नन्दी सूत्र के अतिरिक्त अन्य किसी भी आगम साहित्य में स्थविरावलियाँ नहीं हैं। पट्टानुक्रम (गुरु-शिष्य क्रम) की दृष्टि से देवर्द्धि-गणी का क्रम ३४ वाँ है और युग प्रधान (अनुयोगधर) की दृष्टि से २७वाँ है।[3] यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि कल्पसूत्र में जो स्थविरावली आई है वह स्थविरावली एक समय में और एक बैठक में नहीं लिखी गई है। आगम वाचना की तरह उसका लेखन भी तीन बार हुआ है। प्रथम आर्य यशोभद्र तक स्थविरों की परम्परा निरूपित है; वह पाटिलपुत्र की प्रथम वाचना से पूर्व की है। इस वाचना में पूर्ववर्ती स्थविरों की नामावली सूत्र के साथ संकलित की गई है। उसके पश्चात् उसमें दो धाराएँ प्रकट हुई—एक संक्षिप्त और दूसरी विस्तृत। जिनकी क्रमशः परिसमाप्ति आर्य तापस और आर्य फग्गुमित्र (आर्य फल्गुमित्र) तक होती है। वे द्वितीय वाचना के समय संग्लन की गई। और उसके पश्चात् की स्थविरावली देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने अन्तिम वाचना में गुम्फित की है। संक्षिप्त स्थविरावली में मुख्य रूप से प्रमुख स्थविरों का निर्देश है तो विस्तृत स्थविरावली में मुख्य स्थविरों के अतिरिक्त उनके गुरु भ्राता और उनके विस्तृत गण, कुल प्रभृति शाखाओं का भी उल्लेख है।[4] जहाँ संक्षिप्त स्थविरावली में आर्य वज्र के चार शिष्य बताये गये हैं[5] वहां विस्तृत स्थविरावली में तीन शिष्य बताएँ हैं। उनके नामों में भी अन्तर है। संक्षिप्त में शिष्यों के नाम आर्य नागिल, आर्य पढ़िमल आर्य जयन्त और आर्य तापस है तो विस्तृत में आर्य वज्रसेन, आर्य पद्म और आर्य रथ है।[6]

इस अन्तर का मूल कारण यह है कि श्रमण भगवान महावीर के

---

१ (क) दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति गा० १
 (ख) पंचकल्प महाभाष्य गा० १ से ११।

२ नन्दी स्थविरावली, गा० ४३।

३ पट्टावली पराग संग्रह पृष्ठ ५३ (कल्याणविजय)।

४ कल्पसूत्र स्थविरावली (लेखक द्वारा सम्पादित)।

५ कल्पसूत्र, सूत्र २०६।

६ कल्पसूत्र स्थविरावली, सूत्र २२१।

पश्चात् अनेक बार भारत भूमि में दुष्काल पड़े, जिससे उत्तर भारत में जो श्रमण संघ विचरण कर रहा था उसे विवश होकर समुद्र तटवर्ती प्रदेश की ओर बढ़ना पड़ा, पर जो वृद्ध थे तथा शारीरिक दृष्टि से चलने में असमर्थ थे वे वहीं विचरते रहे, जिससे श्रमण संघ दो भागों में विभक्त हुआ। प्रथम दुष्काल की परिसमाप्ति पर वे सभी पुनः सम्मिलित हुए किन्तु सम्प्रति मौर्य के समय और आर्य वज्र के समय दुर्भिक्ष के कारण जो श्रमण संघ दक्षिण, मध्य भारत व पश्चिम भारत में आया था वह दीर्घ-काल तक उत्तर भारत में विचरने वाले श्रमण संघ से न मिल सका, जिसके फलस्वरूप उत्तर में विचरण करने वालों का पृथक् संघ स्थविर हुआ। इस कारण स्थविरावली में नामों में पृथक्ता आई है। दक्षिणात्य श्रमण संघ १७० वर्ष तक अपनी स्वतन्त्र शासन पद्धति चलाता रहा, उसके पश्चात् विक्रम की द्वितीय शताब्दी के मध्य में पुनः वह उत्तरीय श्रमण संघ में सम्मिलित हो गया। मूल ग्रन्थ में आगम वाचना के सम्बन्ध में हम लिख चुके हैं और यह भी सूचित कर चुके हैं कि उन वाचनाओं के अनुसार स्थविरों का क्रम भी दिया गया है।

यह साधिकार कहा जा सकता है कि श्रमण भगवान महावीर से जो आचार्य परम्परा प्रारम्भ हुई वह आचार-विचार की पवित्रता की दृष्टि से विशुद्ध थी और विशुद्ध परम्परा देवद्धिगणी क्षमाश्रमण तक चलती रही। उसके पश्चात् चैत्यवासियों का प्रभुत्व जैन परम्परा में बढ़ा, और जो विशुद्धता थी उसमें न्यूनता आई। नवाङ्गी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने उस स्थिति का चित्रण करते हुए लिखा है—मैं देवद्धिगणी क्षमाश्रमण तक की परम्परा को भाव परम्परा मानता हूं।" उसके पश्चात् शिथिलाचारियों में अनेक द्रव्य परम्पराएं द्रोपदी के चीर की तरह निरन्तर बढ़ती रहीं। धर्म के मौलिक तत्त्वों के नाम पर विकार, आडम्बर, असंगतियां और साम्प्रदायिक कलह मूलक प्रवृत्तियाँ, पनपती रहीं। इसलिए समय-समय पर वैचारिक क्रान्ति के स्वर भी झंकृत होते रहे।

यह भी सत्य है कि जैन मनीषी तप, जप की साधना के साथ ज्ञान की आराधना में भी दत्तचित्त से लगे रहे। वे चलते-फिरते ज्ञान केन्द्र थे। दर्शन, साहित्य, संगीत इतिहास, गणित, रसायनशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, प्रभृति शताधिक विषयों पर गहराई से लिखा। विशाल साहित्य का सृजन कर उन्होंने भारती के भण्डार को भरा है। ऐसा कोई भी

---

३. नदी स्थविरावली गा. ४३

विषय नहीं जिस पर उन मूर्धन्य मनीषियों की लेखनी अविराम गति से न चली हो ! जैन मुनि और आचार्यों ने भारत के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर जन-जन के अन्तर्मानस में धर्म की ज्योति प्रज्ज्वलित की और वे स्वयं पद और प्रतिष्ठा से दूर रहकर एक सच्चे साधक का ज्वलन्त आदर्श उपस्थित करते रहे।

ज्योतिर्धर जैनाचार्यों के वे पावन प्रसंग कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र स्थविरावली के बाद हमें नियुक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं में बिखरे हुए मिलते हैं। परिशिष्ट पर्व, प्रभावक चरित्र, प्रबन्धचिन्तामणि, प्रबन्धकोश और विविध तीर्थकल्प प्रभृति ग्रन्थों में भी विपुल सामग्री का संकलन-आकलन है। उन सभी पूर्वाचार्यों के लिखित ग्रन्थों के आधार से ऐतिहासिक सामग्री देने का यह एक लघु प्रयास किया गया है।

सन् १९७७ में हमारा वर्षावास कर्नाटक की राजधानी बेंगलोर में था। उस समय "राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि अभिनंदन ग्रन्थ" का लेखन और सम्पादन करते समय मन में एक विचार आया कि ग्रन्थ में जैन परम्परा और इतिहास के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री दी जाये। इस दृष्टि से बहुत ही संक्षेप में सामग्री का संकलन और लेखन किया गया। वह विराटकाय ग्रन्थ प्रत्येक पाठक लेकर पढ़ नहीं पाता अतः उस सामग्री को कुछ संशोधित और परिवर्द्धितरूप में इस ग्रन्थ में पाठकों के हाथों में समर्पित किया जा रहा है।

प्रेस में जाने तक ग्रन्थ सिर्फ दो ही खण्डों में विभक्त था। प्रथम खण्ड में भ० महावीर से १८०० वी. नि० शताब्दी तक के कुछ प्रमुख प्रभावक आचार्यों का वर्णन, जीवन, घटनाक्रम तथा द्वितीय खण्ड में क्रांतिकारी वीर लोकाशाह, आचार्य श्री जीवराजजी महाराज तथा पश्चात् युगप्रवर्तक आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज की पट्ट परम्परा का वर्णन था। किंतु जब ग्रन्थ के प्रूफ आदि पढ़ने का प्रसंग आया तो इसमें परिवर्तन / परिवर्धन करने की गुंजाइश लगी। जो सामग्री छप चुकी थी उसे तो बदलना कठिन था किन्तु नई सामग्री जोड़ने का अवकाश था, अतः इसका लेखन पुनः प्रारंभ किया और तृतीय खंड में स्थानकवासी परम्परा के अनेक प्रभावक श्रमण एव आचार्यों का वर्णन लिया गया, जिसमें श्री लवजी ऋषिजी महाराज श्री धर्मसिंह जी महाराज, धर्मदास जी महाराज प्रभृति आचार्यों का जीवन वृत्त लेते हुए वर्तमान युग में आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि जी महाराज, तक का समय ले लिया गया है, लेखन कई बार में होने से कालक्रम व भाषा प्रवाह में अन्तर भी आना स्वाभाविक था। चतुर्थ खंड में दिगम्बर जैन परम्परा के

अनेक प्रभावशाली आचार्यों का भी संक्षिप्त वर्णन किया गया है, जिसके बिना शायद यह ग्रन्थ काफी अपूर्ण रहता। सोचता हूँ, श्वेताम्बर जैन परम्परा के भी अनेक प्राचीन, अर्वाचीन, वर्तमान आचार्यों का जीवन व कृतित्व परिचय इसमें जुड़जाता तो ग्रन्थ में समग्रता आ जाती और पाठकों की इतिहास रुचि को परितृप्ति मिलती। किंतु साहित्य सामग्री की अनुपलब्धि अनेक प्रयास करने पर भी खटकती रही, अनेक विद्वानों से, ग्रन्थागारों से जानकारी व साहित्य मंगाने पर भी पर्याप्त सामग्री नहीं मिल सकी इसलिए मेरी प्रस्तावित रूपरेखा पूर्ण नही हो पाई। आशा है सामग्री मिलने पर शीघ्र ही इसे पूर्णता प्रदान की जायेगी।

एक बात और है, वह यह है कि आचार्य श्री लालचन्द जी महाराज का प्राचीन उल्लेखों के आधार से हमने विक्रम संवत् १७६१ में अमृतसर वर्षावास में संथारापूर्वक स्वर्गवास लिखा है। पूज्य प्रवर्तक पन्नालाल जी महाराज के जीवन चरित्र में आचार्य लालचन्द जी महाराज के द्वारा पुष्कर के पास किशनपुरा में दीपचन्द जी महाराज को दीक्षा देने का उल्लेख किया है। दीपचन्द जी महाराज अमरसिंह जी म० के लघु गुरुभ्राता थे। लालचन्द जी महाराज कब अजमेर और पुष्कर पधारे और मारवाड़ के किन-किन गाँवों में उनका विचरण हुआ और वर्षावास हुए—ये सारे प्रसंग अन्वेषणीय हैं। प्राचीन उल्लेखों के आधार से ही नये तथ्य उद्घाटित हो सकते हैं। जो भी प्रामाणिक नये तथ्य उद्घाटित होंगे हम उन्हें सहर्ष स्वीकार करने को प्रस्तुत हैं। जब तक नई और ठोस सामग्री नहीं मिलती तब तक प्राचीन तथ्यों में परिवर्तन किस प्रकार किया जा सकता है ?

दूसरी बात स्थानकवासी जैन समाज के कर्णधार मुनियों ने जब यह अनुभव किया कि हम विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हैं और अनेकता के कारण जो विकास होना चाहिए वह नहीं हो रहा है इसलिए सर्वप्रथम अजमेर में संवत् १९८९ में वृहद् साधु सम्मेलन हुआ; पर उस समय सभी सन्त एक आचार्य के नेतृत्व में न आ सके। संवत् २००९ (सन् १९५२) में सादड़ी में सन्त सम्मेलन हुआ और श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ का निर्माण हुआ। उस समय जो सादड़ी सम्मेलन में सन्त पधारे थे उन्होंने अपनी-अपनी सम्प्रदाय, पदवियाँ संघ की एकता के लिए विसर्जित की। उस संघ के सर्वप्रथम आचार्य आत्माराम जी महाराज बने। जो आगम साहित्य के एक तलस्पर्शी अध्येता थे और प्रकृष्ट प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने अनेक आगमों

का शानदार सम्पादन और लेखन किया। उनके स्वर्गस्थ होने पर उनके द्वितीय पट्ट पर आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषिजी महाराज आसीन हुए। आचार्य आनन्द ऋषिजी महाराज महान मेधावी, सरलात्मा, प्रशान्तचेता आचार्य हैं। उनके कुशल नेतृत्व में श्रमणसंघ फल रहा है, फूल रहा है।

श्रद्धेय गुरुदेवश्री पुष्करमुनि जी महाराज श्रमणसंघ के एक ज्योतिर्धर सन्त हैं जो उपाध्याय पद पर आसीन हैं। इस प्रकार वर्तमान युग में श्रमण संघ जन-जन का आकर्षण केन्द्र है। इस संघ में अनेक विशिष्ट साधु और साध्वियाँ हैं। अनेक लेखक, चिन्तक, वक्ता. विचारक और साधक सन्त-सतियों का यह संघ जयवन्त है।

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी म० की असीम कृपा दृष्टि मुझ पर रही है, जिसके कारण ही मैं साहित्य के क्षेत्र में अपने कदम बढ़ा सका हूँ, इसलिए इस ग्रन्थ में जो कुछ भी है वह उन्हीं की कृपा का फल है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन के समय स्वर्गीया पूजनीया मातेश्वरी महासती श्री प्रभावती जी म. की प्रबल प्रेरणा मुझे मिली थी और ज्येष्ठ भगिनी महासती पुष्पवती जी का हार्दिक सहयोग भी प्राप्त हुआ। श्री रमेश मुनि, श्री राजेन्द्र मुनि, श्री दिनेश मुनि और श्री नरेश मुनि की सेवा-सुश्रूषा भी लेखन की प्रगति में सहायक बनी और मेरे हाथ में दर्द होने से पाण्डुलिपि लेखन में श्री एस० एस० श्रीकण्ठमूर्त्ति और श्री ललित शिल्पी का मधुर अपनत्व भरा सहयोग मिला जो अविस्मरणीय रहेगा।

ग्रन्थ को मुद्रण कला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर बनाने में और प्रूफ संशोधन करने में श्री श्रीचन्दजी सुराना ने जो श्रम किया है वह भी सदा स्मृति पटल पर चमकता रहेगा। जिन उदार श्रद्धालुओं ने अपनी उदार वृत्ति का परिचय दिया है, उनके सहयोग के कारण ही संस्था ग्रन्थ को मुद्रित कर लागत मूल्य पर ही पाठकों के हाथों सौंप रही है। आशा है पाठक लाभान्वित होंगे।

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

अनुक्रमणिका

प्रथम-प्रकाश १-१५४

[भगवान महावीर निर्वाण से १८०० तक]

जैन परम्परा : ऐतिहासिक सर्वेक्षण

[पृष्ठ १-१३]

ऐतिहासिक स्वरूप

भगवान ऋषभदेव

बाईस तीर्थंकर

भगवान अरिष्टनेमि

भगवान पार्श्वनाथ

भगवान महावीर

गणधर एवं अन्तिमकेवली

(निर्वाणोत्तर ६० वर्ष)

[पृष्ठ १४–२२]

इन्द्रभूति गौतम

गणधर सुधर्मा

आर्य जम्बू

श्रुतकेवली आचार्य

(वीर निर्वाण ६४—१७०)

[पृष्ठ २३–३७]

आर्यप्रभव स्वामी

आर्य सय्यंभव

आर्य यशोभद्र

आर्य सम्भूतविजय

आर्य भद्रबाहु

आर्य सुहस्ति

पट्टावलियाँ

आर्य बलिस्सह

आर्य सुस्थित

आर्य गुणसुन्दर

आर्य श्याम (कालक)

आर्य षाण्डिल्य

आर्य समुद्र, आर्य मंगू एवं

आर्य भद्रगुप्त

आर्य सिंहगिरि आर्य समित तथा

आर्य वज्रस्वामी

आर्य वज्रसेन

आर्य रक्षित

आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र

आर्य रेवतीमित्र

आर्य सिंह

आर्य स्कन्दिल

आर्य भूतदिन्न

आर्य लोहित्य

पूर्वधर-प्रभावक आचार्य

(वीर निर्वाण १७०—१०००)

[पृष्ठ ३८–१०१]

आर्य स्थूलभद्र

आर्य महागिरि

प्रमुख विद्या प्रभावक आचार्य

(वीर निर्वाण ११००—१८००)

[पृष्ठ १०२—१५४]

आर्य वृद्धवादी

आर्य सिद्धसेन

आर्य मल्लवादी

आर्य भद्रबाहु द्वितीय

आर्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण

आर्य मानतुंग

आर्य जिनदास महत्तर

आर्य हरिभद्र

आर्य बप्पभट्टि

आर्य उद्योतन

आर्य सिद्धर्षि

आर्य शीलाङ्क

आर्य दुष्यगणी

आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण

चैत्यवास परम्परा

आर्य सूर

आर्य शान्ति

आर्य अभयदेव

आर्य जिनवल्लभ

आर्य अभयदेव मल्लधारी

आर्य नेमिचन्द्र

आर्य हेमचन्द्र मल्लधारी

आर्य वादिदेव

आचार्य हेमचन्द्र (कलिकालसर्वज्ञ)

आचार्य मलयगिरि

आचार्य रामचन्द्र

आचार्य रत्नप्रभ

आचार्य रत्नाकर

आचार्य देवेन्द्र

आचार्य मल्लिषेण

□□

द्वितीय प्रकाश : १–११४

[धर्मप्राण लोकाशाह से आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज की पट्ट परम्परा]

श्रमण परम्परा में क्रियोद्धार १–१०

क्रान्तिकारी वीर लोकाशाह

भाणजी, भीदाजी आदि

मोटी पक्ष की पट्टावली

नान्ही पक्ष की पट्टावली

श्री जीवराजजी महाराज

युगप्रवर्तक आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज ११

आचार्य श्री तुलसीदास जी महाराज ४६

आचार्य प्रवर श्री सुजानमल जी महाराज ४८

आचार्य श्री जीतमल जी महाराज ५०

आचार्य श्री ज्ञानमल जी महाराज ६५

आचार्य श्री पूनमचन्द जी महाराज ६७

अध्यात्मयोगी सन्त श्रेष्ठ श्री ज्येष्ठमलजी महाराज ७५

महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज ८७

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनिजी महाराज १०२

□□

तृतीय प्रकाश १-६६

(स्थानकवासी परम्परा के प्रमुख प्रभावक श्रमण एवं आचार्य)

आचार्य श्री लवजी ऋषिजी	१
आचार्य श्री धर्मसिंह जी महाराज	५
आचार्य श्री धर्मदास जी महाराज	७
आचार्य श्री भूधरजी महाराज	१५
आचार्य श्री रघुनाथ जी महाराज	१६
आचार्य श्री जयमल्लजी महाराज	१७
आचार्य श्री आसकरण जी महाराज	२०
आचार्य श्री रायचन्दजी महाराज	२२
श्री स्वामीदासजी महाराज	२३
श्री बख्तावरमल जी महाराज	२४
आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज (पंजाबी)	२७
आचार्य श्री सोहनलालजी महाराज	२८
आचार्य श्री काशीरामजी महाराज	२९
श्री रत्नचन्द्रजी महाराज	३१
पूज्यपाद कवि तिलोक ऋषिजी महाराज	३३
आचार्यश्री अमोलकऋषिजी महाराज	३६
आचार्यश्री हुक्मीचन्द जी महाराज	३८
आचार्यश्री मन्नालालजी महाराज	३९
आचार्यं श्रीलालजी महाराज	४०
जैन दिवाकर श्री चौथमल जी महाराज	४१

आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज	४३
आचार्यश्री गणेशीलाल जी महाराज	४५
आचार्यश्री घासीलाल जी महाराज	४६
आचार्यश्री माधव मुनिजी	४८
मालवकेशरी श्री सौभाग्यमलजी महाराज	५०
मरुधरकेशरी मिश्रीमल जी महाराज	५१
आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज	५३
शतावधानी रत्नचन्द जी महाराज	५६
आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषिजी महाराज	५७
आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज	६४
युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी	६५

□□

चतुर्थ प्रकाश ६७-९६

[दिगम्बर जैन परम्परा के प्रभावक आचार्य]

आचार्य कुन्दकुन्द	६७
आचार्य अर्हद्बलि	६९
आचार्य धरसेन	७०
आचार्य गुणधर	७२
आचार्य पुष्पदन्त और आचार्य भूतबलि	७३
आचार्य समन्तभद्र	७५
आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद)	७८
आचार्य पात्र स्वामी	८०
आचार्य अकलंक	८१
आचार्य वीरसेन	८३
आचार्य जिनसेन	८४
आचार्य विद्यानन्द	८५
आचार्य अमृतचन्द	८७
आचार्य सोमदेव	८८
आचार्य अमितगति	९०
आचार्य माणिक्यनन्दि	९१
आचार्य वादिराज	९२
आचार्य प्रभाचन्द्र	९३
आचार्य नेमिचन्द्र	९४
आचार्य शुभचन्द्र	९६

१

जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य

[भगवान महावीर से वीरनिर्वाण १८०० तक प्रमुख प्रभावक आचार्य]

जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य

श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

जैन परम्परा : ऐतिहासिक सर्वेक्षण

जैन धर्म विश्व का एक मानवतावादी धर्म है, वैज्ञानिक दर्शन है। यह आत्मा के चरम विकास में आस्था रखने वाला धर्म है, जो साध्य और साधन दोनों की समीचीनता, पवित्रता और निर्मलता में विश्वास रखता है। इसने जातिवाद, वर्ण और वर्ग की भेद-भावना को समाप्त कर प्राणिमात्र की आध्यात्मिक शक्ति को विकसित होने का अवसर देने की घोषणा की है। इसी कारण वह अन्य धर्म और दर्शनों से विशिष्ट है। इसमें विचार व आचार की समान शुद्धि पर बल दिया गया है।

जैन धर्म का ऐतिहासिक स्वरूप—ऐतिहासिक दृष्टि से जैन धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है। इसे अनादि और अनन्त कहा जाय तो भी अत्युक्ति न होगी। यह धर्म न वैदिक धर्म की शाखा है और न बौद्ध धर्म की; अपितु यह एक सर्वतन्त्र स्वतन्त्र धर्म है। पुरातत्त्व, भाषा-विज्ञान, साहित्य और नृतत्त्व-विज्ञान से यह स्पष्ट हो गया है कि "वैदिककाल से पूर्व भी भारत में एक बहुत ही समृद्ध संस्कृति थी, जिसे तथाकथित समागत आर्यों ने अनार्य संस्कृति कहा। विद्वानों का अभिमत है कि वह अनार्य संस्कृति अर्थात् जगत की मूल संस्कृति श्रमण संस्कृति या जैन संस्कृति थी। वेद और अवेस्ता में जिन घटनाओं का उल्लेख हुआ है उनके आधार से ऐसा माना जाता है कि आर्य भारत में बाहर से आये थे। भारत में आने पर उन्हें व्रात्य, असुर, दास और दस्यु जैसी उच्च संस्कृति-सम्पन्न जातियों से संघर्ष करना पड़ा। वेदों में उनके विराट् नगरों का और उनके विशाल व्यापार का उल्लेख मिलता है। उनके साथ आर्यों के अनेक युद्ध हुए थे। ऋग्वेद में आर्य दिवोदास और पुरुकुत्स के युद्ध का वर्णन है जिसमें उसने आर्येतर जातियों को पराजित किया था। उत्तरकालीन अन्य वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार के अवतरण प्राप्त होते हैं।

मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा के ध्वंसावशेषों ने पुरातत्त्व के क्षेत्र में एक अभिनव क्रांति पैदा की है। इसके पूर्व सभी प्राचीन धर्म और दर्शनों का

सम्बन्ध आर्यों से माना जाता था, पर खुदाई में प्राप्त सामग्री ने यह प्रमाणित कर दिया है कि आर्यों के भारत आगमन से पूर्व यहां की संस्कृति, सभ्यता व धर्म और दर्शन अत्यधिक उन्नत था। वे लोग सुसभ्य, सुसंस्कृत, कलाओं में पारंगत ही नहीं, अपितु आत्मविद्या के गहन अभ्यासी थे। पुरातत्त्वविदों का यह मानना है कि जो ध्वंसावशेष मिले हैं उनका सम्बन्ध श्रमण संस्कृति (जैन संस्कृति) से है। डॉ० हेरास तथा प्रो० श्रीकण्ठ शास्त्री आदि का भी यही अभिमत है।[1]

ऋग्वेद से यह ज्ञात होता है कि भारत में दो संस्कृतियां थीं; पहले उनमें संघर्ष हुआ, बाद में संघर्ष मिटकर स्नेह का वातावरण निर्मित हुआ। ये दोनों संस्कृतियां आर्य और आर्येतर नाम से विश्रुत हुईं। आर्य संस्कृति वैदिक संस्कृति है और आर्येतर संस्कृति श्रमण संस्कृति है।

ऋग्वेद में "बार्हत" और "आर्हत" शब्द प्रयुक्त हुए हैं। "बार्हत" सम्प्रदाय के अनुयायी वेदों को मानते थे और यज्ञ-यागादि में उनकी निष्ठा थी। "आर्हत" वेद और यज्ञादि को नहीं मानने वाले थे। उनकी अहिंसा और दया में निष्ठा थी, वे अर्हत के उपासक थे। विष्णुपुराण के अनुसार आर्हत कर्मकाण्ड के विरोधी थे और अहिंसा के प्रतिष्ठापक थे।[2] पद्मपुराण,[3] भागवतपुराण प्रभृति ग्रन्थों में भी आर्हत सम्बन्धी अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। आर्हत सम्प्रदाय जैन सम्प्रदाय ही था। आर्हत सम्प्रदाय को वैदिक काल से आरण्यक काल तक "वातरशना मुनि" या "व्रात्य" के रूप में कहा गया है। "व्रात्य" का वास्तविक अर्थ "व्रतों का पालन करने वाला" है। अथर्ववेद में ब्रह्मचारी, ब्राह्मण, विशिष्ट पुण्यशील, विद्वान, विश्व सम्मान्य व्यक्ति व्रात्य कहलाता था[4]। ऋग्वेद में जिन वातरशना मुनियों का उल्लेख है वे अर्हत होने चाहिए। आचार्य सायण ने इन्हीं वातरशना मुनियों को "अतीन्द्रियार्थदर्शी" बताया

---

१. भारतीय इतिहास, एक दृष्टि : डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन. पृ० २८

२. आर्हतं सर्वमेतच्च मुक्तिद्वारमसंवृतम्।
धर्माद् विमुक्तेरर्होऽयं नैतस्मादपरः परः॥
—विष्णुपुराण ३/१८/१२

३. पद्मपुराण १३/३५०

४. अथर्ववेद (सायणभाष्य) १५/१/१/१

है[5]। 'केशी' और 'मुनि' भी व्रात्य ही थे[6]। श्रीमद्भागवत में इन मुनियों के प्रमुख धर्मनेता ऋषभदेव बताये गये हैं, जो नाभिपुत्र थे।[7] अनेक पुरातात्त्विक प्रमाण भी जैन धर्म और तीर्थंकरों की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

जैन साहित्य में भी जैन तीर्थंकरों के लिए "अर्हत" शब्द का प्रयोग हुआ है[8]। उस अर्हत शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से भगवान पार्श्वनाथ तक चलता रहा। भगवान महावीर के समय "निर्ग्रन्थ" शब्द मुख्य रूप से प्रयुक्त हुआ[9]। बौद्ध साहित्य में भी भगवान महावीर को "निर्ग्रंथ नाथ-पुत्र—णिग्गंठ णातपुत्र" कहा है[10]। अशोक के शिलालेखों में भी "निग्गंठ" शब्द का प्रयोग हुआ है[11]। भगवान महावीर के पश्चात् आठ गणधरों एवं आचार्यों तक "निर्ग्रन्थ" शब्द का मुख्य रूप से प्रचलन रहा। वैदिक ग्रन्थों में भी "निर्ग्रन्थ" शब्द प्रयुक्त हुआ है। सातवीं शताब्दी में बंगाल में निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय बहुत ही प्रभावशाली था।

दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग प्रभृति आगम साहित्य में जिनशासन, जिनमार्ग, जिनप्रवचन आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। पर "जैन धर्म' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम विशेषावश्यकभाष्य में हुआ है[12], जिसका रचनाकाल विक्रम सं० ८४५ है। उसके पश्चात्वर्ती साहित्य में 'जैन धर्म' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से हुआ। मत्स्यपुराण[13] में 'जिनधर्म' और

---

५. सायणभाष्य १०, १३६, २

६. ऋग्वेद १०-११-१, ३६-१

७. श्रीमद्भागवत ५-६-२०

८. कल्पसूत्र : श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय उदयपुर, पृष्ठ १६१-१६२

९. (अ) आचारांग १-३-१-१०८

(आ) भगवती १-६-३८६

१०. (क) दीघनिकाय सामञ्ञफल सुत्त १८-२१

(ख) विनयपिटक महावग्ग, पृ० २४२

११. इमे वियापरा हो हंति त्ति निग्गंठेसु पि मे कटे।

—प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, द्वि० खण्ड, पृ० १५

१२. (क) जेणं तित्थं—विशेषावश्यकभाष्य, गा० १०४३

(ख) तित्थं जइणं—वही, गाथा १०४५-१०४६

१३. मत्स्यपुराण ४/१३/५४

देवी भागवत[१४] में जैनधर्म का उल्लेख है। सारांश यह है कि देश, काल की स्थिति के अनुसार शब्दों में परिवर्तन होता रहा है पर शब्दों के परिवर्तन होते रहने पर भी जैनधर्म का आन्तरिक स्वरूप नहीं बदला है। परम्परा की दृष्टि से उसका सम्बन्ध भगवान ऋषभदेव से रहा है। जैसे शिव के नाम पर शैवधर्म, विष्णु के नाम पर वैष्णवधर्म और बुद्ध के नाम पर "बौद्ध धर्म" प्रचलित हुए हैं वैसे ही जैनधर्म किसी व्यक्ति विशेष के नाम पर प्रचलित नहीं है और न किसी व्यक्ति का पूजक ही है। इसे ऋषभदेव, पार्श्वनाथ और महावीर का धर्म नहीं कहा गया है, यह अर्हतों का धर्म है, आत्मविजय करने वालों का धर्म है, अतः यह जिनधर्म है। जैन धर्म का स्पष्ट अभिमत है कि कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक उत्कर्ष करके मानव से महामानव, आत्मा से परमात्मा और जन से जिन बन सकता है, तीर्थंकर बन सकता है, जिन और केवली बन सकता है।

तीर्थंकर

यह जैन धर्म का प्राचीनतम पारिभाषिक शब्द है। आदितीर्थंकर ऋषभदेव के लिए भी 'तित्थयर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जैन परम्परा में इस शब्द का प्राधान्य रहने से इसका प्रयोग बौद्ध साहित्य में भी अनेक स्थलों पर हुआ है। तीर्थंकर का अर्थ है जो तीर्थ का कर्त्ता या निर्माता है। जो संसार-समुद्र से पार करने वाले धर्म-तीर्थ की संस्थापना करते हैं, वे विशिष्ट व्यक्ति तीर्थंकर कहलाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये धर्म हैं; इन धर्मों को धारण करने वाले श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका के इस चतुर्विध संघ को "धर्म तीर्थ" कहा गया है।[१५]

भगवान ऋषभदेव

प्रस्तुत अवसर्पिणी काल में इस धर्म के आद्य संस्थापक भगवान ऋषभदेव हैं। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में वे उपास्य के रूप में रहे हैं। उनका तेजस्वी व्यक्तित्व और कृतित्व जन-जन के आकर्षण का केन्द्र

---

१४. गत्वाथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पतिः।
जैनधर्मं कृत स्वेन यज्ञ निन्दा परं तथा ॥
—देवी भागवत ४/१३/५८

१५. (क) भगवती २-८-६८२
(ख) स्थानांग ४/३
(ग) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—उसहचरियं।

रहा है। आधुनिक इतिहास से उनकी ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं हो सकती क्योंकि वे प्रागैतिहासिक युग में हुए। उनके पिता का नाम नाभि और माता का नाम मरुदेवा था। उनका पाणिग्रहण सुमंगला और सुनन्दा के साथ हुआ। सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी तथा अन्य अठानवें पुत्रों को जन्म दिया और सुनन्दा ने बाहुबली और सुन्दरी को। कुलकर व्यवस्था का अन्त होने पर वे राजा बने, राजनीति का प्रचलन किया, खेती आदि की कला सिखा-कर खाद्य समस्या का समाधान किया; अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को बहत्तर कलाएँ और कनिष्ठ पुत्र बाहुबली को प्राणी-लक्षणों का ज्ञान कराया; और ब्राह्मी को अठारह लिपियों का तथा सुन्दरी को गणित विद्या का परिज्ञान कराया। असि, मसि और कृषि की व्यवस्था की। वर्ण व्यवस्था की संस्था-पना की। अन्त में भरत को राज्य देकर चार हजार व्यक्तियों के साथ दीक्षा ग्रहण की। जनता श्रमणचर्या के अनुसार भिक्षा देने की विधि से अपरिचित थी अत: उन्हें एक सम्वत्सर तक भिक्षा नहीं मिली। उसके पश्चात् उनके पौत्र श्रेयांस ने इक्षु रस से भिक्षा दी जिससे इक्षु तृतीया या अक्षय तृतीया पर्व का प्रारम्भ हुआ। एक हजार वर्ष के पश्चात् उनको केवलज्ञान हुआ। संघ संस्थापना की।

ब्रह्माण्डपुराण[16] में ऋषभदेव को दस प्रकार के धर्म का प्रवर्तक माना गया है। भागवत में लिखा है कि वासुदेव ने आठवां अवतार नाभि और मरुदेवी के यहाँ धारण किया। वे ऋषभ के रूप में अवतरित हुए। उन्होंने सब आश्रमों द्वारा नमस्कृत मार्ग दिखलाया।[17] ऋषभदेव के सौ पुत्र थे। वे सभी ब्रह्मविद्या के पारगामी थे।[18] उनके नौ पुत्रों को आत्मविद्या-विशारद भी कहा गया है। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती सम्राट थे। उनके नाम से प्रस्तुत देश का नामकरण भारत हुआ।[19] यूँ भरत महा-

---

१६ इह इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन।
महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मः स्वयमेव चीर्णः॥
—ब्रह्माण्डपुराण

१७ श्रीमद्भागवत १/३/१३

१८ श्रीमद्भागवत ११/२/१६

१९ (क) वसुदेव हिण्डी, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १८६
(ख) वायुपुराण ४५/७५
(ग) ब्रह्माण्डपुराण २/१४

योगी भी थे।[20] स्वयं ऋषभदेव को भागवतकार ने योगेश्वर कहा है।[21] उन्होंने विविध प्रकार की योगचर्याओं का आचरण किया था। आचार्य शुभचन्द्र ने उन्हें योगविद्या का प्रणेता माना है।[22] हठयोग प्रदीपिका में ऋषभदेव को हठयोगविद्या का उपदेशक माना है। ऋषभदेव के सभी पुत्र और पुत्रियां साधना कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान ऋषभदेव का जन्म और दीक्षा चैत्र कृष्णा अष्टमी को और निर्वाण माघ कृष्णा त्रयोदशी को हुआ। उनकी निर्वाण भूमि अष्टापद पर्वत है। माघ कृष्णा त्रयोदशी को ऋषभदेव शिव-गति को प्राप्त हुए जिससे वह रात्रि शिवरात्रि के रूप में विश्रुत हुई।[23]

बाईस तीर्थंकर

दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ थे। उनकी जन्मस्थली अयोध्या थी। उनके पिता का नाम जितशत्रु और माता का नाम विजयादेवी था। उनका जन्म माघ शुक्ला अष्टमी को और निर्वाण चैत्र शुक्ल पंचमी को हुआ। उनकी निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।※

तृतीय तीर्थंकर सम्भवनाथ थे। उनका जन्म श्रावस्ती में हुआ। उनके पिता का नाम जितारि और माता नाम सेनादेवी था। उन्होंने अपने पूर्वभव में विपुलवाहन राजा के रूप में अकालग्रसित प्रजा के लिए सम्पूर्ण राज्य-कोष दान दिया था। उनका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ। उनकी निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

चतुर्थ तीर्थंकर अभिनन्दन थे। उनका जन्म अयोध्या में हुआ। पिता का नाम राजा सम्वर और माता का नाम सिद्धार्था था। उनका जन्म माघ शुक्ला द्वितीया को और निर्वाण वैशाख शुक्ला अष्टमी को हुआ। उनकी निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

पांचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ का जन्म अयोध्या में हुआ। पिता का नाम महाराज मेघरथ और माता का नाम सुमंगला देवी था। उनका जन्म वैशाख शुक्ला अष्टमी को और निर्वाण चैत्र शुक्ला नवमी को हुआ। जब वे

---

२० श्रीमद्भागवत ११/२/२०

२१ श्रीमद्भागवत ५/५/७

२२ ज्ञानार्णव १/२

२३ (क) ईशान संहिता (ख) ऋषभदेव: एक परिशीलन, द्वितीय सं०, पृ० २३५-३६

※ सम्मेद शिखर और सम्मेत शिखर एक ही पर्वत के ये दोनों नाम मिलते हैं।

गर्भ में आए तब गर्भ के प्रभाव से माता की बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण हो गई थी। अतः उनका नाम सुमतिनाथ रखा गया। उनकी निर्वाण भूमि भी सम्मेत शिखर है।

छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ का जन्म कौशाम्बी में हुआ। पिता का नाम श्रीधर और माता का नाम सुसीमा था। उनका जन्म कार्तिक कृष्णा द्वादशी को और निर्वाण माघ कृष्णा एकादशी को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का जन्म काशी में हुआ। उनके पिता का नाम राजा प्रतिष्ठ और माता का नाम पृथ्वी था। उनका जन्म ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का जन्म चन्द्रपुरी नगरी में हुआ। उनके पिता का नाम महासेन और माता का नाम लक्ष्मणा था। उनका जन्म पौष शुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ का जन्म काकन्दी नगरी में हुआ। उनके पिता का नाम सुग्रीव और माता का नाम रामादेवी था। उनका जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी को और निर्वाण भाद्रपद शुक्ला नवमी को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

दशवें तीर्थंकर शीतलनाथ का जन्म भद्दिलपुर नगरी में हुआ। उनके पिता का नाम राजा दृढ़रथ और माता का नाम नन्दारानी था। आपका जन्म माघ कृष्णा द्वादशी को और निर्वाण वैशाख कृष्णा द्वितीया को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ का जन्म सिंहलपुर में हुआ। आपके पिता का नाम विष्णुसेन और माता का नाम विष्णुदेवी था। आपका जन्म फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को और निर्वाण श्रावण कृष्णा द्वितीया को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य का जन्म चम्पा नगरी में हुआ। उनके पिता का नाम वसुपूज्य और माता का नाम जयादेवी था। आपका जन्म माघ कृष्णा तृतीया को और निर्वाण आषाढ़ कृष्णा सप्तमी को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

तेरहवें तीर्थंकर विमलनाथ का जन्म कम्पिलपुर में हुआ। उनके पिता का नाम कृतवर्म और माता का नाम श्यामादेवी था। आपका जन्म माघ शुक्ला तृतीया को और निर्वाण आषाढ़ कृष्णा सप्तमी को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ का जन्म अयोध्या नगरी में हुआ। उनके पिता का नाम सिंहसेन और माता का नाम सुयशा था। आपका जन्म वैशाख कृष्णा तृतीया को और निर्वाण चैत्र शुक्ला पंचमी को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ का जन्म रत्नपुर में हुआ। उनके पिता का नाम भानुराजा और माता का नाम सुव्रता था। जन्म माघ कृष्णा तृतीया को और निर्वाण ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ थे। उनका जन्म हस्तिनापुर में हुआ। उनके पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम अचिरा था। आपका जन्म और निर्वाण ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को हुआ। सम्मेत शिखर आपकी निर्वाण भूमि है। शान्तिनाथ जहां तीर्थंकर थे वहाँ पर वे चक्रवर्ती भी थे। उन्होंने पूर्वभव में राजा मेघरथ के रूप में कबूतर की रक्षा के लिए और उसके बदले में अपने शरीर का मांस काटकर दिया था। आपके गर्भ में आने से पूर्व देश में भयंकर महामारी का प्रकोप था पर आपके दिव्य प्रभाव से वह रोग मिट गया, जिससे आपका नाम शान्तिनाथ रखा गया।

सत्रहवें तीर्थंकर कुन्थुनाथ थे। उनकी जन्मस्थली हस्तिनापुर थी। उनके पिता का नाम सूरराजा और माता का नाम श्रीदेवी था। आपका जन्म वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को और वैशाख कृष्णा प्रतिपदा को निर्वाण हुआ। आप छठे चक्रवर्ती सम्राट भी थे। आपकी निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

अठारहवें तीर्थंकर का नाम अरनाथ था। आपका जन्म हस्तिनापुर में हुआ। आपके पिता का नाम सुदर्शन और माता का नाम श्रीदेवी था। आपका जन्म और निर्वाण मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को हुआ। आप तीर्थंकर के साथ ही सातवें चक्रवर्ती सम्राट भी थे। आपकी निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

उन्नीसवें तीर्थंकर का नाम मल्लि भगवती था। आपका जन्म स्थान मिथिला नगरी था। आपके पिता का नाम कुम्भराजा और माता का नाम

प्रभावती था। आपका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को हुआ और फाल्गुन शुक्ला द्वादशी को आपका निर्वाण सम्मेत शिखर पर हुआ। वर्तमान चौबीस तीर्थंकरों में आप महिला तीर्थंकर हैं।[24]

बीसवें तीर्थंकर का नाम मुनिसुव्रत था। आपकी जन्मभूमि राजगृह नगरी थी। आपके पिता का नाम राजा सुमित्र और माता का नाम पद्मावती था। आपका जन्म ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी को और निर्वाण ज्येष्ठ कृष्णा नवमी को हुआ। आपकी निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

इक्कीसवें तीर्थंकर का नाम नमिनाथ था। आपकी जन्मभूमि मिथिला थी। आपके पिता का नाम विजयसेन और माता का नाम वप्रादेवी था। आपका जन्म श्रावण कृष्णा अष्टमी को तथा निर्वाण वैशाख कृष्णा दशमी को हुआ। निर्वाण भूमि सम्मेत शिखर है।

भगवान अरिष्टनेमि

बाईसवें तीर्थंकर का नाम नेमिनाथ था। आपका अपर नाम अरिष्टनेमि भी था। भगवान अरिष्टनेमि और भगवान पार्श्व इन दोनों तीर्थंकरों को आधुनिक विद्वान् ऐतिहासिक महापुरुष मानते हैं। अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। ऋग्वेद,[25] यजुर्वेद,[26] सामवेद[27] आदि में उनके नाम का उल्लेख मिलता है। छान्दोग्योपनिषद,[28] महाभारत,[29] स्कन्दपुराण,[30] प्रभास पुराण[31] आदि में भी उनके अस्तित्व का संकेत मिलता है। आपका जन्म आगरा के सन्निकट शौरीपुर नगर में हुआ था। आपके पिता का नाम समुद्र-विजय और माता का नाम शिवादेवी था। आपका जन्म श्रावण शुक्ला पंचमी को और निर्वाण आषाढ़ शुक्ला अष्टमी को हुआ था। आपका निर्वाण सौराष्ट्र में गिरनार पर्वत पर हुआ था, जिसे रेवतगिरि भी कहते हैं।

---

२४. श्वेताम्बर परम्परा आपको महिला तीर्थंकर मानती है और दिगम्बर पुरुष। 'मल्लि' नाम दोनों परम्पराओं में समान रूप से गृहीत है।

२५ ऋग्वेद १।१४।८९।६; १।२४।१८०।१०; ३।४।५३।१७; १०।१२।१७८।१

२६ यजुर्वेद २५।१९

२७ सामवेद ३।९

२८ छान्दोग्योपनिषद् ३।१७।४; प्र० ३, खण्ड १८

२९ महाभारत, शान्तिपर्व २८९।४,५,६

३० स्कन्दपुराण, प्रभास खण्ड

३१ प्रभासपुराण ४९-५०

आपके उपदेशों से श्रीकृष्ण वासुदेव बहुत ही प्रभावित थे। जब आप गृहस्थाश्रम में थे, उस समय आपका पाणिग्रहण महाराजा उग्रसेन की सुपुत्री राजमती के साथ निश्चित हुआ था। किन्तु विवाह के अवसर पर बरातियों के भोजन के लिए पशुवध देखकर आपका हृदय दया से द्रवित हो उठा। आपने सोचा—मेरे विवाह के उपलक्ष्य में यह पशु संहार होगा तो मुझे विवाह ही नहीं करना चाहिए। अतः बिना विवाह किए ही तोरण से वापस लौट गए और दीक्षा ग्रहण की। मांसाहार के विरोध में उन्होंने जो अभियान प्रारम्भ किया वह इतिहास के पृष्ठों पर आज भी चमक रहा है।

भगवान पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ थे। आपकी जन्मभूमि वाराणसी थी। आपके पिता का नाम राजा अश्वसेन और माता का नाम वामादेवी था। आपका जन्म ईस्वी पूर्व ६५० में पौष कृष्णा दशमी को हुआ था और निर्वाण श्रावण शुक्ला अष्टमी को सम्मेत शिखर पर हुआ। आपके युग में तापस परम्परा के विवेकशून्य अनेक क्रियाकांड प्रचलित थे। जब आप गृहस्थाश्रम में थे तब आपने तापस कमठ को धर्म का वास्तविक स्वरूप बताया और उसकी धूनी के जलते हुए लक्कड़ में से अर्ध जले सर्प को निकाल कर उसका उद्धार किया। केवलज्ञान प्राप्त होने पर विवेकमूलक धर्म-साधना का आपने प्रचार किया। हर्मन जेकोबी,[32] कोलब्रुक, स्टीविन्शन, एडवर्ड थामस, डॉ० बेलवलकर, दास गुप्ता, डा० राधाकृष्णन,[33] शार्पेन्टियर,[34] गैरिनाट, मजूमदार, ईलियट पुसिन आदि पौर्वात्य और पाश्चात्य सभी मूर्धन्य मनीषियों ने पार्श्व को ऐतिहासिक पुरुष माना है। अध्यात्म-योगियों ने भगवान पार्श्व को परम ध्यानयोगी माना है।

बौद्ध साहित्य में भगवान पार्श्व के अस्तित्व के संकेत प्राप्त होते हैं। अंगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा की दृष्टि से गौतम बुद्ध का चाचा बप्प

---

32 The Sacred Books of the East, Vol. XLV, Introduction, page 21 : "That Parsva was a historical Person, is now admitted by all as very probable,....

33 Indian Philosophy : Vol. I, page 287

34 The Uttaradhyayana Sutra, Introduction, page 21 "We ought also to remember that the Jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor Parsva having almost certainly existed as a real Person, and that, consequently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Mahavira."

निर्ग्रन्थ श्रावक था। बौद्ध साहित्य के उद्भट विद्वान धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा है कि तथागत बुद्ध ने अपने पूर्व समय में पार्श्वनाथ परम्परा का अनुसरण किया था[35]। इतिहासकार डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी[36] और श्रीमती राइस डेविडस[37] का अभिमत है कि बुद्ध की साधना पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों से प्रभावित थी। बौद्ध सम्प्रदायों में प्रचलित ध्यानयोग पर पार्श्वनाथ की ध्यानसाधना का स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है। आगम साहित्य में पार्श्वनाथ के लिए पुरुषादानीय, लोकपूजित, सम्बुद्धात्मा, सर्वज्ञ एवं लोकप्रदीप जैसे विशिष्ट विशेषण देकर उनके तेजस्वी व्यक्तित्व को उजागर किया गया है।[38]

भगवान महावीर

चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर थे। आपकी जन्मभूमि वैशाली का उपनगर क्षत्रियकुण्ड था। आपके पिता का नाम राजा सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशलादेवी था। आपका जन्म चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को और निर्वाण कार्तिक कृष्णा अमावस्या को हुआ। आपकी निर्माणभूमि पावा थी। आपका जन्म ईस्वी पूर्व ५९९ में और निर्वाण ईस्वी पूर्व ५२७ में हुआ। धन-धान्य की अभिवृद्धि होने के कारण आपका नाम वर्द्धमान रखा गया। बड़े भाई का नाम नन्दीवर्द्धन, बहिन का नाम सुदर्शना और विदेह राज्य के मनोनीत अध्यक्ष चेटक आपके मामा थे। बसन्तपुर के महासामन्त समरवीर की पुत्री यशोदा के साथ आपका पाणिग्रहण हुआ। और प्रियदर्शना नामक एक पुत्री हुई, जिसका पाणिग्रहण जमाली के साथ हुआ।

अट्ठाईस वर्ष की उम्र में माता-पिता के स्वर्गस्थ होने पर संयम ग्रहण करना चाहा किन्तु ज्येष्ठ भ्राता नन्दीवर्द्धन के अत्यधिक आग्रह से वे दो वर्ष गृहस्थाश्रम में और रहे। तीस वर्ष की अवस्था में गृहवास त्यागकर एकाकी निर्ग्रन्थ मुनि बने। उग्रतप की साधना की। देव-दानव-मानव-पशुओं के द्वारा भीषण कष्ट देने पर भी प्रसन्न मन से उसे सहन किया। अन्य तीर्थ-

---

३५ भगवान पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म : धर्मानन्द कौशाम्बी, पृष्ठ २८-३१

३६ हिन्दू सभ्यता, पृष्ठ २३९, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

३७ Mrs. Rhys Davids : Gautama the Man, page 22-25

३८ उत्तराध्ययन, अध्ययन २३, गाथा १

करों की अपेक्षा महावीर का तप:कर्म अधिक उग्र था। साधना करते हुए बारह वर्ष बीते। तेरहवां वर्ष आया, वैशाख का महीना था, शुक्ल पक्ष की दशमी के दिन अन्तिम प्रहर में साल वृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन से आतापना ले रहे थे, तब केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हुआ।

वहाँ से विहार कर पावापुरी पधारे। वहाँ सोमिल ब्राह्मण ने विराट यज्ञ का आयोजन कर रखा था। जिसमें इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डितपुत्र, मौर्यपुत्र, अंकपित, अचलभ्राता, मेतार्य, प्रभास ये ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण आये हुए थे। उनके तर्कों का निरसन कर उन्हें अपने शिष्य बनाए, साथ ही चार हजार चार सौ उनके विद्वान शिष्यों ने भी दीक्षा ग्रहण की। भगवान ने उन्हीं ग्यारह विज्ञों को गणधर के महत्त्वपूर्ण पद पर नियुक्त किया। श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका इस चतुर्विध तीर्थ की स्थापना कर तीर्थंकर बने। भगवान के संघ में चौदह हजार श्रमण, छत्तीस हजार श्रमणियाँ थीं। एक लाख उनसठ हजार श्रावक और तीन लाख अठारह हजार श्राविकाएँ थीं। भगवान के त्यागमय उपदेश को श्रवण कर वीरांगक, वीरयश, संजय, एणेयक, सेय, शिव, उदायन और शंख—काशीवर्धन आदि आठ राजाओं ने श्रमण धर्म ग्रहण किया था। सम्राट श्रेणिक के तेईस पुत्रों और तेरह रानियों ने दीक्षा ग्रहण की। धन्ना और शालिभद्र जैसे धन-कुबेरों ने भी संयम स्वीकार किया। आर्द्रककुमार जैसे आर्येतर जाति के युवकों ने, हरिकेशी जैसे चाण्डाल जातीय मुमुक्षुओं ने और अर्जुन मालाकार जैसे क्रूर नर-हत्यारों ने भी दीक्षा ग्रहण की।

गणराज्य के प्रमुख चेटक महावीर के मुख्य श्रावक थे। उनके छह जामाता उदायन, दधिवाहन, शतानीक, चण्डप्रद्योत, नन्दीवर्द्धन, श्रेणिक तथा नौ मल्लवी और नौ लिच्छवी के अठारह गणनरेश भी भगवान के परम भक्त थे। केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् तीस वर्ष तक काशी, कौशल, पाञ्चाल, कलिंग, कम्बोज, कुरुजांगल, बाह्लिक, गान्धार, सिन्धु सौवीर, प्रभृति प्रान्तों में परिभ्रमण करते हुए जीवों को प्रतिबोध देते हुए अन्तिम वर्षावास मध्यम पावा में सम्राट हस्तिपाल की रज्जुक सभा में किया। कार्तिक अमावस्या की रात्रि में स्वाति नक्षत्र के समय बहत्तर वर्ष की उम्र पूर्ण कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। निर्वाण के समय नौ मल्लवी, नौ लिच्छवी गणों के अठारह राजा उपस्थित थे। जिन्होंने भावोद्योत के चले जाने पर

द्रव्योद्योत किया तभी से श्रमण भगवान महावीर की स्मृति में दीपावली महापर्व मनाया जाता है[३९]।

बौद्ध साहित्य में भी भ० महावीर के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख मिलते हैं। महावीर बुद्ध के समकालीन थे। विस्तार भय से हम यहां उस सम्बन्ध में चिन्तन न कर प्रबुद्ध पाठकों को लेखक की 'भगवान महावीर : एक अनुशीलन' कृति देखने की प्रेरणा देना समुचित समझते हैं।

□

---

३९ (क) कल्पसूत्र १२७
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १०/१३/२४७,२४८

गणधर एवं अन्तिम केवली

इन्द्रभूति गौतम

इन्द्रभूति गौतम भगवान महावीर के प्रधान शिष्य थे। वे राजगृह के सन्निकट गोबर ग्राम के निवासी थे[1]। उनके पिता का नाम वसुभूति और माता का नाम पृथ्वी था। उनका गोत्र गौतम था[2]। वैदिक दर्शन का उन्हें अगाध ज्ञान था। उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य पर ब्राह्मण समाज को सात्विक गर्व था। चाहे समाजशास्त्र हो, चाहे राजनीतिशास्त्र हो, चाहे तर्कशास्त्र हो, चाहे अध्यात्म, धर्म, विज्ञान, कला और साहित्य का विषय हो; उनकी प्रतापपूर्ण प्रतिभा की पहुंच इतनी गहरी थी कि वे सभी विषय उन्हें हस्तामलकवत् प्रतीत होते थे। उन्होंने ज्ञान सिन्धु पर खुलकर क्रीडाएं की थीं। ५०० मेधावी छात्र उनके पास वेद, उपनिषद्, धर्म, दर्शन प्रभृति विषयों का गम्भीर अध्ययन करते थे।

एक बार मध्यम पावापुरी में सोमिल ब्राह्मण ने महायज्ञ का आयोजन किया। उस यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये भारत के विविध अंचलों से मूर्धन्य मनीषी गण उपस्थित हुए। उस युग के जाने और माने हुए ग्यारह वेद-विज्ञ विद्वान अपने-अपने शिष्यों के साथ उस आयोजन में भाग लेने आए[3]। उनके साथ ४४०० शिष्यों का परिवार था। वे विद्वान अपने आप को महान मानते थे। उनका मन्तव्य था कि उनसे लोहा लेने वाला कोई भी व्यक्ति इस संसार में नहीं है।

---

१ आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६४३।

२ आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६४७-६४८।

३ इक्कारसवि गणहरा सव्वे उन्नयविसालकुलवंसा।
पावाइ मज्झिमाए समोसढा जन्नवाडम्मि ॥५९२॥
—आवश्यकनिर्युक्ति, मलय वृत्ति, भाग २, पत्रांक ३११

जंभिय ग्राम में ऋजुबालुका नदी के सन्निकट भगवान महावीर को केवलज्ञान, केवलदर्शन समुत्पन्न हुआ। वे वहाँ से सीधे ही चलकर मध्यम पावापुरी में आये। देवों ने समवसरण की रचना की। जनसमूह महावीर के पावन प्रवचन को श्रवण करने के लिये बरसाती नदी की तरह समवसरण की ओर बढ़ने लगा। जनसमूह को भगवान महावीर की ओर बढ़ते हुए देखकर इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति प्रभृति ग्यारह मनीषियों का अहं जागृत हो उठा। वे सोचने लगे—"यहाँ कौन ऐन्द्रजालिक आया है, जो अपनी मंत्र और तंत्र शक्ति से जन-जन को आकर्षित कर रहा है ? पर हमारे सामने उस दम्भी और मायावी की क्या हस्ती है ? जब तक शेर मांद में सोता रहता है, तभी तक वन-पशु जंगल में छलांगे भरते हैं। किन्तु ज्यों ही शेर जम्हाई लेकर दहाड़ने लगता है तो वन-पशुओं के प्राण सूख जाते हैं। वे भय से कांपने लगते हैं। यही स्थिति इस मायावी की भी होगी। हमारी अजेय मेधा-शक्ति के सामने यह एक क्षण भी टिक नहीं सकेगा। हम अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा से इसे पराजित कर देंगे।"

भगवान महावीर को पराजित करने की दृष्टि से सर्वप्रथम इन्द्रभूति गौतम अपने मेधावी ५०० छात्रों के साथ समवसरण में पहुंचे; पर महावीर के तेजोदीप्त प्रभा-मण्डल को निहार कर उनके चरण ठिठक गए, नयन चुंधिया गये। उन्हें मन ही मन में यह अनुभूति हुई कि यह अनन्त आकाश को छूने वाला हिमालय है, तो हम क्षुद्र पहाड़ी की तरह हैं। यह सहस्ररश्मि सूर्य की तरह प्रकाश पुञ्ज है तो हम जुगनू की तरह स्वल्प प्रकाश के धनी हैं। इनके सामने हमारी तुलना ही क्या है ? पर दूसरे ही क्षण अहंकार का नाग फुफकार उठा। वे सोचने लगे—हमने अगाध ज्ञान सिन्धु का अवगाहन किया है। देखेंगे, यह हमारे से किस प्रकार सामना कर सकता है ? प्रथम सम्पर्क में भगवान महावीर ने "इन्द्रभूति गौतम" इस सम्बोधन से उनको पुकारा और उनकी अपनी आत्मा सम्बन्धी शंकाओं का रहस्योद्घाटन ही नहीं किया बल्कि उनका संतोषप्रद समाधान भी किया। जिससे इन्द्रभूति का अभिमान हिमखण्ड की भांति पिघल गया। वे फलों से लदी हुई शाखा की तरह भगवान महावीर के चरणों में झुक गये। वे महावीर को समझाने आए थे पर स्वयं समझ गए। वे सर्वतोभावेन महावीर के चरणों में समर्पित होकर श्रमण धर्म को स्वीकार करने को तत्पर हुए। इस प्रकार वीर निर्वाण ३० वर्ष पूर्व (विक्रम पूर्व ५००) उन्होंने सर्वप्रथम प्रव्रज्या ग्रहण की। उन्हें गणधर लब्धि की प्राप्ति हुई। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य—इस त्रिपदी के आधार पर संसार समुद्र को तिरने के लिये द्वादशांगी

की रचना की[4]। भगवती सूत्र में गणधर गौतम की परिचय रेखा प्रस्तुत करते हुए लिखा है—वे घोर तपस्वी, चौदह पूर्व के ज्ञाता, चतुर्ज्ञानी, सर्वाक्षर सन्निपाती, तेजस् लब्धि के धर्ता और अनेक लब्धियों के भंडार थे। जैन आगम साहित्य का मुख्य भाग महावीर और गौतम के संवाद के रूप में है। गौतम जिज्ञासा हैं, तो महावीर समाधान हैं। उपनिषदों में जो स्थान उद्दालक के सामने श्वेतकेतु का है; बुद्ध के सामने जो स्थान त्रिपिटक में आनन्द का है; श्रीकृष्ण के सामने गीता में जो स्थान अर्जुन का है; वही स्थान जैनागम साहित्य में महावीर के समक्ष गौतम का है।

गौतम के अन्तर्मानस में महावीर के प्रति अनन्य आस्था थी। उनके जीवन के कण-कण में और मन के अणु-अणु में आस्था का साम्राज्य था। वे नम्रता की साक्षात् मूर्ति थे। सत्य के प्रति उनकी गहरी निष्ठा थी। वे सत्य को स्वीकार करने में किंचित् मात्र भी संकोच नहीं करते थे। आनन्द श्रमणोपासक से वे क्षमा-याचना करने हेतु पहुंचे थे, ऐसा स्पष्ट उल्लेख उपासकदशांग में है। जो उनकी सत्य-निष्ठा का जाज्वल्यमान प्रतीक है। उनमें उपदेश प्रदान करने की शक्ति भी विलक्षण थी। श्रमण भगवान महावीर ने पृष्ठचम्पा के गांगिल नरेश को प्रतिबोध देने हेतु उन्हें प्रेषित किया था। उन्होंने पन्द्रह सौ तीन तापसों को प्रतिबोध देकर श्रमण धर्म में दीक्षित किया था[5]। भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी केशी श्रमण, उदक पेढाल प्रभृति हजारों श्रमणों को भगवान महावीर के संघ में सम्मिलित करने का श्रेय भी आपको था[6]।

श्रमण भगवान महावीर के संघ के संचालन का सम्पूर्ण भार गौतम के वरिष्ठ कन्धों पर था। भगवान महावीर के परिनिर्वाण के समय गणधर गौतम अन्यत्र प्रबोध देने गए हुए थे। भगवान के निर्वाण की सूचना प्राप्त होते ही उनका हृदय शोक-विह्वल हो गया। चिन्तन की धारा अन्तर्मुखी बनी। मोह का दुर्भेद्य आवरण टूटा और केवलज्ञान व केवलदर्शन का

---

४ जयन्त्व द्वादशाङ्गी भवजलधितरी दे निषद्यात्रयेण ॥२॥

—अपापाकल्प विविध तीर्थकल्प पृ. २५

५ (क) गणधरवाद, भूमिका, पं० दलसुख मालवणिया, पृष्ठ ६६।

(ख) कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी टीका

६ (क) उत्तराध्ययन, अध्ययन २३,

(ख) सूत्रकृतांग २।७।७२, नालंदीयाध्ययन

आलोक जगमगाने लगा। गौतम सर्वज्ञ बन गये। सर्वज्ञ, परम्परा का वाहक नहीं होता। अतः वीर निर्वाण के पश्चात् संघ के दायित्व को गणधर सुधर्मा ने संभाला[7]। गौतम बारह वर्ष जीवनन्मुक्त केवली अवस्था में रहे। उन्होंने पचास वर्ष की उम्र में दीक्षा ग्रहण की, तीस वर्ष छद्मस्थ अवस्था में रहे और बारह वर्ष केवली रहे, इस प्रकार बानवे वर्ष की उम्र में गुण-शील चैत्य में मासिक अनशन व्रत करके परिनिर्वाण को प्राप्त हुए[8]।

गणधर सुधर्मा

गणधर सुधर्मा भगवान महावीर के प्रधान शिष्यों में से पांचवें शिष्य थे। उनका जन्म कोल्लाग सन्निवेश निवासी ब्राह्मण परिवार में वीर निर्वाण ८० वर्ष पूर्व (विक्रम पूर्व ५५० वर्ष) में हुआ था। वे अग्निवेश्यायन गोत्रीय थे। उनके पिता का नाम धम्मिल और माता का नाम भद्दिला था। वे प्रकाण्ड पाण्डित्य के धनी थे। उनकी बहुमुखी प्रतिभा से भारतीय जन-मानस अत्यधिक प्रभावित था। पाँच सौ तेजस्वी छात्र उनके पास अध्ययन करते थे। वे भी अपने छात्रों के साथ मध्यम पावापुरी में सोमिल ब्राह्मण द्वारा आयोजित महायज्ञ में सम्मिलित हुए थे और भ० महावीर से समाधान पाकर अपने शिष्यों के साथ उनके श्रीचरणों में दीक्षित हुए थे। पचास वर्ष की वय में वीर निर्वाण ३० वर्ष पूर्व (विक्रम पूर्व ५००) सुधर्मा दीक्षित हुए थे। बयालीस वर्ष तक वे छद्मस्थ अवस्था में रहे। महावीर के निर्वाण के बारह वर्ष पश्चात् उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और आठ वर्ष तक वे केवली अवस्था में रहे। भगवान महावीर के सभी गणधरों में सुधर्मा सबसे अधिक दीर्घजीवी थे। इसलिए सभी गणधरों ने अपने-अपने गण सुधर्मा को समर्पित किये थे।[9] भगवान महावीर की उपस्थिति में नौ गणधर राजगृह की पावन धरा पर निर्वाण को प्राप्त हो गये थे।[10] अतः वीर निर्वाण के पश्चात संघ के दायित्व को गणधर सुधर्मा ने संभाला। भीष्म ग्रीष्म के आतप से तापित

---

७ आसीत्सुधर्मा गणभृत्सु तेषु श्री वर्धमानप्रभुपट्टधुर्यः ॥११॥

—पट्टावली समुच्चय, श्री महावीर पट्ट परम्परा पृ० १२१

८. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६६५।

९. (क) कल्पसूत्र चूर्णि, पृष्ठ २०१।

(ख) आवश्यकनिर्युक्ति ६५८।

१०. परिणिव्वुया गणहरा जीवंते नाय ए नव जणाऊ ॥६५८॥

—आवश्यकनिर्युक्ति; मलयवृत्ति, भाग २, पत्रांक ३३९॥

मानव को शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर जिस प्रकार आह्लाद प्रदान करता है वैसा ही आह्लाद जैन संघ को सुधर्मा से प्राप्त हुआ था। उनका नेतृत्व श्रमण संघ के लिये वरदान रूप में रहा।

जैन शासन पर गणधर सुधर्मा का महान उपकार है। उन्होंने भगवान महावीर के सान्निध्य में बैठकर जनकल्याणकारी मंगलमय वाणी का पान किया था। उस वाणी को अपने मानस-पटल पर सुरक्षित रखकर उसे जन-जन के लिये पुनः समर्पित किया। वर्तमान में जो आगम साहित्य विद्यमान है, वह गणधर सुधर्मा की ही देन है।[11] अन्य गणधरों की आगम वाचनाएँ सुधर्मा की आगम वाचनाओं में ही सम्मिलित हो गई थीं। गणधर सुधर्मा ने अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा से और उग्र आचार साधना से जनमानस को प्रभावित किया था। जिससे उस युग में फैले हुए आजीवक आदि का प्रभाव क्षीण हो गया। सुधर्मा जैसे वरिष्ठ आचार्य का सम्बल संघ के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। वैभारगिरि पर मासिक अनशन के साथ वीर निर्वाण २० (विक्रम पूर्व ४५०) में भौतिक देह का परित्याग कर वे परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।[12]

आर्य जम्बू (अन्तिम केवली)

आर्य जम्बू भगवान महावीर के द्वितीय पट्टधर थे। उनका जीवन वैडूर्यमणि की तरह ज्योतिर्मय है जिस ज्योति को कोई भी शक्ति धूमिल नहीं कर सकी है। वे श्रेष्ठी-पुत्र थे। उनके पिता का नाम ऋषभदत्त था और माता का नाम धारिणी था। ऋषभदत्त राजगृह नगर के इभ्य श्रेष्ठी थे। लक्ष्मी की अपार कृपा उन पर थी। वैभव के अम्बार लगे हुए थे। स्वर्ण और रत्न जटित दीवारें उनके वैभव की यशोगाथा गा रही थीं। वीर निर्वाण पूर्व १६ (विक्रम पूर्व ४८६) में उनका जन्म हुआ था। जन्म के पूर्व माता धारिणी ने श्वेत सिंह का स्वप्न देखा था।[13] कथान्तर के अनुसार जम्बू वृक्ष को देखा था। वह बहुत ही शिष्ट, सुदक्ष और सुशिक्षित महिला थी। वह जानती थी कि सूक्ष्म संस्कारों का असर गर्भस्थ शिशु पर गहरा होता है। अतः सन्तान को सुसंस्कृत बनाने के लिए संयम से रहने लगी और जागरूक होकर धर्माराधना करने लगी। जन्म लेने परपुत्र का नाम जम्बू रखा गया[14]। वह बहुत ही

---

११. अधुनैकादशांग्यस्ति सुधर्मास्वामिभाषिता। —प्रभावक चरित्र ११४, पत्र ५८

१२. पट्टावली समुच्चय, श्री गुरु पट्टावली, पत्र १६३

१३ अन्यदा धारिणीस्वप्ने श्वेतसिंह न्यभालयत्
—परिशिष्ट पर्व, सर्ग २, श्लोक ५७

१४. सुनोर्जम्बूतरोर्नाम्ना जम्बूरित्यभिधां व्यधात्।
—परिशिष्ट पर्व, सर्ग २, श्लोक ७१

सुकुमार था। पर कौन जानता था कि यह महान् शिशु जैन धर्म का महान् आचार्य बनेगा।

श्रेष्ठी ऋषभदत्त ने उस युग की सर्वश्रेष्ठ रूपवती आठ कन्याओं के साथ जम्बू का सम्बन्ध कर दिया। कभी-कभी जीवन में इस प्रकार के प्रसंग समुपस्थित हो जाते हैं, जो जीवन को अभिनव मोड़ प्रदान करते हैं। एक बार आर्य सुधर्मा राजगृह के उद्यान में पधारे। उनके प्रवचन-पीयूष का पान कर जम्बू का मन वैराग्य के रंग से रंग गया।[15] उन्हें यह अनुभव हुआ कि भौतिक पदार्थों में सच्चा सुख नहीं है। सच्चा सुख संयम साधना में रहा हुआ है। मैं सच्चे सुख को प्राप्त करने के लिये संयम धर्म को स्वीकार करूँगा। उन्होंने अपने मन की बात आर्य सुधर्मा से कही। आर्य सुधर्मा ने कहा—संयम जीवन का सौन्दर्य है। तुम उस सौन्दर्य से अपने जीवन को चमकाना चाहते हो तो एक क्षण का भी प्रमाद मत करो। जम्बू चाहते थे किन्तु अभिभावकों की आज्ञा के बिना दीक्षा ग्रहण नहीं कर सके थे। अतः वे रथ में बैठकर अपने घर की ओर चल दिये। नगर द्वार पर आकर रथ रुक गया; मार्ग में अत्यधिक भीड़ थी। जम्बू क्षण मात्र का भी विलम्ब नहीं करना चाहते थे। अतः वे दूसरे द्वार पर पहुंचे। उस द्वार पर तलवारें लप-लपा रही थीं, सुतीक्ष्ण भाले चमचमा रहे थे, भयानक शस्त्र और अस्त्र द्वार पर टांक रखे थे। जम्बू ने सोचा—यदि मैं इस द्वार में होकर जाऊँगा तो किसी भी शस्त्र और अस्त्र से मेरे प्राण संकट में पड़ सकते हैं।[16] अतः रथ को वापस मोड़ा और आर्य सुधर्मा के पास पहुंचकर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने की प्रतिज्ञा ली। वहाँ से वे अपने घर पहुंचे। माता-पिता को नमस्कार कर निवेदन किया कि मैं संयम ग्रहण करना चाहता हूँ। अतः आप आज्ञा प्रदान करें।

ज्यों ही यह बात माता-पिता ने सुनी उनका मुख म्लान हो गया क्योंकि जम्बू उनका इकलौता पुत्र था। वही उनके नयनों का सितारा, हृदय का हार और कुल का जगमगाता दीप था। अप्सरा सी सुन्दर आठ कन्याओं के साथ उसका सम्बन्ध पहले ही निश्चित हो चुका था। वे विवाह के बाद पुत्र को सुखी देखना चाहते थे। अतः उन्होंने मोह से मुग्ध बनकर कहा—

---

१५. उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, जम्बूचर्यम् १८३, पत्र १३६।

१६. गच्छतो मेऽध्वनानेन शिलोपरि पतेद्यदि।

तदस्मि नाहं न रथो न रथ्या न च सारथिः ॥१०७॥

—परिशिष्ट पर्व, सर्ग २

वत्स ! तुम हमारे आधार हो। वृद्धावस्था में आलम्बन रूप हो। हमने तुम्हारा विवाह कर पौत्र-दर्शन की कमनीय कल्पनाएं की हैं। तुम हमारी इच्छाओं को पूर्ण करो और बधुओं के साथ आनन्द से क्रीड़ा करो। उन्होंने विविध प्रकार के प्रलोभन प्रदान किये पर वे प्रलोभन जम्बू के अन्तर्मानस को मुग्ध नहीं बना सके। क्योंकि उसके अन्तर्मानस में वैराग्य की लौ प्रदीप्त थी। माता-पिता ने अन्त में कहा—वत्स ! हम तुम्हारे मार्ग में अवरोधक नहीं बनेंगे, पर तुम्हें पता है कि हम आठ कन्याओं के माता-पिताओं को वचन दे चुके हैं। यदि तुमने उन कन्याओं के साथ पाणिग्रहण नहीं किया तो हमारा वचन भंग होगा। तुम बहुत ही आज्ञाकारी पुत्र हो। आठ कन्याओं के साथ पाणिग्रहण करने के पश्चात, तुम्हारी इच्छा हो तो, उनकी अनुमति लेकर प्रव्रज्या ग्रहण करना। माता-पिता की बात को टालना भी सम्भव नहीं था, इसलिये जम्बू ने कहा—यदि आप चाहें तो मैं विवाह कर सकता हूं किन्तु मैंने सुधर्मा स्वामी से ब्रह्मचर्य व्रत ले रखा है। आप यह सूचना कन्याओं को और उनके अभिभावकों को दे दीजियेगा। जम्बू के दृढ़-संकल्प की सूचनाएं दी गई। कन्याओं के अभिभावकगण सोचने लगे किन्तु कन्याओं ने दृढ़ता-पूर्वक स्पष्ट शब्दों में कहा—आप हमें, जम्बूकुमार को दे चुके हैं। आर्यबाला मन से जिसको एक बार वरण कर चुकी हो, वह जीवन भर उसी की बन कर रहती है।[17] अब हमारे प्राण जम्बूकुमार के हाथ में ही हैं। अभिभावकों ने सोचा कि हमारी कन्याएं जम्बूकुमार के मानस को बदल सकेंगी इसलिए विवाह की तैयारियां प्रारम्भ हो गई। उल्लास के क्षणों में जम्बू का विवाह संस्कार सम्पन्न हुआ। दहेज के रूप में निन्यानवे करोड़ की विराट सम्पत्ति कन्याओं के अभिभावकों द्वारा दी गई। किन्तु जम्बू का मन उस खुशी के वातावरण में भी पूर्ण विरक्त था।

रात्रि के गहन अन्धकार में जब सभी व्यक्ति सोये हुए थे, जम्बू उस समय आठों पत्नियों के बीच में बैठा हुआ त्याग और वैराग्य की बात कर रहा था। जम्बूकुमार की आठों पत्नियाँ जम्बूकुमार के मन में राग भावना उत्पन्न करने के लिये हाव-भाव और कटाक्ष के साथ अपने प्रयास कर रही थीं और उनके तर्कों को जम्बू निरस्त कर रहे थे। कामिनियों के काम-बाण जम्बू को पराजित नहीं कर सके। वनिताओं का विकार-भाव चतुर चोर

---

१७. परिशिष्ट पर्व, सर्ग २, श्लोक १२८।

की तरह उनके चित्त को चुरा नहीं सका।[18] जम्बूकुमार के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए वचनों ने रमणियों के दिल को परिवर्तित कर दिया। वे भी जम्बूकुमार के साथ दीक्षित होने के लिये तैयार हो गई। वैराग्य भावना की लहर ने वातावरण को परिवर्तित कर दिया। जम्बूकुमार के माता-पिता और आठों पत्नियों के माता-पिता भी दीक्षा के लिये तैयार हो गए। तस्कर-राज प्रभव जो पांच सौ तस्करों के साथ जम्बूकुमार के वहाँ चोरी करने आया था, वह भी प्रबुद्ध हुआ और वह भी दीक्षा के लिए तैयार हो गया। इस प्रकार पांच सौ सत्ताइस व्यक्तियों ने एक साथ दीक्षा ग्रहण की। वीर निर्वाण वर्ष १ में आर्य सुधर्मा को इतने विशाल परिवार के साथ जम्बू जैसा योग्य शिष्य मिला।

आगम की रचना जम्बू के प्रिय सम्बोधन से प्रारम्भ हुई है। "**सुयं मे आयुसं ! तेणं भगवया एवमक्खाय**"[19] इस वाक्य से आगम साहित्य का प्रारम्भ होता है। जम्बू कुशाग्र बुद्धि के धनी थे। उन्होंने आर्य सुधर्मा के ज्ञान-सिन्धु का अगस्त्य ऋषि की भांति पान किया था। वीर निर्वाण पूर्व १६ में उनका जन्म हुआ था। वीर निर्वाण १ में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। वीर निर्वाण १२ में सुधर्मा स्वामी को केवलज्ञान होने के पश्चात उनके पट्ट पर आसीन हुए। आठ वर्ष तक संघ का नेतृत्व कर वीर निर्वाण २० में उन्हें केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। वीर निर्वाण ६४ में अस्सी वर्ष की आयु पूर्ण कर मथुरा में निर्वाण प्राप्त किया। जम्बू स्वामी के मोक्ष पधारने के पश्चात निम्न दस बातें विच्छिन्न हो गई—[20]

१. मनःपर्यवज्ञान
२. परमावधिज्ञान
३. पुलाक लब्धि
४. आहारक शरीर
५. क्षपक श्रेणी
६. उपशम श्रेणी

---

१८. चित्तं न नीतं वनिता विकारैर्वित्तं न नीतं चतुरैश्च चौरैः ॥२॥
—पट्टावली समुच्चय, तपागच्छ पट्टावली, पृष्ठ ४२

१९. स्थानांग १/१।

२०. मण परमोहि पुलाए आहार खवग उवसमेकप्पे।
संजमतिग केवल सिज्झणा य जम्बुम्मि वुच्छिण्णा ॥

७. जिनकल्प

८. संयमत्रिक (परिहारविशुद्धि चारित्र, सूक्ष्मसम्पराय चारित्र, यथाख्यात चारित्र)

९. केवलज्ञान

१०. सिद्ध पद

जम्बू महान आचार्य थे। उनके समय में श्रमण संघ में किसी भी प्रकार का भेद पैदा नहीं हुआ था। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ उनके प्रति अनन्य आस्था व्यक्त करती हैं। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व बड़ा ही अद्‌भुत और अनूठा था।

□□

श्रुतकेवली आचार्य

आर्य प्रभव स्वामी

आर्य प्रभव विन्ध्याचल के समीपवर्ती जयपुर के निवासी थे। उनके पिता का नाम राजा विन्ध्य था। वीर निर्वाण ३० वर्ष पूर्व (विक्रम पूर्व ५००) में उनका जन्म हुआ। उनका बाल्यकाल राजमहलों में बीता। एक दिन पिता से मतभेद होने से वह चोरों की पल्ली में पहुंच गया। वह शेर की भाँति निर्भीक होकर विंध्य पर्वत की घाटियों में घूमता और लोगों को लूटता। वह पांच सौ तस्करों का नेता था। उसके पास अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी ये दो विद्याएँ थीं। अवस्वापिनी विद्या के द्वारा वह सभी व्यक्तियों को निद्राधीन कर देता था और तालोद्घाटिनी विद्या के द्वारा तालों को खोल देता था। इन विद्याओं के कारण उसका प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया था। जिससे सम्राट कौणिक का सैन्य दल भी कांपता था। जिस दिन श्रेष्ठी-पुत्र जम्बूकुमार का पाणिग्रहण हुआ था, उस दिन वैभव को लूटने के लिये वह पांच सौ साथियों के साथ जम्बूकुमार के निवास पर पहुँचा था। उसने अपनी विद्या से सभी को सुलाकर तालोद्घाटिनी विद्या से ताले तोड़ दिये थे[1] और भूखे भेड़ियों की तरह वे सभी तस्कर धन पर टूट पड़े। वे धन को इकट्ठा कर गठड़ी बांध रहे थे पर उनके हाथ गाँठों पर चिपक गये और पैर धरती से।

---

१. ओसोयणि विज्जाए, सोयाविऊण जणमसेसंपि।
सो जाइ जंबुनामस्स, मंदिरे मेरुसिहरेव्व ॥१३॥

तालुग्घाडिणी विज्जाए तालयाइं विहाडिऊण लहुं।
विवरिय सव्व दुवारे पविसइ निवमंदिरव्व तहिं ॥१४॥

—उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक १३७

सभी भित्तिचित्र की भाँति स्तंभित रह गए[2]। प्रभव ने सभी साथियों को शीघ्र वहां से प्रस्थित होने के लिये संकेत दिया, पर किसी का पैर हिल नहीं रहा था। वे प्रस्तर-प्रतिमा की तरह खड़े थे। उस शान्त वातावरण में उनके कर्ण-कुहरों में शब्द लहरियां टकराईं। प्रभव सोचने लगा, ये शब्द कहां से आ रहे हैं ? क्या मेरी विद्या का असर उस व्यक्ति पर नहीं हुआ है जिसके शब्द मेरे कानों से टकरा रहे हैं। लगता है, वह मेरे से अधिक शक्तिशाली है। जरा देखूं, ये शब्द लहरियां कहां से आ रही हैं ? उसने मेरे तस्कर दल पर स्तंभिनी विद्या का प्रयोग भी किया है। उसकी चंचल दृष्टि एक क्षण में उस भव्य भवन के उस गवाक्ष पर जा अटकी जहां से दीपक की झिल-मिल ज्योति आ रही थी। वह वहां पर पहुंच गया। उसने देखा—एक युवक अप्सराओं से घिरा हुआ है। भोग के स्थान पर योग की चर्चा चल रही है। वह उससे बहुत ही प्रभावित हुआ और जम्बू के पास पहुंच गया। उसने जम्बू से कहा—मैं तस्करराज प्रभव हूं। मैं आपसे मित्रता करने आया हूं। आप मेरे से अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी विद्याएं ग्रहण कीजिए और मुझे स्तंभिनी और विमोचिनी विद्या प्रदान कीजिये[3]।

जम्बूकुमार ने मुस्कराते हुए कहा—मैं विद्याओं को लेकर क्या करूंगा ? मेरे पास ऐसी कोई भौतिक विद्याएं नहीं है। मैं आध्यात्मिक विद्याओं में विश्वास करता हूं। मैं प्रातः होते ही यह विराट वैभव तथा पत्नियों को छोड़कर संयम स्वीकार करूंगा। प्रभव को जम्बू की बात पर विश्वास नहीं हो रहा था। उसने कहा—लक्ष्मी तुम्हारी दासी है। रूप की धनी ये बालाएं तुम्हारे साथ मुक्त भाव से जीवनयापन करना चाहती हैं। इन्हें निराधार छोड़कर तुम साधना के पथ को क्यों स्वीकार करना चाहते हो ? पितृ ऋण से मुक्त होने के लिये सन्तति का होना आवश्यक है। उत्तर में जम्बूकुमार ने विषय-भोगों की निस्सारता का प्रतिपादन किया और मधु-बिन्दु के दृष्टान्त से संसार के सही स्वरूप का प्रतिपादन किया और यह भी बताया कि पुत्र आदि त्राता नहीं हैं, सत्कर्म ही सच्चा त्राता है। जम्बू के प्रेरणाप्रद वचनों से प्रभव का ज्ञान-दीप प्रज्वलित हो हो उठा। वह स्वयं संयम-साधना को ग्रहण करने के लिए तत्पर हो उठे। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार प्रभव और ५०० तस्करों की दीक्षा जम्बू की

---

२. परिशिष्ट पर्व, सर्ग २, श्लोक १७६।

३. परिशिष्ट पर्व, सर्ग २, श्लोक १८२।

दीक्षा के एक दिन बाद हुई। आर्य जम्बू दीक्षा में ज्येष्ठ थे तो प्रभव दीक्षा की दृष्टि से कनिष्ठ और उम्र की दृष्टि से ज्येष्ठ थे। प्रभव ने वीर निर्वाण १ (विक्रम पूर्व ४६९) में सुधर्मा के पास तीस वर्ष की उम्र में दीक्षा ग्रहण की। जम्बू स्वामी के बाद वीर निर्वाण ७५ (विक्रम पूर्व ३९५) में समाधि-पूर्वक संथारा कर स्वर्गस्थ हुए। केवलज्ञान और केवलदर्शन जम्बू स्वामी के मोक्ष-गमन के बाद विच्छिन्न हो चुका था। प्रभव स्वामी श्रुतकेवली थे। उन्हें द्वादशांगी की उपलब्धि जम्बू स्वामी से हुई थी या सुधर्मा स्वामी से, इसका कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं आता।

आर्य सय्यम्भव (शय्यंभव)

आर्य सय्यम्भव प्रारंभ में एक अहंकारी विद्वान थे। उन्हें यह अभिमान था कि मेरे जैसा वेद-वेदांग-दर्शन का ज्ञाता इस विश्व में अन्य नहीं है। वे जैन दर्शन के कट्टर विरोधी थे। जैन धर्म के नाम से ही उनकी आंखों से अंगारे बरसते थे। वे राजगृह के निवासी वत्स गोत्रीय ब्राह्मण थे। उनका जन्म वीर निर्वाण ३६ (विक्रम पूर्व ४३४) में हुआ था। वीर निर्वाण ६४ में वे आर्य प्रभव के सम्पर्क में आये। आर्य सय्यम्भव को आर्य प्रभव के सन्निकट लाने का कार्य दो मुनियों ने किया था। प्रसंग इस प्रकार है—आर्य प्रभव ६४ वर्ष की उम्र में आचार्य पद पद आसीन हुए थे। एक बार पश्चिम यामिनी में उनके अन्तर्मानस में यह विचार उद्बुद्ध हुए कि मेरे पश्चात संघ का महान उत्तरदायित्व कौन वहन करेगा? उन्होंने श्रमण संघ, श्रावक संघ और जैन संघ का अवलोकन किया पर कोई भी ऐसा व्यक्ति दृग्-गोचर नहीं हुआ जो उस भार को वहन करने में पूर्ण सक्षम हो। उनका ध्यान वेदविज्ञ सय्यम्भव पर केन्द्रित हुआ[4]। सय्यम्भव आचार्य पद के लिए सर्वथा योग्य तो थे पर जैन धर्म के वे प्रबल विरोधी थे। जैन धर्म के नाम से ही सय्यम्भव को घृणा थी। पर आर्य प्रभव के आदेश को शिरोधार्य कर युगल श्रमण सय्यम्भव के यक्षवाट में गए और उन्होंने कहा—**अहो कष्टमहो कष्टं तत्त्वं विज्ञायते न हि**—अहो! खेद की बात है, तत्त्व नहीं जाना जा रहा है।

सय्यम्भव के कर्ण-कुहरों में गिरा कि तू तत्त्व नहीं जानता। वह सोचने लगा—ये उपशान्त तपस्वी झूठ बोलते नहीं हैं[5]। वह हाथ में चमचमाती हुई

---

४. दशवैकालिक, हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र १०।

५. दशवैकालिक, हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र १०-११।

तलवार लेकर अपने गुरु के पास पहुंचे और बोले—मुझे यथार्थ तत्त्व बताओ। यदि नहीं बताया तो मैं इस तीक्ष्ण तलवार के एक ही वार से तुम्हारा सर धड़ से अलग कर दूंगा। गुरु ने कांपते हुए कहा—अर्हत् धर्म ही यथार्थ तत्त्व है। सय्यम्भव अभिमानी होने के साथ जिज्ञासु भी थे। वे श्रमणों की अन्वेषणा करते हुए आर्य प्रभव के पास पहुंचे। प्रभव ने अध्यात्म की विशद् व्याख्या की। सय्यंभव ने आचार्य प्रभव के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। वीर निर्वाण ७५ (वि. पू. ३९५) में आचार्य पद पर अलंकृत हुए। जब सय्यम्भव दीक्षित हुए थे तब उनकी नवयुवती पत्नी गर्भवती थी[६]। ब्राह्मण वर्ग परस्पर चर्चा करने लगा कि सय्यम्भव भट्ट बहुत ही निष्ठुर व्यक्ति निकला जो अपनी युवती पत्नी को त्यागकर साधु बना। नारी के लिए पति के अभाव में पुत्र आलम्बन होता है पर वह आलम्बन भी इसके नहीं है[७]। अब यह अपने जीवन का यापन कैसे करेगी? महिलाएँ उससे पूछतीं—क्या पुत्र की संभावना है? वह संकोच से कहती—'**मणय**', हाँ कुछ संभावना है। सभी को इस उत्तर से सन्तोष हुआ। जब पुत्र हुआ तो उसका नाम मनक रखा गया। उसका अत्यन्त स्नेह के साथ पालन किया। बालक आठ वर्ष का हुआ। उसने अपनी माँ से पूछा—माँ! मेरे पिता का नाम क्या है? पुत्र की जिज्ञासा का समाधान करते हुए उसने सय्यम्भव की सारी घटना सुना दी। तेरे पिता जैन संघ के आचार्य हैं और वे इस समय चम्पा में हैं। मां की अनुमति लेकर वह पिता के पास पहुंचा। सय्यम्भव ने सदृश आकृति देखकर समझ लिया कि यह मेरा ही आत्मज है। उसे उपदेश दिया। वह मुनि बना। आचार्य सय्यम्भव हस्त-रेखा विशेषज्ञ थे। उन्होंने अपने पुत्र की रेखाएँ देखीं। उन्हें ज्ञात हो गया कि बालक बहुत ही अल्पायुष्क है। यह पूर्ण रूप से शास्त्रों का अध्ययन नहीं कर सकेगा[८]। अतः अपने

---

६. दशवैकालिक, हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र ११।

७. अहो शय्यम्भवो भट्टो निष्ठुरेभ्योऽपि निष्ठुरः।
स्वां प्रियां यौवनवतीं सुशीलामपि योऽत्यजत् ॥५७॥
—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५

८. एवं च चिन्तयामास शय्यम्भव महामुनिः।
अत्यल्पायुरयं बालो भावी श्रुतधरः कथम् ॥८२॥
—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५

पुत्र मनक के लिये आत्मप्रवाद पूर्व से दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया[९]। वीर निर्वाण ८० के पश्चात इस आगम की रचना हुई। इस आगम में दस अध्ययन हैं, जिनमें श्रमणाचार का निरूपण है। छः मास पूर्ण हुए, मुनि मनक का स्वर्गवास हो गया। स्वर्गवास होने पर पुत्र-स्नेह से आर्य सय्यम्भव की आँखें कुछ आर्द्र हो गई। उनके प्रधान शिष्य यशोभद्र आदि ने उसका कारण जानना चाहा[१०]। आचार्य ने सहज रूप से बताया कि मनक मेरा संसारपक्षीय पुत्र था। उसके मोह ने मुझे एक क्षण के लिये विह्वल कर दिया। यशोभद्र आदि ने कहा—भगवन्! आप हमें पहले ही बता देते तो हम उसकी अच्छी तरह परिचर्या करते। हम उसकी सेवा से वंचित रहे। आर्य सय्यम्भव ने कहा—मैंने इस रहस्य को इसीलिए उद्घाटित नहीं किया कि सुविधाओं की अधिकता से कहीं उसकी साधना शिथिल न बन जाय।

आर्य सय्यम्भव चतुर्दश पूर्वधर थे। सर्वप्रथम पूर्वों से सूत्र का निर्यूहण उन्होंने किया। उन्होंने अट्ठाईस वर्ष की उम्र में श्रमण धर्म स्वीकार किया था और उनचालीस वर्ष की उम्र में वे आचार्य पद पर आरूढ़ हुए। तेईस वर्ष तक वे युगप्रधान आचार्य रहे। बासठ वर्ष की अवस्था में वे वीर निर्वाण ९८ (विक्रम पूर्व ३७२) में स्वर्गवासी हुए।

उन्होंने अपने पद पर आर्य यशोभद्र को नियुक्त किया।

आर्य यशोभद्र

आर्य यशोभद्र आर्य सय्यम्भव के प्रधान शिष्य थे। वीर निर्वाण ६२ में (विक्रम पूर्व ४०८) उनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ। वे तुंगिकायन गोत्रीय थे। बाईस वर्ष की युवावस्था में उन्होंने आर्य सय्यम्भव के पास प्रव्रज्या ग्रहण की थी। १४ पूर्वों की विशाल ज्ञान-राशि ग्रहण की और ३६ वर्ष की अवस्था में वीर निर्वाण ९८ (विक्रम पूर्व ३७२) में वे आचार्य बने। आर्य सम्भूतविजय और आर्य भद्रबाहु जैसे महान प्रतिभासम्पन्न सन्त उन्हें शिष्य के रूप में प्राप्त हुए थे। आर्य सय्यम्भव तक एक आचार्य परम्परा थी। आर्य यशोभद्र ने सम्भूतविजय और भद्रबाहु इन दोनों को

---

९. अपश्चिमो दशपूर्वी श्रुतसारं समुद्धरेत।
चतुर्दश पूर्वधरः पुनः केनापि हेतुना॥
—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५, श्लोक ८३

१०. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ३७१।

अपना उत्तरदायित्व प्रदान किया[11]। दोनों ही चौदह पूर्वधर थे[12]। यशोभद्र पचास वर्ष तक युगप्रधान आचार्य पद पर रहे। इनके आचार्य काल में श्रमण संघ में किसी भी प्रकार का उतार-चढ़ाव नहीं आया। ८६ वर्ष की अवस्था में वीर निर्वाण १४८ में (विक्रम पूर्व ३२२ में) इनका स्वर्गवास हुआ।[13]

आर्य सम्भूतविजय

सम्भूतविजय भगवान महावीर के छठे पट्टधर थे और श्रुतकेवली परम्परा में चतुर्थ श्रुत केवली थे। उन्होंने ४२ वर्ष की अवस्था में आर्य यशोभद्र के पास दीक्षा ग्रहण की थी। उनका जन्म वीर निर्वाण ६६ (विक्रम पूर्व ४०४) में हुआ था तथा उन्होंने दीक्षा वीर निर्वाण १०८ (विक्रम पूर्व ३६२) में ग्रहण की। आर्य सम्भूतविजय का शिष्य परिवार बहुत ही विशाल था। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार उनके प्रमुख बारह शिष्य थे। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. नन्दनभद्र २. उपनन्दनभद्र ३. तिष्यभद्र ४. यशोभद्र ५. स्थविर सुमनभद्र ६. मणिभद्र ७. पुण्यभद्र ८. स्थूलभद्र ९. ऋजुमति १०. जम्बू ११. दीर्घभद्र १२. पाण्डुभद्र।

आर्य सम्भूतविजय का श्रमण समुदाय ही नहीं, श्रमणी समुदाय भी बहुत ही प्रभावशाली था। महामात्य शकटाल की यक्षा, यक्षदिन्ना, भूता, भूतदिन्ना, सेणा, वेणा व रेणा ये सात पुत्रियां भी सम्भूतविजय के पास दीक्षित हुई थीं[14]। उन्होंने आर्य स्थूलभद्र के पश्चात दीक्षा ग्रहण की थी।

एक बार आर्य सम्भूतविजय के पास चार विशिष्ट श्रमण उपस्थित हुए। एक ने निवेदन किया—भगवन ! मैं कुए के किनारे तप:साधना के साथ वर्षावास करता चाहता हूं। दूसरे श्रमण ने सर्प की बांबी पर वर्षावास करने की अनुमति चाही। तीसरे श्रमण ने सिंह की गुफा पर वर्षावास करने की भावना व्यक्त की और यह भी निवेदन किया कि हम घोर अभिग्रहपूर्वक तप:साधना करते हुए वर्षावास व्यतीत करेंगे। आर्य स्थूलभद्र ने आचार्य से निवेदन किया कि मैं पूर्वपरिचिता कोशा गणिका की चित्रशाला में वर्षावास करना चाहता हूं। चारों अनुमति प्राप्त कर वर्षावास हेतु प्रस्थित हुए। वर्षावास सम्पन्न कर जब तीनों श्रमण लौटे तो आचार्य ने

---

११. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५, श्लोक १०६।

१२. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६, श्लोक ३।

१३. परिशिष्ट पर्व; सर्ग ६।

१४. कल्पसूत्र, २०८।

'दुष्कर क्रिया के साधक !' इस प्रकार कहकर उनका स्वागत किया और जब स्थूलभद्र आए तो स्वयं आचार्य सात-आठ कदम सामने गए और 'महादुष्कर क्रिया के साधक !' सम्बोधन प्रदान कर उनका विशेष सम्मान किया[15]। तीनों तपस्वियों ने सुना तो उनके मन में ये विचार कौंध गए कि क्या अमात्य-पुत्र होने के कारण स्थूलभद्र को इतना सम्मान दिया गया है[16]। जबकि स्थूलभद्र कोशागणिका के वहां षट्‌रस से छलछलाता हुआ भोजन करते रहे हैं। यदि इस प्रकार महा-दुष्कर तप की साधना होती है तो प्रत्येक साधक सरलता से इस प्रकार की साधना कर सकता है। आठ माह का समय व्यतीत हुआ। सिंह गुफा वासी श्रमण ने आर्य सम्भूतविजय से निवेदन किया—भगवन ! मैं आगामी वर्षावास कोशा गणिका की चित्रशाला में करना चाहता हूं। आचार्य ने प्रतिवाद करते हुए कहा—यह महान दुष्कर अभिग्रह है। स्थूलभद्र जैसा महान साधक ही इस अभिग्रह को पूर्ण रूप से निभा सका है। मुनि ने मात्सर्य भाव से उत्तर देते हुए कहा—गुरुदेव ! जिस अभिग्रह को आप दुष्कर समझ रहे हैं, वह मेरे लिए सुकर है। आचार्य ने पुनः कहा—वत्स ! तुम्हारे मन में ईर्ष्या है। तुम इस अभिग्रह में सफल नहीं हो सकोगे। तुम्हारी आज दिन तक की साधना भी भ्रष्ट हो जायेगी। दुर्बल कन्धे अतिभार को वहन करने में सक्षम नहीं होते। इतना कहकर आचार्य मौन हो गए। वह ईर्ष्या-नागिन से डसा हुआ मुनि गुरु आज्ञा की अवहेलना कर कोशा गणिका की चित्रशाला में पहुंचा और उससे चित्रशाला में रहने की अनुमति मांगी।

कोशा प्रबल प्रतिभासम्पन्न गणिका थी। उसने मन ही मन समझ लिया कि स्थूलभद्र मुनि से ईर्ष्यालु बनकर ये मुनि यहां आए हैं। उसने चित्रशाला में रहने की अनुमति दी। षट्‌रस भोजन और कमलनयनी कोशा की अनुपम रूप-सम्पदा ने मुनि को विचलित किया। उसने कोशा से काम की याचना की। कोशा स्वयं संयमनिष्ठ थी। वह पहले ही स्थूलभद्र से प्रतिबोध पा चुकी थी। राजा के आदेश के अतिरिक्त किसी भी पुरुष से शरीर-सम्बन्ध स्थापित नहीं करूंगी, यह नियम उसने ग्रहण कर रखा था। तथापि मुनि को प्रतिबोध देने के लिये कहा—मैं गणिका हूं। गणिका अर्थ

---

१५ उपदेशमाला, विशेष वृत्ति ६६, पृष्ठ २३८।

१६ परिशिष्ट पर्व, सर्ग ८, श्लोक १३७।

की दासी होती है। जो अधिक द्रव्य प्रदान करता है, वह उसे समर्पित हो जाती है।

सिंह गुफा वासी मुनि ने कहा—मैं तो अकिंचन हूं। तुम एक बार मेरी कामना पूर्ण करो।

कोशा ने कहा—मुनि प्रवर ! मैं आपको उपाय बताती हूं कि नेपाल नरेश के पास जो भी नये मुनि जाते हैं, उन्हें वे रत्नकम्बल प्रदान करते हैं। यदि आप रत्नकम्बल ला सकें तो मैं फिर उस विषय पर चिन्तन करूंगी[17]।

कामासक्त मुनि वर्षावास में ही रत्नकम्बल लेने के लिये चल दिए। उन्हें मार्ग में अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। भूखे-प्यासे विशाल पर्वत-मालाओं को लांघते हुए तथा विराटकाय नदियों को पार करते हुए वे नेपाल पहुंचे। राजा से कम्बल प्राप्त कर वे पुनः लौट रहे थे कि मार्ग में चोरों का दल मिला। चोरों के सरदार द्वारा प्रशिक्षित एक पक्षी ने कहा—**आयाति लक्षम्**—लक्ष मुद्राओं का द्रव्य आ रहा है। सरदार ने वृक्ष पर बैठे हुए चोर से पूछा—कौन आ रहा है? चोर ने कहा—**आगच्छन् भिक्षुरेकोऽस्ति न कश्चित्तादृशोऽपरः**—एक भिक्षु के अतिरिक्त अन्य कोई दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। चोर सरदार ने कहा—उस भिक्षु को लूट लो। चोरों ने वैसा ही किया पर भिक्षु के पास कुछ भी तो नहीं था। चोरों ने मुनि को आगे बढ़ने की अनुमति दे दी तो पुनः पक्षी बोला—**एतल्लक्षं प्रयाति**। पक्षी का संकेत पाकर पुनः चोरों ने भिक्षु को घेर लिया और पूछा **सत्यं ब्रूहि किमस्ति ते**—भिक्षु ! सत्य कहो, तुम्हारे पास क्या है? भिक्षु ने थरथर कांपते हुए कहा—इस बांस की लकड़ी में रत्नकम्बल है। मगध-गणिका कोशा को प्रसन्न करने के लिये मैं नेपाल सम्राट से याचना कर यह कम्बल लेकर आया हूं। तस्करराज ने भिक्षु की दयनीय स्थिति देखकर रत्न कम्बल का अपहरण नहीं किया। मुनि प्रसन्नता से झूमता हुआ कोशा के पास पहुंचा। कोशा के चरणों में रत्नकम्बल रखकर मुनि ने पुनः याचना की। कोशा ने रत्नकम्बल से अपने पैरों को पोंछा और उस कम्बल को गन्दी नाली में फेंक दिया। मुनि यह देखकर चौंका। उसने कहा—मैं कितने श्रम से इस कम्बल को लाया था पर तुमने इसका मूल्य नहीं आंका। तपाक से कोशा ने कहा—इस सामान्य कम्बल की इतनी चिन्ता है

---

१७ नेवालजणवए जह, राया पुव्वस्स साहुणो देइ।
कंबलरयणं सयसहस्समोल्लमेसो तहिं जाइ॥
—उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ. २३८, श्लोक ८१

आपको; किन्तु संयम-रत्न-कम्बल खोने की आपको चिन्ता नहीं है। कोशा के वचन-तीर मुनि के हृदय को बींध गए। वे कोशा के चरणों में गिर पड़े और बोले—मैं संयम को भूलकर वासना के प्रवाह में बह गया। मैं अब गुरु के पास जाकर अपने कृतपाप की आलोचना कर पुनः शुद्ध बनूंगा। कोशा ने ने कहा—मैंने आपको संयम में सुस्थिर करने के लिए ही यह उपक्रम किया था।

आर्य सम्भूतविजय के काल में हुई इतिहास की यह घटना भूले-भटके जीवन राहियों के लिये मार्गदर्शन है। आचार्य सम्भूतविजय के समय ही स्थूलभद्र के लघुभ्राता श्रीयक ने भी दीक्षा ग्रहण की थी। श्रीयक मुनि ने स्थूलभद्र मुनि के दीक्षा लेने के सात वर्ष बाद प्रव्रज्या ली थी। वे बहुत ही सुकुमार थे। क्षुधा-वेदना उन्हें सहन नहीं होती थी। ज्येष्ठ भगिनी की प्रेरणा से पर्युषण के पुण्य-पलों में एक प्रहर, अर्द्ध दिन और अपार्द्ध दिन भोजन न करने का नियम ग्रहण किया। दिन का अधिकांश भाग कट गया पर रात्रि निकट थी अतः बहन ने कहा—रात्रि तो नींद में ही चली जायगी। तप:प्रधान पर्युषण चल रहे हैं अतः उपवास कर लो। उन्होंने तप स्वीकार किया पर क्षुधा का भयंकर कष्ट सहन न हो सका, स्वर्गवासी बन गये। साध्वी यक्षा को तीव्र आघात लगा और अन्न आदि का त्याग कर दिया। संघ की सामूहिक साधना से शासन देवी प्रकट हुई। वह महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी के पास साध्वी यक्षा को ले गई। सीमंधर स्वामी ने कहा—तुम दोषी नहीं हो। साध्वी यक्षा को सन्तोष हुआ और चार चूलिकाएं सीमंधर स्वामी से प्राप्त कर दो चूलिकाएँ दशवैकालिक सूत्र पर तथा दो चूलिकाएं आचारांग पर प्रस्थापित की। इन चूलिकाओं में श्रमणाचार का महत्त्व उजागर हुआ है। आर्य स्थूलभद्र जब दशपूर्व का अध्ययन सम्पन्न कर पाटलिपुत्र आए तब साध्वी यक्षा आदि उनके दर्शनार्थ उपस्थित हुईं तब उन्होंने मुनि श्रीयक के स्वर्गवास की घटना सुनाई। मुनि श्रीयक के स्वर्गवास सम्बन्धी संवत् का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है तथापि यह अनुमान से कहा जा सकता है कि यह घटना आर्य सम्भूतविजय के शासन काल में हुई होगी।

आर्य सम्भूतविजय श्रुतकेवली की दृष्टि से चतुर्थ थे। वे बयालीस वर्ष की अवस्था में श्रमण बने और बयासी वर्ष की आयु में आचार्य बने और आठ वर्ष तक शासन की ज्योति को प्रदीप्त कर ९० वर्ष की आयु में वीर निर्वाण १५६ (विक्रम पूर्व ३१४) में स्वर्गवासी बने।

आर्य भद्रबाहु

आर्य भद्रबाहु आर्य यशोभद्र के तेजस्वी शिष्य थे। उनका जन्म

वीर निर्वाण ९४ (विक्रम पूर्व ३७६) में हुआ था। पैंतालीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने संयम ग्रहण किया बासठ वर्ष की अवस्था में वीर निर्वाण १५६ (विक्रम पूर्व ३१४) में वे आचार्य पद पर आसीन हुए। आपका जन्म प्रतिष्ठानपुर में हुआ था।

आप जैन संस्कृति के ज्योतिर्धर आचार्य थे। जैन साहित्य सर्जना के आप आदि पुरुष हैं। आगम व्याख्याता, इतिहासकार और साहित्य सर्जक के रूप में आपका नाम प्रथम है। आर्य प्रभव से प्रारम्भ होने वाली श्रुतकेवली परम्परा में भद्रबाहु पंचम श्रुतकेवली हैं। चतुर्दश पूर्वधर हैं। इनके पश्चात कोई भी श्रमण चतुर्दश पूर्वधर नहीं हुआ। दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार,[18] कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति आदि दस निर्युक्तियां आपके द्वारा रचित मानी जाती हैं। कितने ही विज्ञ निर्युक्तियों की रचना द्वितीय भद्रबाहु की मानते हैं। उवसग्गहर स्तोत्र आपकी रचना है[19]।

वीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी के मध्य भयंकर दुष्काल का सामना जैन शासन को करना पड़ा। भिक्षा के अभाव में अनेक श्रुत-सम्पन्न-श्रमण काल-कवलित हो गये। भद्रबाहु के अतिरिक्त कोई भी श्रमण उस समय चौदह पूर्व का ज्ञाता नहीं था। भद्रबाहु नेपाल की पहाड़ियों में महाप्राण ध्यान की साधना में संलग्न थे। संघ को गम्भीर चिन्ता हुई। संघ ने भद्रबाहु को निवेदन किया—आप संघ को दृष्टिवाद का ज्ञान प्रदान करें। भद्रबाहु ने अपनी साधना में विक्षेप समझते हुए संघ की प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया।

तित्थोगालिय[20] ग्रन्थ के अनुसार श्रमणों द्वारा श्रुत प्रदान करने की प्रार्थना करने पर, आचार्य होते हुए भी संघ के दायित्व से उदासीन होकर उन्होंने कहा—श्रमणो ! मेरा आयुष्य कम रह गया है। इतने स्वल्प समय में

---

१८ दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि।

१९ (क) गुर्वावली—मुनि रत्नसूरि।

(ख) कल्पसूत्र कल्पार्थ बोधिनी टीका, पृष्ठ २०८।

२० सो भणति एव भणिए असिट्ठ किलिट्ठएण वयणेणं।
न हु ता अहं समत्थो इण्हि मे वायणं दाउं॥
अप्पट्ठे आउत्तस्स मज्झ किं वायणाए कायव्वं।
एवं च भणिय मेत्ता रोसस्स वसं गया साहू॥

—तित्थोगालिय, श्लोक २८-२९

दृष्टिवाद जैसे क्लिष्ट आगम का अध्ययन कराना कठिन है। मैं अब अपनी आत्म-साधना में लगा हुआ हूं। आचार्य के निराशाजनक उत्तर को सुनकर श्रमण क्षुब्ध हुए, उन्होंने संघीय मर्यादाओं की दृष्टि से पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की कि संघ की प्रार्थना अस्वीकार करने पर आपको क्या प्रायश्चित्त आएगा? आवश्यकचूर्णि के अनुसार श्रमणों ने अपनी ओर से नया प्रश्न उपस्थित नहीं किया। उन्होंने पुनः लौटकर आचार्य भद्रबाहु की बात संघ के सामने प्रस्तुत की जिससे संघ का क्षोभ हुआ। किन्तु दृष्टिवाद की वाचना भद्रबाहु के अतिरिक्त कोई भी देने में सक्षम नहीं था। अतः श्रमणों को प्रशिक्षण देकर आचार्य भद्रबाहु के पास भेजा गया। श्रमणों ने विनम्र शब्दों में भद्रबाहु से निवेदन किया कि संघ की आज्ञा को अस्वीकृत करने पर किस प्रकार का प्रायश्चित्त दिया जाय? प्रश्न सुनकर आचार्य गंभीर हुए। उन्होंने कहा—आगम वाचना प्रदान करने के लिए जो आचार्य स्वीकृति नहीं देता है, वह संघ का अपमान करता है, वह श्रुत-निह्नव है। इसलिये वह संघ से बहिष्कृत करने योग्य है। संघ द्वारा प्रेषित श्रमणों ने कहा—क्या भगवन्! आप भी इस दंड के योग्य हैं?

भद्रबाहु संभल गए। उन्होंने कहा—मैं संघ की आज्ञा का सम्मान करता हूं। मैं महाप्राण ध्यान साधना में निमग्न हूं। इस साधना से चौदह पूर्व का ज्ञान मुहूर्त मात्र में परावर्तन किया जा सकता है। अभी इसकी सम्पन्नता में कुछ समय लगेगा। अतः मैं साधना को बीच में छोड़कर नहीं आ सकता। संघ प्रतिभासम्पन्न श्रमणों को यहां प्रेषित करे, मैं उन्हें वाचना देने के लिए प्रस्तुत हूं। संघ के आदेश से ५०० श्रमण आचार्य भद्रबाहु के पास दृष्टिवाद की वाचना ग्रहण करने पहुंचे[21]। आचार्य प्रतिदिन सात वाचनाएं प्रदान करते थे। भिक्षाचर्या के समय एक, विकाल बेला में तीन, और प्रतिक्रमण के पश्चात रात्रि में तीन वाचनाएं प्रदान करते थे। दृष्टिवाद का अध्ययन बहुत ही कठिन था तथा उसके लिए समय कम मिल रहा था। मेधावी मुनियों का धैर्य डोल उठा। स्थूलभद्र के अतिरिक्त ४९९ विद्यार्थी श्रमण बिना वाचना लिये ही चल दिए। स्थूलभद्र निष्ठा से उसमें

---

२१. ताभ्यामेत्य तथाख्याते श्री संघोऽपि प्रसादभाक्।
प्राहिणोत्स्थूलभद्रादिसाधुपञ्चशतीं ततः॥

—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९

लगे रहे। वे कभी भी निराश नहीं हुए। आठ वर्ष में उन्होंने आठ पूर्वों का अध्ययन कर लिया[22]।

आठ वर्ष के सुदीर्घकाल में आचार्य भद्रबाहु और स्थूलभद्र के बीच वाचना के अतिरिक्त वार्तालाप का प्रसंग नहीं मिला। भद्रबाहु की साधना सम्पन्न हो रही थी। एक दिन उन्होंने पूछा—भिक्षाचर्या और स्वाध्याय प्रवृत्ति में तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट तो नहीं है? स्थूलभद्र ने नम्र शब्दों में निवेदन किया—भगवन! मैं स्वाध्याय में लगा हुआ हूँ। मेरी जिज्ञासा है कि मैंने आठ वर्षों में कितना अध्ययन किया है और अभी कितना अवशेष है? भद्रबाहु ने कहा—वत्स! तूने एक सरसों के दाने जितना अध्ययन किया है और मेरु जितना अध्ययन शेष है। स्थूलभद्र ने कहा—भगवन्! आपश्री की वृद्धावस्था है, मैं फिर वह विराट ज्ञान राशि कैसे प्राप्त कर सकूँगा? क्योंकि आप अध्यापन का समय बहुत ही कम प्रदान कर रहे हैं। भद्रबाहु ने आश्वासन देते हुए कहा—वत्स! चिन्ता न करो। मेरी साधना अब पूर्ण होने जा रही है। साधना पूर्ण होने के पश्चात मैं तुम्हें पूरा समय दूँगा। आर्य स्थूलभद्र का अध्ययन दस पूर्व का प्रायः सम्पन्न हो चुका था। केवल दो वस्तु अवशेष रहीं। 'तित्थोगोलिय' के अनुसार स्थूलभद्र ने दस-पूर्व का अध्ययन पूर्ण कर लिया था, ग्यारहवें पूर्व का अध्ययन चल रहा था। ध्यान-साधना का काल सम्पन्न हो चुका था, अतः स्थूलभद्र के साथ भद्रबाहु पाटलिपुत्र पधारे। यक्षा आदि साध्वियाँ दर्शनार्थ आईं। स्थूलभद्र ने सिंह का रूप बनाकर अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया जिससे भद्रबाहु ने कहा—वत्स! तुमने शक्ति का प्रदर्शन कर ज्ञान के लिये अपनी अपात्रता प्रकट कर दी है। ज्ञान का अहं विकास में बाधक है। अब तुम अगली वाचना के लिए योग्य नहीं हो। स्थूलभद्र को अपनी भूल पर पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने पुनः-पुनः भद्रबाहु के चरणों में गिरकर क्षमायाचना करते हुए कहा—मैं अब भूल का पुनरावर्तन नहीं करूँगा। किन्तु आचार्य भद्रबाहु ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने पुनः निवेदन किया—भगवन्! पूर्व ज्ञान विच्छिन्न होगा पर मैं उस विच्छिन्नता का निमित्त न बनूँ इसलिए निवेदन कर रहा हूं; नहीं तो आने वाले पीढ़ी कहेगी—स्थूलभद्र के कारण श्रुत सम्पदा विनष्ट हुई है। संघ ने भी आचार्यदेव को

२२. श्री भद्रबाहुपादान्ते स्थूलभद्रो महामतिः।
पूर्वाणामष्टकं वर्षैरपाठीदष्टभिर्भृशम् ॥१७२॥
—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९.

निवेदन किया। तब आचार्य भद्रबाहु ने कहा—मैं स्थूलभद्र को वाचना देना स्थगित कर रहा हूं। उसका कारण यह है कि आर्य स्थूलभद्र जिन्होंने मगध की अद्वितीय सुन्दरी रूपकोशा के प्रेम बन्धन का त्याग किया, अमात्य पद को ठुकराया; इस प्रकार स्थूलभद्र अद्वितीय श्रमण है। इनके समान अन्य कोई प्रतिभासम्पन्न श्रमण नहीं है। इसे भी ज्ञान का अहं हो गया। आने वाले श्रमणों में इतनी गम्भीरता कहाँ होगी? वे मन्द मति होंगे। अतः पात्रता के अभाव में ज्ञान-दान देने से लाभ की संभावना कम है। वाचना को स्थगित करने से स्थूलभद्र को अपने प्रमाद का दण्ड मिलेगा और भविष्य में आने वाले श्रमणों को योग्य मार्गदर्शन भी प्राप्त होगा।

एक बार पुनः स्थूलभद्र मुनि ने आचार्य प्रवर से निवेदन किया—मैं दृढ़ प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं पररूप का निर्माण नहीं करूँगा। अवशिष्ट चार पूर्वों का ज्ञान देकर मेरी हार्दिक इच्छा को पूर्ण करें। आचार्य भद्रबाहु ने स्थूलभद्र के अत्यन्त अनुनय-विनय करने पर चार पूर्वों का ज्ञान इस शर्त पर प्रदान किया कि वह ज्ञान अन्य किसी को न सिखाया जाय। चार पूर्वों का ज्ञान शाब्दिक दृष्टि से दिया गया, अर्थ की दृष्टि से नहीं। प्रस्तुत आगम वाचना का वर्णन 'उपदेशमाला : विशेषवृत्ति', 'आवश्यक चूर्णि', तित्थोगालिय और परिशिष्ट पर्व; इन चार ग्रन्थों में कुछ परिवर्तन के साथ आया है। आचार्य हेमचद्र के अनुसार दो श्रमण श्रुत की वाचना की प्रार्थना करने के लिये लिये नेपाल पहुंचे थे। तित्थोगोलिय और आवश्यकचूर्णि के अनुसार श्रमण संघाटक के जाने का उल्लेख है। पर कितने श्रमण पहुंचे, इसका वर्णन नहीं है। परिशिष्ट पर्व की दृष्टि से ५०० विद्यार्थी श्रमण अध्ययन के लिए नेपाल पहुंचे थे तो तित्थागोलिय के अनुसार जो श्रमण गए थे उनकी संख्या १५०० है। उनमें ५०० विद्यार्थी श्रमण थे और १००० उन श्रमणों की परिचर्या के लिए थे।

दिगम्बर परम्परा के अभिमतानुसार दुष्काल की विकट वेला में भद्रबाहु बारह हजार श्रमणों के साथ उज्जयिनी होते हुए दक्षिण की ओर पधारे। उस समय सम्राट चन्द्रगुप्त ने आचार्य भद्रबाहु के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की थी। यह जैन सम्राट की अन्तिम दीक्षा थी। इसके बाद किसी सम्राट ने जैन दीक्षा नहीं ली।

विज्ञों का अभिमत है कि राजा चन्द्रगुप्त ने द्वितीय भद्रबाहु के पास प्रव्रज्या ग्रहण की थी। जिनका समय वीर निर्वाण की पांचवीं शताब्दी के के पश्चात का है। प्रथम भद्रबाहु चतुर्दशपूर्वी थे। उन्होने छेदसूत्रों की

रचना की थी[23]। प्रथम भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर निर्वाण १७० के लगभग हुआ है। चन्द्रगुप्त मौर्य जो पाटलिपुत्र के राजा थे, वे भद्रबाहु (प्रथम) के पश्चात् हुए हैं। १५० वर्षीय नन्द साम्राज्य का उच्छेद और मौर्य शासन का प्रारम्भ वीर निर्वाण २१० (विक्रम पूर्व २६०) के आस-पास हुआ था। द्वितीय भद्रबाहु के साथ जो चन्द्रगुप्त गया था वह पाटलिपुत्र का नहीं किन्तु अवन्ति का था। चन्द्रगुप्त को दीक्षा प्रदान करने वाले भद्रबाहु के लिये श्रुतकेवली आदि विशेषण प्रयुक्त नहीं हुए हैं। वे निमित्त ज्ञानी थे[24]। श्वेताम्बर साहित्य में उन्हें निमित्तवेत्ता के रूप में चित्रित किया गया है तो दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में उनका चरम निमित्तधर के रूप में उल्लेख हुआ है। चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्नों का जो फलादेश दिया गया है, वह द्वितीय भद्रबाहु से अधिक तर्कसंगत लगता है। वराहमिहिर प्रथम भद्रबाहु के भ्राता न होकर द्वितीय भद्रबाहु के भ्राता थे। चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु ये दोनों दो-दो हुए हैं। नाम-साम्य होने से एक-दूसरे की घटना एक-दूसरे में मिल गई है।

दिगम्बर परम्परा भी प्रथम भद्रबाहु के समय एक अन्य भद्रबाहु का होना मानती है। उनके अभिमतानुसार एक भद्रबाहु महाप्राणायाम की साधना के लिये नेपाल गए थे तो द्वितीय राजा चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण गए थे। पर ऐतिहासिक विज्ञों का अभिमत है कि उस समय दो भद्रबाहु नहीं हुए। यह भी अभिमत है कि भद्रबाहु दुष्काल के समय श्रमण संघ के साथ कुछ समय बंगाल में विराजे। आचार्य हेमचन्द्र ने भी परिशिष्ट पर्व ग्रन्थ में इस तथ्य को उजागर किया है[25]। दुष्काल के समय जब भद्रबाहु बंगाल में थे उस समय उन्होंने छेद-सूत्रों की रचना की। उसके पश्चात

---

२३. वंदामि भद्दबाहुं पाइणं चरिमं सगलसुयनाणि।
सुत्तस्स कारगमिसि दसासुकप्पे य ववहारे॥
—दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति १

२४. आसि उज्जेणीणयरे, आयरियो भद्दबाहुणामेण।
जाणियं सुणिमित्तधरो भणियो संघो णियो तेण॥
—भावसंग्रह, ५३, आचार्य देवसेन

२५. इतश्च तस्मिन् दुष्काले, कराले कालरात्रिवत्।
निर्वाहार्थं साधुसंघस्तीरं नीरनिधेर्ययौ॥
—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ६, श्लोक ५५

महाप्राण ध्यान की साधना के लिये वे नेपाल गए। जब दुष्काल समाप्त हुआ उस समय भी वे नेपाल में ही विराज रहे थे।

श्रुतकेवली भद्रबाहु ने पैंतालीस वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली और ७६ वर्ष की उम्र में वीर निर्वाण १७० में स्वर्ग को प्राप्त हुए[26]। उन्होंने बारह वर्ष तक महाप्राणध्यान की साधना की थी। वे अन्तिम श्रुत-केवली थे।

卐卐

२६. वीर मोक्षाद्वर्षशते सप्तत्यग्रे गते सति।
भद्रबाहुरपि स्वामिर्ययौ स्वर्गं समाधिना॥
—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ९

पूर्वधर प्रभावक आचार्य

आर्य स्थूलभद्र

आर्य स्थूलभद्र जैन जगत के उज्ज्वल नक्षत्र थे। मंगलाचरण के रूप में उनका पुण्य स्मरण किया जाता है जो उनके विशिष्ट व्यक्तित्व और तेजोमय जीवन का पावन प्रतीक है। आचार्य स्थूलभद्र का जन्म गौतम गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में वीर निर्वाण ११६ (विक्रम पूर्व ३५४) में हुआ। उनके पिता का नाम शकटाल था जो राजा नन्द के महामात्य थे और माता का नाम लक्ष्मी था। शकटाल बहुत ही प्रतिभासम्पन्न अमात्य थे। उनकी मन्त्रणा से ही राज्य का सुसंचालन होता था। महामात्य शकटाल के स्थूलभद्र और श्रीयक ये दो पुत्र थे तथा यक्षा, यक्षदिन्ना प्रभृति सात पुत्रियाँ थीं[1] जो तीव्रतम स्मरण शक्ति की धनी थीं। प्रथम पुत्री एक बार में, द्वितीय पुत्री दो बार में इस प्रकार सातवीं पुत्री सातवीं बार में पद्यादि को सुनकर कण्ठस्थ कर लेती और ज्यों का त्यों पुनः सुना भी देती थी[2]। स्थूलभद्र भी अत्यन्त मेधावी थे। उन्हें काम-कला का प्रशिक्षण देने हेतु मंत्री शकटाल ने अनिंद्य सुन्दरी कोशा गणिका के पास प्रेषित किया। किन्तु कोशा के पास पहुंचकर वह पुनः नहीं लौटे। वह कोशा गणिका के अनूप रूप पर मुग्ध हो गये। कनिष्ठ पुत्र श्रीयक में भक्ति की प्रधानता थी किन्तु शकटाल ने कोशा के पास उसे भेजने की भूल नहीं की। वह उसे राजनीति का प्रशिक्षण देने लगा। श्रीयक अपनी प्रतिभा की तेजस्विता से राजा नन्द का अंगरक्षक बन गया।

वररुचि प्रकृष्ट प्रतिभा का धनी था। वह कवि-सम्राट था। अपनी प्रतिष्ठा संस्थापित करने हेतु प्रतिदिन नंद राजा को १०८ श्लोक सुनाता था। एक बार महामात्य शकटाल ने वररुचि के काव्य की प्रशंसा की जिससे वररुचि को प्रतिदिन १०८ स्वर्णमुद्राएं मिलने लगीं। शकटाल सोचने लगा—

---

१. उपदेशमाला गाथा २, ३, पत्र २३४।

२. उपदेशमाला गाथा ४, पत्र २३४।

राजतन्त्र अर्थतन्त्र पर अवलम्बित है। यदि अर्थ की दृष्टि से राजा अशक्त है तो उसका राज्य चिरस्थायी नहीं होता।[3] एक दिन महामात्य शकटाल ने राजा नंद से निवेदन किया कि आप प्रतिदिन वररुचि को १०८ स्वर्ण-मुद्राएँ प्रदान करते हैं। उन मुद्राओं को देने का क्या उद्देश्य है? राजा नन्द ने कहा—तुमने ही तो उसके कवि कर्म की प्रशंसा की थी, यदि हमें ही देना होता तो हम उसे पहले ही दे देते।

महामात्य ने कहा—यह तो आपकी अपार कृपा है जिसके कारण आपने मुझे इतना महत्त्व दिया है। पर वह जो श्लोक आपको सुनाता है, वे श्लोक उसके द्वारा निर्मित नहीं हैं। यदि आपको विश्वास न हो तो मेरी सातों पुत्रियाँ उसी समय वे श्लोक सुना सकती हैं। दूसरे दिन वररुचि ने १०८ श्लोक सुनाए। महामात्य शकटाल की सातों पुत्रियों ने उनका परावर्तन कर दिया जिससे राजा नन्द वररुचि पर कुपित हुआ और स्वर्णमुद्राएँ बन्द कर दीं। वररुचि अत्यधिक क्रुद्ध हुआ। उसने मन ही मन निश्चय किया कि मैं नन्द के राज्य का पतन करूँगा।

वररुचि ने अपना प्रभाव जनमानस पर स्थापित करने हेतु एक युक्ति सोची—वह प्रातः गंगा में कटि पर्यन्त पानी में स्थित होता और गंगा की स्तुति करता। स्तुति समाप्त होने पर गंगा में से एक हाथ ऊपर आता और १०८ स्वर्णमुद्राएँ वररुचि को वह हाथ प्रदान करता। दर्शक इस दृश्य को देखकर चमत्कृत हो उठते और कहते कि वररुचि पर राजा नन्द प्रसन्न नहीं है किन्तु गंगा मैया प्रसन्न है। नन्द ने भी यह बात सुनी और उसने महामात्य शकटाल से कहा—हम अपनी आँखों से यह दृश्य देखना चाहते हैं। महामात्य ने कहा—कल आप अवश्य पधारें जिससे वास्तविक स्थिति का परिज्ञान हो सके। महामात्य शकटाल ने इस रहस्य का पता लगाने के लिये गुप्तचर विभाग को नियुक्त कर दिया। अर्द्ध-रात्रि के समय वररुचि गंगा तट पर आया और जल में कोई वस्तु रखकर चल दिया। उसके जाने के पश्चात गुप्तचर ने जल में जाकर देखा—एक यन्त्र वहाँ रखा हुआ है और उस यन्त्र में १०८ स्वर्णमुद्राएँ रखी हुई हैं। गुप्तचर उन मुद्राओं को लेकर महामात्य के पास पहुंचा और उस रहस्यमयी घटना का सारा भेद उद्घाटित कर दिया। दूसरे दिन महाराजा नन्द हजारों व्यक्तियों के साथ गंगा तट पर पहुंचे। महाराज को देखकर वररुचि को बहुत ही प्रसन्नता हुई। उसने भक्ति-भाव

---

३. उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, गाथा १३, पृष्ठ २३५।

से विभोर होकर गंगा मैया की स्तवना की। स्तुति पूर्ण होने पर उसने पैर से यन्त्र को दबाया। एक हाथ ऊपर उठा किन्तु उस हाथ में स्वर्णमुद्राएँ नहीं थीं। वररुचि लज्जा से सिर झुकाए हुए सोच रहा था कि यह कैसे हो गया? उसी समय महामात्य शकटाल ने कहा—विज्ञवर! यह लीजिए १०८ स्वर्णमुद्राएं जो प्रतिदिन गंगा मैया आपको देती है। विज्ञवर! संसार की आंखों में कुछ समय तक धूल झोंकी जा सकती है किन्तु सदा के लिए नहीं।

गंगाप्रदत्त दान का प्रच्छन्न रहस्य उद्घाटित होते ही वररुचि की सारी प्रतिष्ठा धूल में मिल गई। उसने जितना यश प्राप्त किया था, उससे अधिक अपयश उसे मिला। दूसरी बार अमात्य शकटाल से पराजित होने से वररुचि में प्रतिशोध की भावना प्रबल हो उठी। वह सोचने लगा—मैं ऐसा कोई उपाय करूँ जिससे शकटाल का अस्तित्व ही न रहे।

महामात्य शकटाल के पुत्र श्रीयक का विवाह होने वाला था। अतः शकटाल ने राजा नन्द का विशेष सम्मान करने की दृष्टि से छत्र, चामर और राजा के योग्य श्रेष्ठतम आभूषण गुप्त रूप से तैयार करवाये। वररुचि ने शकटाल की दासी को अपार सम्पत्ति देकर इस रहस्य का पता लगाया तथा बालकों को प्रलोभन देकर कहा कि तुम चौराहों पर और मार्ग में इस प्रकार की उद्घोषणा करो—"महामात्य शकटाल जो कार्य कर रहा है उसे कोई नहीं जानता। शकटाल राजा नन्द को मारकर अपने पुत्र श्रीयक को राज्य देना चाहता है।"[४] बालकों ने यह प्रचार प्रारम्भ कर दिया। झूठ भी सौ बार दोहराने से सत्य प्रतीत होने लगता है। राजा नन्द ने भी जब यह बात सुनी तो एक क्षण सोचा—यह झूठी बात है, पर कई बार सुनने पर वह सोचने लगा कि मैं भूल कर रहा हूं। राजनीति में किसी पर विश्वास करना अपराध माना गया है। उसने अपने गुप्तचर को महामात्य के यहाँ प्रेषित किया। गुप्तचर ने शकटाल के वहाँ जाकर अपनी आंखों से देखा कि राजा के योग्य आभूषण और छत्र चामर आदि रखे हुए हैं। गुप्तचर से यह संवाद सुनकर राजा नन्द कुपित हो उठा। जब शकटाल को राजा के कोप का पता लगा तो महामात्य शकटाल सोचने लगा कि राजा मुझे ही नहीं सम्पूर्ण परिवार को नष्ट कर देगा। अतः उसने अपने पुत्र श्रीयक से कहा—संकट की विकट घड़ी आ चुकी है। परिवार की सुरक्षा के लिये और यश को सुरक्षित रखने के

---

४. एड्डु लोउ न वियाणाइ जं सयडालु करे सइ।
नंदु राउ मारविणु, सिरिओ रज्जि ठवेसइ॥
—उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ. २३६, श्लोक २

लिये मेरे जीवन का बलिदान आवश्यक है और यह कार्य तुम्हें करना होगा। मैं जिस समय राजा के चरणों में नमस्कार करूँ, उस समय तुम तलवार से मेरा सिर अलग कर देना। श्रीयक पिता की बात सुनकर स्तम्भित हो गया। पुत्र की दुर्बलता को ध्यान में रखकर शकटाल ने कहा—वत्स ! मैं जिस समय राजा को नमस्कार करूँगा, उस समय अपने मुँह में तालपुट विष रख लूँगा, जिससे तुम्हें पितृहत्या का पाप नहीं लगेगा। श्रीयक ने पिता की कठोर आज्ञा का पालन किया। राजा नन्द ने कहा—वत्स ! तूने यह क्या किया ? श्रीयक ने निर्भीक स्वर में कहा— यदि मैं यह कार्य नहीं करता तो राजद्रोही बनता।[5]

श्रीयक की राजभक्ति को देखकर नन्द प्रसन्न हुआ। महामात्य शकटाल के परलोक चले जाने से राजा नन्द को भी हार्दिक खिन्नता हुई क्योंकि ऐसा बुद्धिमान महामात्य अन्य मिलना मुश्किल है। नन्द ने श्रीयक से कहा—वत्स यह मंत्री-मुद्रा तुम ग्रहण करो। श्रीयक ने कहा – राजन् ! मेरे ज्येष्ठ भ्राता स्थूलभद्र हैं जो कोशा गणिका के यहाँ गत १२ वर्षों से निवास कर रहे हैं।[6] वे इस पद के योग्य हैं। राजा नन्द ने स्थूलभद्र को सन्देश भेजा। १२ वर्ष के पश्चात् स्थूलभद्र प्रथम बार कोशा गणिका के महल से बाहर निकले और राजा नन्द के सामने उपस्थित हुए। राजा नन्द ने उन्हें महामात्य पद ग्रहण करने के लिये कहा। स्थूलभद्र ने कहा कि मैं चिन्तन कर अपना विचार व्यक्त कर सकूँगा। वे अशोक वाटिका में पहुँचे और सोचने लगे—यह पद सदा राजा से अनुशासित है। मेरे पिता की मृत्यु का कारण भी यह रहा है। अतः मेरे लिए यही श्रेयष्कर है कि मैं श्रमण बन जाऊँ। संयम स्वीकार कर वे राजा नन्द की सभा में पहुंचे। लघुभ्राता श्रीयक ने भी अनुरोध किया कि आप महामात्य पद को ग्रहण करें और श्रमण न बनें किन्तु स्थूलभद्र अपने दृढ़ निश्चय से विचलित नहीं हुए। वे वहां से प्रस्थित हो गये।

महामात्य का पद श्रीयक के बरिष्ठ कन्धों पर आया। वह एक अनुभवी मन्त्री की भांति कार्य करने लगा। स्थूलभद्र मुनि आचार्य सम्भूतविजय के पास पहुंचे। उस समय उनकी उम्र तीस वर्ष की थी। वीर निर्वाण १४६ (विक्रम पूर्व ३२४) में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। आचार्य सम्भूतविजय से आगम साहित्य का अध्ययन किया। कोशा गणिका की चित्रशाला में

---

५. उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, गा. ४३ पृ. २३६।

६. उपदेशमाला विशेष वृत्ति, गाथा ४४, पत्र २३६।

चातुर्मास सम्पन्न कर अपने अद्‌भुत चारित्र-बल का परिचय दिया तथा आचार्य भद्रबाहु से चौदह पूर्व की ज्ञान-राशि प्राप्त की और भद्रबाहु के पश्चात वीर निर्वाण १७० (विक्रम पूर्व ३००) में वे आचार्य पद पर आसीन हुए और अत्यन्त दक्षता के साथ आचार्य पद का वहन किया। आर्य महागिरि एवं सुहस्ती जैसे प्रभावी आचार्य उनके शिष्य थे।[७] स्थूलभद्र बहुत दीर्घजीवी आचार्य थे। मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त का अभ्युदय और मौर्य शासन की स्थापना उनके शासनकाल में हुई थी। महामेधावी चाणक्य को भी उनकी सेवा का अवसर मिला। नन्द साम्राज्य का पतन भी उनके समय में हुआ। तीसरा अव्यक्तवादी निन्हव इन्हीं के समय हुआ। वैभारगिरि पर्वत पर निन्यानवे वर्ष की उम्र में पन्द्रह दिन का अनशन कर वीरनिर्वाण २१५ में वे स्वर्गस्थ हुए। आर्य स्थूलभद्र का महत्व कामविजेता के कारण ही नहीं किन्तु पूर्वधर होने के कारण भी है।

आर्य महागिरि

आर्य महागिरि एक मेधावी आचार्य थे। उनका जन्म वीर निर्वाण १४५ (विक्रम पूर्व ३२५) में हुआ। वे एलापत्य गोत्र के थे। तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने आचार्य स्थूलभद्र के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आचार्य हेमचन्द्र के अभिमतानुसार आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती, इन दोनों का लालन-पालन आर्या यक्षा ने किया था, जिसके कारण उन दोनों के नाम के साथ आर्य शब्द जुड़ गया[८]। कितने ही विज्ञों का यह भी मन्तव्य है कि मुनियों के साथ जो आर्य शब्द आया है वह इनके नाम का अनुसरण कर किया गया है। पर हमारी दृष्टि से उन विज्ञों की कल्पना केवल कल्पना ही है; क्योंकि महागिरि के पूर्व भी श्रमणों के नाम के साथ 'आर्य' शब्द व्यवहृत हुआ है। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात आर्य महागिरि ने आचार्य स्थूलभद्र से दस पूर्वों का अध्ययन किया। जीवन की सांध्य-बेला में आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती, इन दोनों को आचार्य स्थूलभद्र ने अपना उत्तराधिकार प्रदान किया[९]। सम्भव है, दोनों ही शिष्य बहुत ही प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी

---

७. थूलभद्दस्स जुगप्पहाणा दो सीसा—अज्ज महागिरि य अज्ज सुहत्थी य।

—सभाष्य निशीथचूर्णि, पत्रांक ३६१

८. तौ हि यक्षार्यया बाल्यादपि मात्रेव पालितौ।
इत्यार्योपपदौ जातौ महागिरिसुहस्तिनौ॥

—परिशिष्ट पर्व, सर्ग १०, श्लोक ३७

९. परिशिष्ट पर्व १०/४०।

रहे हों। इसी कारण दोनों को आचार्य पद दिया गया हो। आचार्य जिनदास गणी महत्तर के अनुसार आचार्य स्थूलभद्र ने आर्य सुहस्ती को अपना उत्तराधिकारी बनाया था किन्तु आर्य सुहस्ती और आर्य महागिरि में परस्पर प्रेम की अत्यधिकता थी जिससे वे दोनों साथ में ही विचरण करते थे[10]। आर्य महागिरि आगम के गम्भीर ज्ञाता थे। उन्होंने अनेक श्रमणों को आगम की वाचनाएँ प्रदान कीं[11]। आर्य सुहस्ती जैसे मेधावी आचार्य भी उन्हें अपना गुरु मानते थे और गुरु के सदृश उनका सम्मान करते थे।

एक दिन आर्य महागिरि ने सोचा—आत्मविशुद्धि की महान साधना, जिनकल्प, जो इस समय विच्छिन्न हो चुका है किन्तु वह तप भी पूर्वबद्ध कर्मों को नष्ट कर सकता है। मेरे अनेक मेधावी शिष्य सूत्र और अर्थ के पूर्ण ज्ञाता हो चुके हैं; और आर्य सुहस्ती संघ के भार को वहन करने में समर्थ हैं। इसलिये मैं गण का भार उन्हें देकर जिन-कल्प तुल्य साधना में संलग्न हो जाऊँ। वे अपना दायित्व उन्हें देकर श्मशान भूमि में जाकर साधना में तल्लीन हो गए। उन्होंने कठिन अभिग्रह धारण किए और उन अभिग्रहों में आहार का अभिग्रह विशेष कठोर था। उपदेशमाला विशेष वृत्ति[12] में उनके आहार का एक प्रसंग है। एक बार पाटलिपुत्र के वसुभूति श्रेष्ठी को विशेष उपदेश देने हेतु आर्य सुहस्ती उनके वहाँ पधारे। उस समय आर्य महागिरि भी वहाँ पर पधार गये। सुहस्ती ने उठकर उनका अभिवादन किया। जब आचार्य महागिरि लौट गए तो उस श्रावक ने पूछा—भगवन ! क्या ये महासन्त आपके गुरु हैं ? आर्य सुहस्ती ने कहा—ये मेरे गुरु हैं। विशिष्ट साधक और घोर तपस्वी हैं। जो आहार नीरस, रूक्ष और फेंकने योग्य होता है उस आहार को ही ये ग्रहण करते हैं। आर्य सुहस्ती उसे प्रतिबोध देकर लौट गए। श्रेष्ठी वसुभूति ने अपने पारिवारिक जनों को कहा कि ये महातपस्वी हैं, यदि कभी भिक्षा के लिए आवें तो यह कहकर कि हम यह भोजन बाहर फेंकने वाले हैं, अतः आप ग्रहण करें इस प्रकार उनके अभिग्रह की पूर्ति करना।

एक दिन महागिरि भिक्षा के लिये पहुँचे। बढ़िया लड्डू तैयार थे। श्रेष्ठी वसुभूति के परिजनों ने यह कहकर कि यह मोदक हम बाहर फेंक

---

१०. निशीथ सूत्र, सभाष्य चूर्णि, भाग २, पृष्ठ ३६१।

११. परिशिष्ट पर्व ११/२

१२. उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, गाथा २-२६, पृष्ठ ३६९-३७०।

रहे हैं क्योंकि हमने बहुत ही बढ़िया भोजन कर लिया है जिससे इन मोदकों की इच्छा ही नहीं है। हम इन्हें बाहर फेंकने वाले ही थे। अच्छा हुआ आप पधार गए अतः इन्हें ग्रहण कीजिए। अत्यधिक अनुनय-विनय करने पर भी आर्य महागिर ने वे मोदक ग्रहण नहीं किए। और जब आर्य सुहस्ती मिले तब उन्होंने कहा—आपने उस दिन श्रेष्ठी वसुभूति के वहाँ पर जो मेरा सम्मान किया जिसके कारण उनका घर मेरे लिए अनेषणीय बन गया। आर्य सुहस्ती ने कहा—अब मैं इसका पुनरावर्तन नहीं करूंगा। इससे यह स्पष्ट है कि वे कितने उग्र अभिग्रहधारी आचारनिष्ठ श्रमण थे। कल्पसूत्र स्थविरावली में उनके आठ प्रमुख शिष्यों का उल्लेख है। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. उत्तर २. बलिस्सह ३. धनाक्ष्य ४. श्रीआढ्य ५. कौडिन्य ६. नाग ७. नागमित्र ८. रोहगुप्त। उत्तर और बलिस्सह ये बहुत ही प्रभावशाली थे। उनसे कौशाम्बिक, शक्तिमतिका, कोटमानी और चन्द्रनागरी ये चार शाखाएँ निकलीं और रोहगुप्त से त्रैराशिक मत प्रकट हुआ[13]। निह्नव परम्परा में रोहगुप्त का छठा नम्बर है। तीस वर्ष की उम्र में महागिरि श्रमण बने और ७० वर्ष की उम्र में वे आचार्य पद पर आसीन हुए और ३० वर्ष तक आचार्य पद का गौरवपूर्ण निर्वाह कर वीर निर्वाण २४५ (विक्रम पूर्व २२५) में मालव प्रदेश के गजेन्द्रपुर नगर में वे स्वर्गवासी बने।

आर्य सुहस्ती

आर्य सुहस्ती वासिष्ठ गोत्र के थे। उनका जन्म वीर निर्वाण १९१ (विक्रम पूर्व २७९) में हुआ। उन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में आचार्य स्थूलभद्र के पास दीक्षा ग्रहण की किन्तु आचार्य स्थूलभद्र का स्वल्प समय के पश्चात् स्वर्गवास हो जाने से उन्होंने आर्य महागिरि के पास पूर्वों का अध्ययन किया और वीर निर्वाण २४५ (विक्रम पूर्व २२५) में वे आचार्य पद पर आसीन हुए। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार वे एक बार कौशाम्बी में पधारे। उस समय कौशाम्बी में भयंकर दुष्काल था। एक भिखारी कई दिनों से भूखा था। वह श्रमणों के पीछे-पीछे चल रहा था। श्रेष्ठी ने श्रमणों को स्वादिष्ट भोजन सामग्री प्रदान की। उसने श्रमणों से कहा—आपको जो भोजन सामग्री दी गई है उसमें से मुझे भी कुछ दें। श्रमणों ने कहा—बिना गुरु आदेश के हम कुछ भी नहीं दे सकते। वह भिखारी भी श्रमणों के साथ

---

१३. रोहगुत्तेहिंतो, कोसियगुत्तेहिंतो तत्थ णं तेरासिया निग्गया।

—कल्पसूत्र स्थविरावली, सूत्र २०९

जहां आचार्य सुहस्ती ठहरे हुए थे, वहां पर आया और भोजन की याचना की। आचार्य सुहस्ती ने उसे निहारा और ज्ञानोपयोग से देखा—यह रंक भवान्तर में प्रवचन का आधार बनेगा। इसके निमित्त से जैन धर्म की प्रभावना होगी।[14]

आर्य सुहस्ती ने मधुर स्वर से उस रंक को कहा—तुम श्रमण धर्म स्वीकार करो। हम तुम्हें भोजन देने के लिये प्रस्तुत हैं। पर हम गृहस्थ को भोजन नहीं दे सकते। रंक सोचने लगा—भूख से छटपटाने की अपेक्षा श्रमण धर्म ग्रहण करना अच्छा है। वह श्रमण धर्म स्वीकार करने के लिए समुद्यत हो गया। आचार्य ने उसे दीक्षा प्रदान की। वह कई दिनों का भूखा था। अतः अधिक मात्रा में वह सरस भोजन कर गया जिससे श्वास नलिका में श्वास वायु का सञ्चार न होने से उसी दिन प्रशस्त भावना से उस रंक भिक्षु ने आयुष्य पूर्ण किया और अवन्तिनरेश अशोक के पौत्र—कुणाल के पुत्र सम्प्रति के रूप के रूप में जन्म लिया। अव्यक्त सामायिक की साधना के फलस्वरूप उसे महान साम्राज्य की उपलब्धि हुई।[15]

राजकुमार सम्प्रति गवाक्ष में बैठा हुआ था। आर्य सुहस्ती को नीचे से जाते हुए देखकर वह विशेष रूप से चिन्तन करने लगा कि यह आकृति पूर्वपरिचित लग रही है। चिन्तन करते-करते जातिस्मरण ज्ञान हुआ जिससे पूर्वभव का सारा चित्र उसकी स्मृति पर चमक उठा। वह प्रासाद से नीचे उतरा। आर्य सुहस्ती को नमन कर निवेदन किया—भगवन ! क्या आप मुझे पहचानते हो ? परम ज्ञानी आर्य सुहस्ती ने ज्ञानोपयोग लगाया और सारा पूर्वभव सुना दिया।[16] राजकुमार सम्प्रति ने गद्गद् होकर कहा—भगवन् ! आप महान उपकारी हैं। आप मेरे पूर्वभव में भी गुरु थे और इस जन्म में भी मुझे अपना धर्मपुत्र समझकर ऐसा आदेश दें जिससे मेरा जीवन मंगल-

---

१४. भावी प्रवचनाधारो यद् रंकोऽयं भवान्तरे ॥

—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११

१५. कोसंबाऽऽहारकते, अज्जसुहत्थीस दमग पव्वज्जा।
अव्वत्तेणं सामाइएणं रण्णो घरे जातो ॥

—बृहत्कल्पभाष्य, विभाग ३/३२७५

१६. अज्जसुहत्थाऽऽगमणं, दट्ठुं सरणं च पुच्छणा कहणा।
पावयणम्मि य भत्ती, तो जाता संपती रण्णो ॥

—बृहत्कल्पभाष्य ३/३२७७

मय हो सके, और आपके ऋण से उऋण भी हो सकूँ। आर्य सुहस्ती ने कहा—जिनधर्म का अनुसरण करो। प्रस्तुत प्रसंग कल्पसूत्रचूर्णि, निशीथचूर्णि और आवश्यकचूर्णि में कुछ-कुछ परिवर्तन के साथ उट्टंकित है। पर संक्षेप में सार सभी का यही है कि सम्प्रति का जीव पूर्वभव में रंक था और श्रमण बन मृत्यु को प्राप्त कर सम्प्रति बना। सम्प्रति ने जैन धर्म की प्रभावना के लिए प्रबल प्रयास किया। आर्य सुहस्ती से श्रावक व्रत स्वीकार करने के पश्चात सम्राट सम्प्रति ने अपने सामन्त और राज्य कर्मचारियों को भी जैन संस्कार प्रदान किए। राज्य कर्मचारियों को जैन मुनियों का वेश पहनाकर द्रविड़, आन्ध्र, महाराष्ट्र आदि देशों में प्रेषित किये[17]। वे उन प्रदेशों में घूमे। वहाँ के निवासियों को श्रमणचर्या से परिचित करवाया कि जैन श्रमण आधाकर्म आदि दोष से विवर्जित भिक्षा ग्रहण करते हैं। इस तरह उन्होंने जैन श्रमणों के विहार योग्य भूमिका तैयार की। राजा सम्प्रति की प्रार्थना पर आर्य सुहस्ती ने अपने योग्य शिष्य धर्म प्रचार के लिए वहाँ पर प्रेषित किये।[18] उन शिष्यों ने वहाँ जाकर धर्म की प्रभावना की और पुनः लौटकर उन्होंने अपने अनुभव और संस्मरण आचार्य प्रवर को सुनाए।[19]

यह भी कहा जाता है—सम्राट सम्प्रति के समय दुष्काल में श्रमणों को पर्याप्त मात्रा में आहार प्राप्त हो, उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट अनुभव न हो इसलिए सम्प्रति ने व्यापारियों को आदेश दिया कि आप श्रमणों को खूब आहार प्रदान करें। मैं उसका मूल्य आपको राजकोष से दे दूँगा। राजपिण्ड श्रमणों के लिए ग्राह्य न होने से मैं स्वयं दान नहीं दे सकता पर आप श्रमणों को दान देकर पुण्य का उपार्जन करें। सम्प्रति की उदारता से श्रमणों को सरस आहार सुलभ होने लगा। आर्य महागिरि ने देखा—दुष्काल के समय इतना आहार कैसे सुलभ हो रहा है? उन्हें लगा कि यह आहार सदोष है। आर्य महागिरि ने सुहस्ती से कहा—हमें आहार की गहराई से अन्वेषणा करनी चाहिए। आर्य सुहस्ती ने कहा—भगवन्! जैसा राजा धर्मनिष्ठ है, वैसी प्रजा भी धर्मनिष्ठ है। महागिरि जो निर्दोष चारित्र परम्परा के पक्षधर थे, उन्हें सुहस्ती का यह उत्तर पसन्द नहीं आया। उन्होंने श्रमणों के आचार में शैथिल्य को पनपते देखकर आर्य सुहस्ती के साथ अपना साम्भोगिक व्यवहार अर्थात् आहार आदि का सम्बन्ध विच्छेद कर दिया।

---

१७. ततः प्रैषीदनार्येषु साधुवेषधरान्नरान् ॥

—परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११/९१

१८. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११/९९

१९. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११/१०१

आर्य सुहस्ती आर्य महागिरि को अपना गुरु मानते थे। उनके द्वारा दिये गये उपालम्भ को वे शान्त भाव से सहन कर गए और बिनीत शिष्य की भाँति चरणों में गिरकर निवेदन किया कि भविष्य में इस प्रकार श्रमणाचार के प्रति उपेक्षा नहीं की जाएगी। आर्य सुहस्ती स्वयं तो सम्भल गए पर उनके शिष्य जो सुविधावाद का अनुभव कर चुके थे वे उग्र आचार को ग्रहण करने से कतराने लगे। इस प्रकार आर्य सुहस्ती के समय श्रमणों में आचार शैथिल्य का प्रवेश हुआ। जो श्रमण साध्वाचार की दृष्टि से जागरूक नहीं थे, उन्होंने सदोष आहार ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। कितने ही विज्ञों का यह अभिमंतव्य है कि आहार दान की घटना सम्राट सम्प्रति के समय न होकर सम्राट बिन्दुसार के समय में हुई है। क्योंकि वीर निर्वाण २४५ में आर्य महागिरि का स्वर्गवास हो गया था और सम्राट सम्प्रति वीर निर्वाण २९५ में राजा बने थे। इसलिए आर्य महागिरि तो उस समय थे ही नहीं। आर्य महागिरि के समय तो सम्प्रति का जन्म भी नहीं हुआ था। इसलिए दुष्काल में आहार ग्रहण करने की जो घटना है वह सम्राट बिन्दुसार के समय की होनी चाहिए। सम्राट बिन्दुसार बहुत ही उदारमना था। उसने प्रजाजनों को भरपूर अन्न प्राप्त हो इस दृष्टि से अपने अन्न भण्डार खोल दिये थे। सम्भव है, सम्राट के उस अन्न भण्डार में से जो लोग अन्न ग्रहण करते थे, श्रमण उनसे आहार ग्रहण करते रहे हों। सम्राट सम्प्रति का अत्यधिक प्रभाव बढ़ जाने के कारण बिन्दुसार के युग की प्रस्तुत घटना सम्प्रति के युग के साथ मिल गई हो।

एक बार आर्य सुहस्ती श्रेष्ठी पत्नी भद्रा के वाहनकुट्टी नामक स्थान पर विराजे थे। आचार्य रात्रि के प्रथम प्रहर में नलिनीगुल्म नामक अध्ययन का स्वाध्याय कर रहे थे।[20] भवन के ऊपरी भाग में अवन्ति सुकुमाल अपनी बत्तीस पत्नियों के साथ आनन्द क्रीड़ा कर रहा था। आर्य सुहस्ती की मधुर स्वर लहरियाँ उसके कानों से टकराईं। उसका ध्यान पूर्ण रूप से एकाग्र हो गया। अवन्ती सुकुमाल सोचने लगा—यह तो मेरा परिचित-सा वर्णन है। ऊहापोह करते-करते उसे जातिस्मरण ज्ञान हुआ और वह अपना पूर्वभव देखने लगा, कि मैं पूर्वभव में नलिनीगुल्म विमान में देव था। उसकी इच्छा पुनः नलिनीगुल्म विमान में देव बनने की हुई अतः वह आर्य सुहस्ती के पास आया और निवेदन किया कि मुझे दीक्षा प्रदान करें। आचार्य ने कहा—तुम अत्यन्त सुकोमल हो, संयम साधना का कठोर कण्टकाकीर्ण मार्ग तुम कैसे

---

२०. परिशिष्ट पर्व, सर्ग ११/१३३

ग्रहण कर सकोगे ? पर वह अपने निश्चय पर दृढ़ था। उसने माता और बत्तीस पत्नियां मना करने पर भी दीक्षा ली और सुहस्ती से निवेदन किया भगवन् ! मुझे यावज्जीवन का अनशन करवाइये। अनशन व्रत ग्रहण कर वे श्मशान भूमि में पहुंचे। जीवन में प्रथम बार नंगे पैर जमीन पर चलने से पैरों से रक्त की धाराएँ बहने लगीं। रक्त के कारण शृगालिनी वहां पर पहुंच गई जहाँ मुनि ध्यानस्थ थे। वह उनके पैरों को चाटने लगी। चर्म का आवरण हटा और वह मांस को निर्भय होकर खाने लगी। प्रथम प्रहर में वह मुनि के पैर को, द्वितीय प्रहर में जंघा को, तृतीय प्रहर में उदर को और चतुर्थ प्रहर में मुनि के समूचे शरीर को खा गई। मुनि विशुद्ध भावों में आगे बढ़ते गए और नलिनीगुल्म विमान में देव बने। अवन्ति सुकुमाल की पत्नी ने आचार्य सुहस्ती से पूछा—मेरे पति जो श्रमण बने थे वे कहां हैं ?

आचार्य ने कहा—वह तो देव बन चुका है। पुत्रवधू के द्वारा पुत्र के निधन के समाचार सुनकर माता भद्रा को भारी आघात लगा किन्तु आचार्य के उपदेश से उसका मोह भंग हुआ, उसने भी प्रव्रज्या ग्रहण की और एक गर्भिणी पुत्रवधू को छोड़कर शेष ३१ पत्नियों ने भी दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार अवन्ति सुकुमाल का प्रस्तुत जीवन प्रसंग साधकों को संयम की कठोर साधना की प्रेरणा देने वाला है।

आर्य सुहस्ती का शिष्य परिवार अत्यधिक विशाल था। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार उनके शिष्य स्थविरों से अनेक गण निर्मित हुए। स्थविर रोहण से उद्देहगण, स्थविर श्रीगुप्त से चारण गण, भद्र से उडुपाटित गण, ऋषिगुप्त से मानवगण, कार्मधि के वेशपाटिक गण और अन्य अनेक अवान्तर गण भी निकले। आर्य सुहस्ती के समय जैन धर्म का अत्यधिक विकास हुआ। अवन्ति और सौराष्ट्र में जैन धर्म का प्रभाव बढ़ा। तीस वर्ष की अवस्था में संयम ग्रहण कर, ७० वर्ष तक संयम की आराधना कर वीर निर्वाण २९२ (वि. पू. १७८) में आर्य सुहस्ती का अवन्ति में स्वर्गवास हुआ।

आर्य सुहस्ती तक आचार्य गण के अधिपति और वाचनाचार्य दोनों ही होते थे। वे गण को भी सम्भालते थे और साथ ही गण की शैक्षणिक व्यवस्था भी करते थे किन्तु आचार्य सुहस्ती के पश्चात् गण की रक्षा करने वाले को गणाचार्य और श्रुत की रक्षा करने वाले को वाचनाचार्य कहा गया। गणाचार्य की परम्परा को गणधर वंश कहा गया। गणधर वंश अपने-अपने गुरु-शिष्य के क्रम से चलता रहा किन्तु युगप्रधान आचार्यों की परम्परा एक गण से सम्बन्धित नहीं रही। जिस किसी गण में या शाखा में एक के पश्चात दूसरे

प्रभावशाली वाचनाचार्य या युगप्रधान हुए उनसे उनका क्रम संलग्न किया गया है। आर्य सुहस्ती के पश्चात भी कुछ आचार्य गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनों हुए हैं। जो आचार्य प्रबल प्रतिभा के धनी थे, उन्हें युगप्रधान आचार्य माना गया। उनके नाम गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनों की सूची में अंकित हैं।

हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार वाचक वंश या विद्याधर वंश की परम्परा इस प्रकार है—

१. आचार्य सुहस्ती
२. आचार्य बहुल और बलिस्सह
३. आचार्य उमास्वाति
४. आचार्य अमम
५. आचार्य षांडिल्य या स्कन्दिल
(वीरनिर्वाण सं० ३७६ से ४१४ तक युगप्रधान आचार्य)
६. आचार्य समुद्र
७. आचार्य मंगूसूरि
८. आचार्य नन्दिल सूरि
९. आचार्य नागहस्ती सूरि
१०. आचार्य रेवती नक्षत्र
११. आचार्य सिंहसूरि
१२. आचार्य स्कंदिल (वीर निर्वाण सं. ८२६, वाचनाचार्य)
१३. आचार्य हिमवंत क्षमाश्रमण
१४. आचार्य नागार्जुन सूरि
१५. आचार्य भूतदिन्न
१६. आचार्य लौहित्य सूरि
१७. आचार्य दुष्यगणि
१८. आचार्य देववाचक (देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण)
१९. आचार्य कालिक चतुर्थ
२०. आचार्य सत्यमित्र (अंतिम पूर्वविद्)

दुस्सम काल समण संघत्थव और विचार श्रेणी के अनुसार

युगप्रधान पट्टावली और समय

१. गणधर सुधर्मा स्वामी	वीर निर्वाण	१-२०
२. आचार्य जम्बू स्वामी	,, ,,	२०-६४
३. आचार्य प्रभव स्वामी	,, ,,	६४-७५

४. आचार्य शय्यम्भव सूरि	वीर निर्वाण ७५-९८
५. आचार्य यशोभद्रसूरि	,, ,, ९८-१४८
६. आचार्य सम्भूतविजय	,, ,, १४८-१५६
७. आचार्य भद्रबाहुस्वामी	,, ,, १५६-१७०
८. आचार्य स्थूलभद्र	,, ,, १७०-२१५
९. आचार्य महागिरि	,, ,, २१५-२४५
१०. आचार्य सुहस्ती गिरि	,, ,, २४५-२९१
११. आचार्य गुणसुन्दर सूरि	,, ,, २९१-३३५
१२. आचार्य श्याम	,, ,, ३३५-३७६
१३. आचार्य स्कन्दिल (षांडिल्य)	,, ,, ३७६-४१४
१४. आचार्य रेवतीमित्र	,, ,, ४१४-४५०
१५. आचार्य धर्मसूरि	,, ,, ४५०-४६५
१६. आचार्य भद्रगुप्त सूरि	,, ,, ४६५-५३३
१७. आचार्य श्रीगुप्त सूरि	,, ,, ५३३-५४८
१८. आचार्य वज्रस्वामी	,, ,, ५४८-५८४
१९. आर्य रक्षित	,, ,, ५८४-५९७
२०. आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र	,, ,, ५९७-६१७
२१. आचार्य वज्रसेन सूरि	,, ,, ६१७-६२०
२२. आचार्य नागहस्ती	,, ,, ६२०-६८९
२३. आचार्य रेवतीमित्र	,, ,, ६८९-७४८
२४. आचार्य सिंहसूरि	,, ,, ७४८-८२६
२५. आचार्य नागार्जुन सूरि	,, ,, ८२६-९०४
२६. आचार्य भूतदिन्न सूरि	,, ,, ९०४-९८३
२७. आचार्य कालिक सूरि (चतुर्थ)	,, ,, ९८३-९९४
२८. आचार्य सत्यमित्र	,, ,, ९९४-१०००
२९. आचार्य हरिल्ल	,, ,, १०००-१०५५
३०. आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण	,, ,, १०५५-१११५
३१. आचार्य उमास्वाति सूरि	,, ,, १११५-११९०
३२. आचार्य पुष्यमित्र	,, ,, ११९०-१२५०
३३. आचार्य सम्भूति	,, ,, १२५०-१३००

३४. आचार्य माठरसम्भूति	वीर निर्वाण		१३००-१३६०
३५. आचार्य धर्मऋषि	,,	,,	१३६०-१४००
३६. आचार्य ज्येष्ठांगगणी	,,	,,	१४००-१४७१
३७. आचार्य फल्गुमित्र	,,	,,	१४७१-१५२०
३८. आचार्य धर्मघोष	,,	,,	१५२०-१५६८

वल्लभी युगप्रधान पट्टावली

१. आचार्य सुधर्मा स्वामी	शासन	समय	२० वर्ष
२. आचार्य जम्बू स्वामी	,,	,,	४४ ,,
३. आचार्य प्रभव स्वामी	,,	,,	११ ,,
४. आचार्य शय्यम्भव	,,	,,	२३ ,,
५. आचार्य यशोभद्र	,,	,,	५० ,,
६. आचार्य सम्भूतविजय	,,	,,	८ ,,
७. आचार्य भद्रबाहु	,,	,,	१४ ,,
८. आचार्य स्थूलभद्र	,,	,,	४६ ,,
९. आचार्य महागिरि	,,	,,	३० ,,
१०. आचार्य सुहस्ती	,,	,,	४५ ,,
११. आचार्य गुणसुन्दर	,,	,,	४४ ,,
१२. आचार्य कालकाचार्य	,,	,,	४१ ,,
१३. आचार्य स्कन्दिलाचार्य (षांडिल्य)	,,	,,	३८ ,,
१४. आचार्य रेवतिमित्र	,,	,,	३६ ,,
१५. आचार्य मंगु	,,	,,	२० ,,
१६. आचार्य धर्म	,,	,,	२४ ,,
१७. आचार्य भद्रगुप्त	,,	,,	४१ ,,
१८. आचार्य वज्र स्वामी	,,	,,	३६ ,,
१९. आचार्य रक्षित	,,	,,	१३ ,,
२०. आचार्य पुष्यमित्र	,,	,,	२० ,,
२१. आचार्य वज्रसेन	,,	,,	३ ,,
२२. आचार्य नागहस्ती	,,	,,	६९ ,,
२३. आचार्य रेवतिमित्र	,,	,,	५९ ,,

२४. आचार्य सिंहसूरि	शासन समय ७८ वर्ष
२५. आचार्य नागार्जुन	,, ,, ७८ ,,
२६. आचार्य भूतदिन्न	,, ,, ७९ ,,
२७. आचार्य कालक	,, ,, ११ ,,

माथुरी युगप्रधान पट्टावली

१. आचार्य सुधर्मा स्वामी	२. आचार्य जम्बू स्वामी
३. आचार्य प्रभव स्वामी	४. आचार्य शय्यम्भव
५. आचार्य यशोभद्र	६. आचार्य सम्भूतविजय
७. आचार्य भद्रबाहु	८. आचार्य स्थूलभद्र
९. आचार्य महागिरि	१०. आचार्य सुहस्ती
११. आचार्य बलिस्सह	१२. आचार्य स्वाति
१३. आचार्य श्यामाचार्य	१४. आचार्य षांडिल्य (स्कन्दिल)
१५. आचार्य समुद्र	१६. आचार्य मंगु
१७. आचार्य आर्यधर्म	१८. आचार्य भद्रगुप्त
१९. आचार्य वज्र	२०. आचार्य रक्षित
२१. आचार्य आनन्दिल	२२. आचार्य नागहस्ति
२३. आचार्य रेवतिनक्षत्र	२४. आचार्य ब्रह्मदीपक सिंह
२५. आचार्य स्कन्दिलाचार्य	२६. आचार्य हिमवन्त
२७. आचार्य नागार्जुन	२८. आचार्य गोविन्द
२९. आचार्य भूतदिन्न	३०. आचार्य लौहित्य
३१. आचार्य दुष्यगणि	३२. आचार्य देवर्द्धिगणि

आर्य बलिस्सह

आचार्य बलिस्सह अपने युग के एक प्रभावशाली आचार्य थे। वे महागिरि के आठ प्रमुख शिष्यों में से एक थे। इनका गोत्र कास्यप था। महागिरि के स्वर्गवासी होने के पश्चात ये श्रुतसम्पन्न होने के कारण वाचनाचार्य के रूप में नियुक्त हुए। आचार्य बलिस्सह के गण की प्रसिद्धि उत्तर बलिस्सह के नाम से है। आचार्य बलिस्सह के ज्येष्ठ गुरुभ्राता का नाम बहुल था और उनका उपनाम उत्तर था। अतः दोनों गुरुभ्राताओं के नाम पर उत्तर बलिस्सह नाम पड़ा। आचार्य देववाचक ने आचार्य बलिस्सह को इस प्रकार नमस्कार किया है—

तत्तो कोसिअगोत्तं बहुलस्स सरिव्वयं वंदे

—नन्दी सूत्र २४

हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार सम्राट खारवेल ने कुमारगिरि पर्वत पर श्रमण सम्मेलन का भव्य आयोजन किया था। उस सम्मेलन में आचार्य बलिस्सह समुपस्थित थे। उन्होंने विद्यानुप्रवाद पूर्व से अंगविद्या जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार उत्तर बलिस्सह गण की कौसंबिका, सूक्तिमती, कोंडवाणी और चंदनागरी ये चार शाखाएँ निकलीं। आचार्य बलिस्सह का काल वीर निर्वाण २४५ (विक्रम पूर्व २२५) माना जाता है।

आर्य गुणसुन्दर

युगप्रधान आचार्यों में आचार्य सुहस्ती के पश्चात गुणसुन्दर का नाम आता है।[21] वीर निर्वाण २९१ (विक्रम पूर्व १७९) में वे आचार्य पद से समलंकृत किए गए और वीर निर्वाण ३३५ (विक्रम पूर्व १३५) में उनका स्वर्गवास हुआ।

आर्य सुस्थित

आर्य सुस्थित व्याघ्रापत्य गोत्रीय काकन्दी के राजकुमार थे। वीर निर्वाण २४३ (विक्रम पूर्व २२७) में उनका जन्म हुआ। वीर निर्वाण २७४ (विक्रम पूर्व १९६) में उन्होंने आर्य सुहस्ती के पास दीक्षा ग्रहण की और वीर निर्वाण २९१ (वि० पू० १७९) में आचार्य सुहस्ती के पश्चात वे आचार्य बने। उस समय उनकी अवस्था ४८ वर्ष की थी। सुप्रतिबुद्ध आपके सहोदर भी थे और लघु गुरुभ्राता भी थे। सुप्रतिबुद्ध वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए। दोनों के १. इन्द्रदिन्न २. प्रियग्रन्थ ३. विद्याधर गोपाल ४. ऋषिदत्त और ५. अर्हद्दत, ये पाँच शिष्य थे।

दोनों सहोदर आचार्यों ने कुमारगिरि पर्वत पर उत्कृष्ट तपःसाधना की। कुमारगिरि पर्वत ही वर्तमान में उदयगिरि और खण्डगिरि पर्वत के रूप में विश्रुत है। कलिंगनरेश खारवेल महामेघवाहन ने अनेक जैन गुफाएँ बनवाईं। इसी पर्वत पर आगम वाचना के लिए श्रमण सम्मेलन हुआ जिसमें आर्य सुस्थित और आर्य सुप्रतिबुद्ध दोनों उपस्थित थे। कलिंगाधिपति भिक्षुराज ने इन दोनों आचार्यों का विशेष सम्मान किया।[22]

---

२१. दुःषमाकाल श्रीश्रमणसंघस्तोत्रम्, श्लोक ११।

२२. हिमवंत स्थविरावली, श्लोक १०।

पट्टावली ग्रन्थ के अभिमतानुसार दोनों आचार्यों ने काकन्दी नगरी में जिनेश्वर देव का एक करोड़ बार जप किया था जिससे आर्य सुस्थित का गच्छ कोटि गच्छ के नाम से विश्रुत हुआ[23]। कोटि गच्छ की उच्चनागरी, विद्याधरी, वाज्री और मध्यमा, ये चार शाखाएँ हुईं। आर्य इन्ददिन्न के शिष्य आर्य दिन्न थे और उनके शिष्य आर्य शान्तिश्रेणिकसिंह गिरि थे। आर्य शान्ति श्रेणिक से उच्चनागरी शाखा का विकास हुआ और विद्याधर गोपाल से विद्याधरी शाखा का जन्म हुआ। प्रियग्रन्थ से मध्यम शाखा निकली और अर्हद्दत्त से वाज्री शाखा का प्रादुर्भाव हुआ।

आर्य सुस्थित, आर्य सुहस्ती के जो बारह प्रमुख शिष्य थे, उनमें से वे एक थे। उन्होंने वीर निर्वाण ३३९ (वि० पू० १३१) में कुमारगिरि पर्वत पर समाधिपूर्वक आयु पूर्ण किया।

आर्य श्याम

जैन परम्परा में कालक नाम के चार आचार्य हुए हैं। उनमें प्रथम कालक आचार्य श्यामाचार्य के रूप में विश्रुत हैं। आचार्य देववाचक के अनुसार आचार्य श्याम आर्य स्वाति के शिष्य थे[24]। आर्य स्वाति आर्य बलिस्सह के शिष्य थे और हारित गोत्रीय थे। श्यामाचार्य को ही देववाचक ने वाचनाचार्य माना है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने श्यामाचार्य को आचार्य गुणाकर के पश्चात् युगप्रधान आचार्य माना है। वे अपने युग के महाप्रभावक आचार्य थे। उनका जन्म वीर निर्वाण २८० (विक्रम पूर्व १९०) में हुआ। उन्होंने वीर निर्वाण ३०० (विक्रम पूर्व १७०) में आर्हती दीक्षा ग्रहण की। उस समय उनकी उम्र बीस वर्ष की थी। रत्न संचय प्रकरण के अनुसार उनकी प्रकृष्ट प्रतिभा से प्रभावित होकर वीर निर्वाण ३३५ (विक्रम पूर्व १३५) में वे युगप्रधान आचार्य के पद पर विभूषित हुए[25]। ४१ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य और वाचनाचार्य रहकर उन्होंने जिनशासन की प्रबल प्रभावना की।

---

२३. पट्टावली समुच्चय, श्री महावीर पट्ट परम्परा, पृष्ठ १२४; श्लोक ४४।

२४. नन्दी स्थविरावली, २६।

२५. सिरिवीराओ गएसु पणतीसहिएसु तिसय वरिसेसु।

पढमो कालगसूरी, जाओ सामज्जना मुत्ति ॥५५॥

—रत्नसंचय प्रकरण, पत्रांक ३२, श्लोक ५५

आचार्य श्याम द्रव्यानुयोग के विशिष्ट ज्ञाता थे। उन्होंने प्रज्ञापना जैसे विशाल आगम की रचना की[26]। उपांग साहित्य में प्रज्ञापना का विशिष्ट स्थान है। उसमें ३६ प्रकरण हैं और जीव आदि द्रव्यों के सम्बन्ध में तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन किया गया है। वे नाम से श्याम थे पर वे विशुद्ध चारित्र के धनी थे। उनकी मति अत्यन्त निर्मल थी जिसके कारण प्रज्ञापना को आगम के रूप में गौरव प्राप्त हुआ।

विचारश्रेणी में उल्लेख है कि वे निगोद के प्रसिद्ध व्याख्याकार थे। एक बार सौधर्मेन्द्र ने सीमन्धर स्वामी से महाविदेह क्षेत्र में निगोद की विशिष्ट व्याख्या सुनी। उन्होंने सीमन्धर स्वामी से प्रश्न किया—भगवन्! भरतक्षेत्र में भी निगोद सम्बन्धी इस प्रकार की व्याख्या करने वाला कोई आचार्य, उपाध्याय या श्रमण है? सीमन्धर स्वामी ने आचार्य श्याम का नाम प्रस्तुत किया। सौधर्मेन्द्र वृद्ध ब्राह्मण के रूप में आचार्य श्याम के पास उपस्थित हुए। उन्होंने आचार्य का ज्ञान बल जानने हेतु अपना हाथ उनके सामने रखा। आचार्य श्याम ने गम्भीर दृष्टि से उनकी ओर देखा और कहा—तुम मानव नही, देव हो। सौधर्मेन्द्र ने पुनः निगोद के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत की। आर्य श्याम ने निगोद की सांगोपांग विवेचना की। उस विवेचना को सुनकर सौधर्मेन्द्र ने कहा—जैसा विवेचन निगोद के सम्बन्ध में मैंने सीमंधर स्वामी से सुना वैसा ही विवेचन आपसे सुनकर प्रभावित हुआ।

इन्द्र (सौधर्मेन्द्र) की रूप संपदा को निहार कर कोई श्रमण निदान न कर ले, इस दृष्टि से भिक्षा हेतु गए हुए मुनियों के आगमन के पूर्व ही सौधर्मेन्द्र श्यामाचार्य की प्रशंसा करते हुए जाने लगा। श्यामाचार्य ने कहा—जरा रुक जाओ। शिष्यों को आने दो। सौधर्मेन्द्र ने कहा—मैं इस समय रुक नहीं सकता। आचार्य के निर्देश से सौधर्मेन्द्र ने उपाश्रय का द्वार पूर्वाभिमुख से पश्चिमाभिमुख कर दिया। शिष्य भिक्षा लेकर लौटे। द्वार को परिवर्तित देखकर विस्मित हुए। आचार्य से सौधर्मेन्द्र के आने की घटना सुनी। प्रस्तुत घटना प्रभावक चरित्र में आचार्य कालक के साथ जोड़ी है तो विशेषावश्यकभाष्य, आवश्यकचूर्णि प्रभृति ग्रन्थों में आर्यरक्षित के जीवन के साथ जोड़ी गई है। विचार श्रेणी परिशिष्ट में भी यह घटना आचार्य श्याम के साथ आई है।

प्रज्ञापना सूत्र के प्रारम्भ में आर्य श्याम की स्तुतिपरक दो गाथाओं में उन्हें वाचक वंश का तेईसवां पुरुष बताया है किन्तु पट्टक्रम के अनुसार आर्य

---

२६. (क) परिशिष्ट पर्व, १८८।
(ख) ऋषिमंडल पत्रांक, ३५३।

श्याम तेरहवें आचार्य होते हैं। इस संख्या का मेल विचारश्रेणी में इस प्रकार किया है—वाचक वंश में गणधरों को सम्मिलित करके आर्य श्याम को तेईसवाँ वाचक माना है। टीकाकार ने 'वाचकाः पूर्वविदः' इस पद से वाचक का अर्थ पूर्वविद् किया है। गणधरों को वाचक मानकर श्यामाचार्य को तेईसवाँ वाचक बताया है[27]। वस्तुतः आचार्य मेरुतुंग का यह कथन युक्तियुक्त है, क्योंकि गणधरों का मुख्य कार्य ही आगमों की वाचना देना था। इस दृष्टि से गणधरों को वाचक लिखा गया है। निगोद के व्याख्याता श्यामाचार्य का शासन काल ४१ वर्ष तक चलता रहा। जैन शासन की प्रबल प्रभावना कर वीर निर्वाण ३७६ (विक्रम पूर्व ९४) में ९६ वर्ष की अवस्था में वे स्वर्गस्थ हुए।

द्वितीय आचार्य कालक भी इन्हीं कालकाचार्य के समकालीन हैं। ये धारा नगरी के वैरसिंह राजा के पुत्र थे। इनकी माँ का नाम सुरसुन्दरी था। इनकी लघु बहिन का नाम सरस्वती था। सरस्वती अत्यन्त रूपवती थी। गुणाकर मुनि के पावन प्रवचन को सुनकर कालककुमार ने और बहिन सरस्वती ने प्रव्रज्या ग्रहण की। कालककुमार अब मुनि बन गये। वे प्रतिभासम्पन्न युवक थे। स्वल्प समय में ही वे शास्त्रों के उद्भट विद्वान बने। उनकी विद्वत्ता और प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके गुरु ने उन्हें आचार्य पद से विभूषित किया।[28]

एक समय कालकाचार्य अपने श्रमणसमुदाय के साथ उज्जयिनी पधारे। उस समय वहाँ का शासक गर्दभिल्ल था। आचार्य कालक की भगिनी साध्वी सरस्वती के अद्भुत सौन्दर्य को देखकर वह उस पर मुग्ध हो गया। राजपुरुषों ने करुण क्रन्दन करते हुए अपने सहोदर भाई को पुकारती हुई साध्वी सरस्वती का अपहरण कर लिया।[29] जब आचार्य

---

२७. सिद्धान्ते श्री वीरादन्वेकादशगणभृद्भिः सह त्रयोविंशतितमः पुरुषः श्यामार्य इति व्याख्यातः। (विचारश्रेणी)

२८. स्वपट्टे कालकं योग्यं प्रतिष्ठाप्य गुरुस्ततः।
श्रीमान् गुणाकरः सूरिः प्रेत्यकार्याण्यसाधयत् ॥
—प्रभावक चरित, पत्रांक २२/२५

२९. हा रक्ष रक्ष सोदर्य ! क्रन्दन्तीं करुणस्वरम्।
अपाजीहरदत्युग्रकर्मभिः पुरुषैः स ताम् ॥
—प्रभावक चरित, पत्रांक २३/३०

कालक को सरस्वती के अपहरण की घटना मालूम हुई तो वे राजसभा में पहुंचे। राजा गर्दभिल्ल को कहा—राजा का कार्य प्रजा की रक्षा करना है। यदि संरक्षक ही अपहरण करने लगे तो प्रजा किसके सामने जाकर पुकार करेगी ? आप राजा हैं, आपके द्वारा साध्वी का अपहरण करना सर्वथा अनुचित है।

आचार्य कालक के कथन का गर्दभिल्ल पर कोई असर नहीं हुआ। अमात्य-गणों ने और प्रजा ने भी निवेदन किया किन्तु मूढ़मति राजा ने किसी की भी बात पर ध्यान नहीं दिया।[30]

आचार्य कालक का क्षात्र-तेज प्रदीप्त हो उठा। उन्होंने राजा गर्दभिल्ल को राज्यच्युत करने की प्रतिज्ञा की।[31] उन्होंने यह गभीर उद्घोषणा की कि मर्यादाच्युत राजा गर्दभिल्ल को राज्य से च्युत न कर दूं तो संघ के प्रत्यनीक, प्रवचन-प्रघातक, संयम-विनाशक व्यक्तियों जैसी मेरी भी गति हो।[32]

राजा गर्दभिल्ल बहुत ही शक्तिसम्पन्न राजा था। उससे लोहा लेना बहुत ही कठिन था। यह बात आचार्य कालक अच्छी तरह से जानते थे। प्रतिज्ञा का भेद कहीं न खुल जाय, इस दृष्टि से नगर के राजपथों पर, चौराहों पर, वीथियों पर पागलों की तरह प्रलाप करते हुए आचार्य कालक कहने लगे—गर्दभिल्ल राजा है तो क्या ? उसका अन्तःपुर सुन्दर है तो क्या ? नागरिक वस्त्र पहने हुए हैं क्या ? इस प्रकार के अपलाप को सुनकर लोगों ने समझा कि आचार्य कालक अपनी बहिन सरस्वती के व्यामोह में विक्षिप्त हो गये हैं। राजनीति विशारद आचार्य कालक ने कुछ समय तक यह नाटक किया फिर एकाकी वहां से निकल पड़े। वे सिन्धु तट पर पहुंचे। वहां पर उन्होंने ९६ शक सामन्तों को अपनी विद्या से प्रभावित किया और उनके साथ घनिष्ठ मित्रता स्थापित की। उन शक सामन्तों में एक मुख्य

---

३०. संघेन मन्त्रिभिः पौरैरपि विज्ञापितो दृढम् ।
अवाजीगणदारूढो मिथ्यामोहे गलन्मतिः ॥
—प्रभावक चरित, पृ० २३, श्लो० ३५

३१. प्राक्क्षात्र तेज आचार्य उन्निद्रमभजत् ततः ।
प्रतिज्ञां विदधे घोरा तदा कातरतापनीम् ॥
—प्रभावक चरित, पृ० २३, श्लो० ३६

३२. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पत्रांक ४५७ ।

सामन्त भी था। एक बार उन शक सामन्तों पर संकट के बादल मंडराये तो आचार्य कालक ने अपने बुद्धि-बल से उन सामन्तों को संकट से मुक्त करने के लिए सिन्धु नदी पार कर सौराष्ट्र चलने की सलाह दी। सभी ने आचार्य कालक की सलाह को स्वीकार किया और वे सभी सौराष्ट्र में पहुंचे।[33]

निशीथचूर्णि में आचार्य जिनदासगणी महत्तर ने शकों का पारस कुल में होने का उल्लेख किया है। विद्वानों का मत है कि पारस कुल फारस खाड़ी के सन्निकट कोई प्रदेश था, जो वर्तमान में ईरान का स्थान है। पारस कुल शकों का निवास स्थान होने से शककुल के नाम से भी विश्रुत रहा है। कितने ही इतिहासविज्ञों का यह भी मत है कि आचार्य कालक सिन्धु प्रान्त से शक सामन्तों को लेकर आये थे। वर्षा ऋतु के कारण शकों के साथ आचार्य कालक को सौराष्ट्र में लम्बे समय तक रुकना पड़ा। शरद ऋतु का आगमन हुआ। विशाल सेना के साथ, पांचाल लाटादि प्रदेशों पर विजय वैजयन्ती फहराते हुए आचार्य कालक मालव की सीमा पर पहुंचे। राजा गर्दभिल्ल को अपनी गर्दभी विद्या पर अभिमान था। वह अपने आप को अपराजेय समझता था। जब उसे किसी शत्रु के आक्रमण की सूचना प्राप्त होती तो वह गर्दभी को एक उच्चतम अट्टालिका पर स्थापित करवाता और स्वयं अष्टम तप की आराधना करता। विद्या के सिद्ध होते ही गर्दभी बड़े ऊँचे स्वर से रेंकने लगती। ज्यों ही उसका स्वर शत्रु दल के कर्ण-कुहरों में गिरता त्यों ही शत्रु दल का प्रत्येक सैनिक, हस्ती, अश्व आदि सभी रक्त-वमन कर निश्चेष्ट हो पृथ्वी पर गिर पड़ते। आर्य कालक को यह गुप्त रहस्य ज्ञात था अतः उन्होंने १०८ शब्दवेधी धनुर्धरों को तैयार किया। गर्दभी ने ज्यों ही अपना मुंह खोला त्यों ही उन योद्धाओं ने बाणों से उसका मुंह भर दिया, जिससे गर्दभिल्ल की विद्या का प्रभाव नष्ट हो गया। गर्दभी विद्या कुपित हुई और अशुचि पदार्थों का राजा गर्दभिल्ल पर प्रक्षेप कर अदृश्य हो गई। राजा गर्दभिल्ल को निर्बल जानकर शक सामन्तों ने उस पर एक साथ धावा बोल दिया। लाट प्रदेश की सेना भी उनके साथ थी। विदेशी सत्ता के सामने गर्दभिल्ल को पराजित होना पड़ा। राजा गर्दभिल्ल को बन्दी बनाकर आचार्य कालक के सामने प्रस्तुत किया गया। आचार्य कालक ने अन्यायी गर्दभिल्ल को राज्यपद से च्युत किया और अन्य सभी व्यक्तियों को मुक्त कर दिया। बहिन सरस्वती को पाकर आचार्य कालक

---

३३. तरीभिः सिन्धुमुत्तीर्य सुराष्ट्रां ते समाययुः ॥

—प्रभावक चरित, पृ० २३/४६

बहुत ही प्रसन्न हुए। मालव प्रदेश पर शकों का राज्य हुआ। आचार्य कालक ने बहिन सरस्वती को पुनः दीक्षा प्रदान की। स्वयं ने प्रायश्चित्तपूर्वक अपने मनोमालिन्य आदि की आलोचना की और पुनः दीक्षा ग्रहण की।[३४] अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व होने के कारण संघ का नेतृत्व आचार्य कालक को पहले की भाँति संभालना पड़ा।

भृगुकच्छ (भड़ौच) लाट देश की राजधानी थी। वहाँ के शासक बलमित्र और भानुमित्र थे जो आचार्य कालक के भानजे थे। उनकी विशेष प्रार्थना पर आचार्य कालक भृगुकच्छ में वर्षावास हेतु पधारे। बलमित्र और भानुमित्र की बहिन भानुश्री थी। भानुश्री का पुत्र बलभानु था। उसने आचार्य कालक के पास दीक्षा ग्रहण की जिससे बलमित्र और भानुमित्र आचार्यश्री से रुष्ट हो गये। उन्होंने आचार्य कालक को वहाँ से निकालने का एक उपाय किया। उन्होंने घर-घर में आधाकर्म दोष निष्पन्न गरिष्ठ आहार आचार्य कालक को प्रदान करने की घोषणा की। राजा के आदेश को शिरोधार्य कर सभी नागरिक वैसा ही आहार देने लगे। एषणीय आहार के अभाव में आचार्य कालक को वर्षावास में ही वहाँ से विहार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। प्रभावक चरित्र के अनुसार विहार का निमित्त राज-पुरोहित था। आचार्य के प्रति बलमित्र और भानुमित्र की अपार श्रद्धा थी। राज-पुरोहित आचार्य कालक से जलता था। एक दिन राजसभा में वह आचार्य कालक से पराजित हो गया। उसने सोचा, किसी तरह से आचार्य कालक को यहाँ से प्रस्थान करने के लिए बाध्य करना चाहिए। उसने बलमित्र और भानुमित्र से कहा—आचार्य कालक के चरण-कमल सभी के लिए बन्दनीय हैं। वे जिस रास्ते पर चलते हैं, उसी रास्ते पर अन्य नागरिकगण भी चलते हैं जिससे गुरुदेव की आशातना होती है। यह आशातना नागरिकों के लिए अमंगलकारी है। इससे राज्य का अहित होगा। पर प्रश्न था पावस काल में आचार्य को विहार के लिए कैसे कहा जाय ? विहार कराने पर अपवाद होगा। राजा के आदेश को प्राप्त कर राज-पुरोहित ने आधाकर्म दोषयुक्त आहार बहराना प्रारंभ किया जिससे आचार्य को पावस के मध्य ही विहार करना पड़ा।

आचार्य कालक विहार कर प्रतिष्ठानपुर पधारे। वहाँ का राजा शात-वाहन जैन धर्म का श्रद्धालु श्रावक था। भाद्रपद शुक्ला पंचमी का दिन सन्निकट

---

३४. प्रभावक चरित, पत्रांक २४, श्लोक ८७।

था। संवत्सरी महापर्व अत्यन्त सन्निकट था। इसी दिन प्रतिष्ठानपुर में इन्द्र ध्वज महोत्सव मनाया जाता था। राजा शातवाहन चाहता था कि दोनों ही पर्व मनाये जाएँ। उसने आचार्य कालक से निवेदन किया—आर्य ! संवत्सरी पर्व पंचमी के स्थान पर षष्ठी को मनाया जाय जिससे मैं भी इस पर्व की आराधना कर सकूँ। आचार्य कालक ने स्पष्ट शब्दों में कहा—इस पर्व की आराधना में पंचमी की रात्रि का अतिक्रमण नहीं हो सकता।[35] राजा ने पुनः निवेदन किया कि इस पर्व को फिर चतुर्थी के दिन मनाया जाय। शातवाहन के इस प्रस्ताव को आचार्य कालक ने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार सर्वप्रथम गर्दभिल्ल उच्छेदक आचार्य कालक के नेतृत्व में चतुर्थी के दिन संवत्सरी पर्व मनाया गया।[36]

एक बार आचार्य कालक अवन्ति में पधारे। उस समय आचार्य कालक वृद्ध हो चुके थे। वार्धक्य की चिन्ता न कर वे अपने शिष्यों को आगम वाचना देते थे, किन्तु शिष्य प्रमादी थे। अपने शिष्यों के प्रमत्त भाव को देखकर आचार्य को खिन्नता हुई। उन्होंने शिष्य वर्ग को शिक्षा देने के लिए एक उपाय सोचा। वे शय्यातर के पास गए और कहा—मैं अपने अविनीत शिष्यवर्ग को बिना सूचित किए जा रहा हूँ। क्योंकि इन शिष्यों की उच्छृं-खलता कर्मबन्ध का कारण है। मेरे जाने से सम्भव है, ये लोग संभल जायें। पीछे से शिष्य यदि पूछें तो उन्हें उपालम्भ के स्वर में बताना। इस प्रकार अच्छी तरह शय्यातर को समझाकर आचार्य कालक ने गुप्त रूप से वहां से विहार किया और वे स्वर्णभूमि में अपने प्रशिष्य सागर के पास पहुंचे। आगम वाचना में तल्लीन सागर ने सामान्य वृद्ध साधु समझकर उनका खड़े होकर स्वागत नहीं किया। अर्थ वाचना के समय आचार्य कालक को संकेत करते हुए सागर ने पूछा—भन्त ! मेरा कथन आपके समझ में तो आ रहा है न ? आचार्य कालक ने 'ऊँ' कहकर स्वीकृति दी। सागर ने सगर्व कहा—अवधानपूर्वक सुनो ! आर्य कालक गम्भीर मुद्रा में बैठे-बैठे सुनते रहे। प्रतिदिन नियमित समय पर आर्य सागर की वाचना आचार्य कालक सुनते थे।

---

३५. कम्पते मेरुचूलापि रविर्वा पश्चिमोदयः।
नातिक्रमति पर्वेदं पञ्चमीरजनीं ध्रुवम् ॥
—प्रभावक चरित, पत्रांक २५, श्लोक १२०

३६. निशीथचूर्णि, उद्देशक १०, भाग ३, पृष्ठ १३१।

अवन्ति में जब शिष्यों ने देखा कि आचार्य कालक नहीं हैं तो सब ओर उनकी खोज की पर आचार्य न मिले। तब शिष्यों ने शय्यातर से पूछा। शय्यातर ने कहा—जब आप शिष्यों को ही आचार्य ने नहीं बताया तो हमें कैसे बताते ? पुनः-पुनः शिष्यों के पूछने पर शय्यातर ने कहा—आगमों के अध्ययन में आपकी मन्द प्रवृत्ति/उपेक्षा को देखकर आचार्य को अत्यधिक खिन्नता हुई। यह सोचकर कि यहां रहने से कर्मबन्धन के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं है वे आर्य सागर के पास स्वर्ण-भूमि गये हैं। शय्यातर ने उन्हें उपालम्भ दिया। गुरु के विनय की प्रेरणा दी और अध्ययन की भी।

शिष्य समुदाय उसी क्षण अवन्ति से स्वर्ण-भूमि की ओर प्रस्थित हुआ। विशाल श्रमण संघ को विहार करते हुए देखकर लोगों ने पूछा—कौन आचार्य जा रहे हैं ? शिष्यों ने बताया कि आचार्य कालक जा रहे हैं। स्वर्ण-भूमि के श्रावकों ने सुना कि आचार्य कालक पधार रहे हैं तो उन्होंने आर्य सागर से निवेदन किया। दादागुरु के आगमन के समाचार पाकर आर्य सागर पुलकित हो उठे। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा—मैं अपने दादा गुरु से गम्भीर प्रश्न पूछूंगा। उस ज्ञान के सागर में डुबकी लगाकर विचार-मुक्ताएं प्राप्त करूंगा। मेरे धन्य भाग्य हैं जो आचार्यप्रवर यहां पधार रहे हैं।

आचार्य कालक का शिष्यवर्ग स्वर्णभूमि पर पहुंचा। आर्य सागर स्वागतार्थ पहुंचे। शिष्यों ने सागर से पूछा—आचार्य कालक आपके यहां पधारे हैं न ? आर्य सागर ने कहा—एक वृद्ध साधु के अतिरिक्त अन्य कोई श्रमण नहीं आये हैं। उपाश्रय में पहुंचकर शिष्यों ने जब आचार्य कालक को नमस्कार किया तब आर्य सागर ने पहचाना कि यही मेरे दादा-गुरु आचार्य कालक हैं। अपने किए गए अपराध और अविनय के लिए क्षमाप्रार्थी हूं। मुझे अपने कृतकार्य पर लज्जा आ रही है। क्षमा मांगने के पश्चात् सागर ने विनम्र शब्दों में पूछा—भगवन् ! क्या मैं आगम वाचना सम्यक् प्रकार से दे रहा था ? आचार्य ने कहा—तुम्हारी आगम वाचना ठीक है पर अभिमान ठीक नहीं। ज्ञान अनन्त है। मुट्ठी भर धूल एक स्थान से दूसरे स्थान पर तथा दूसरे स्थान से तीसरे स्थान पर रखने से कम हो जाती है। वैसे ही तीर्थंकरप्रदत्त ज्ञान, गणधर, आचार्य, उपाध्याय के द्वारा हम तक पहुंचते-पहुंचते अल्प और अल्पतर हो गया है, फिर अहंकार किस बात का ? आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य सागर को आगमों का गहन ज्ञान प्रदान किया। आचार्य कालक एक तेजस्वी आचार्य थे। उनका विहार

क्षेत्र विस्तृत था। पश्चिम में ईरान, दक्षिण पूर्व में जावा, सुमात्रा तक की उन्होंने पदयात्राएँ कीं। उनका शिष्य समुदाय विशाल था। उनका निमित्त और ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान भी विशद् था[३७]। यह ज्ञान उन्होंने प्रतिष्ठानपुर में आजीवकों से प्राप्त किया था[३८]। उनका समय वीर निर्वाण ४५३ (विक्रम पूर्व १७) है। इस तरह वे वीर निर्वाण पांचवीं सदी के एक विशिष्ट विद्वान और प्रभावशाली आचार्य थे।

अन्य दो और कालकाचार्य हुए हैं। पर उनके जीवन की परिचय-रेखा यहां आवश्यक न होने से नहीं दी जा रही है।

आर्य षाण्डिल्य

माथुरी युगप्रधान पट्टावली के अनुसार आचाय श्याम के पश्चात् आर्य षांडिल्य हुए हैं। आर्य षांडिल्य काश्यप गोत्रीय थे[३९]। वे जीतव्यवहार की प्रतिपालना में अत्यन्त जागरूक थे। सांडिल्य गच्छ का प्रारम्भ इन्हीं से हुआ था और वह गच्छ आगे चलकर चन्द्रगच्छ में सम्मिलित हो गया। आर्य षांडिल्य का जन्म वीर निर्वाण संवत् ३०६ में हुआ। २२ वर्ष की उम्र में श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। ४८ वर्ष तक सामान्य श्रमण पर्याय में रहे। वीर निर्वाण ३७६ में आपको वाचनाचार्य और युगप्रधान आचार्य ये दोनों पद प्रदान किये गये। ३८ वर्ष तक युगप्रधान आचार्य रहकर जिनशासन की प्रबल प्रभावना की।

आर्य सुहस्ती की परम्परा में आर्य इन्द्रदिन्न के बाद आर्य दिन्न गणाचार्य हुए। आप गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपका जीवन परिचय उप-लब्ध नहीं है।

आर्य समुद्र, आर्य मंगू और आर्य भद्रगुप्त

हिमवन्त स्थविरावली और नंदी स्थविरावली के अनुसार आचार्य षांडिल्य के उत्तराधिकारी आचार्य समुद्र थे। आचार्य देववाचक ने आपके लिए जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि

---

३७. 'जोतिस-निमित्त-बलिया'

—निशीथ चूर्णि उद्० १०, भाग ३, पत्रांक ५९

३८. 'तेण तिब्वेएण आजीवगाण सगासे निमित्त' पढियं'

—पञ्चकल्प चूर्णि, पृ० २४

३९. नन्दी स्थविरावली, १२९

आपको द्वीप-समुद्र आदि का विशिष्ट ज्ञान था। आपका उपदेश अत्यन्त प्रभावोत्पादक था। आपका विचरण क्षेत्र सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी था जिससे आपकी कीर्ति दिग्-दिगन्त में फैली हुई थी। आप समुद्र की तरह गंभीर थे। प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी आपके मन को विक्षुब्ध नहीं करती थीं[40]। आप वीर निर्वाण ४१४ में वाचनाचार्य के पद पर आसीन हुए। ४० वर्ष तक आचार्य पद पर रहकर धर्म की प्रबल प्रभावना करते रहे और वीर निर्वाण सं. ४५४ में आपका स्वर्गवास हुआ। आचार्य शीलांक ने आचार्य समुद्र का एक जीवन प्रसंग दिया है। वह यह है कि जीवन की सांध्य वेला में आचार्यश्री का जंघा-बल क्षीण हो गया जिससे वे विहार न कर सके। एक स्थान पर अवस्थित रहे और आयु पूर्ण किया[41]। आचार्य समुद्र के जीवन का दूसरा प्रसंग निशीथचूर्णि में मिलता है। वे अनासक्त थे। भिक्षा में जो भी आहार उपलब्ध होता उसको बिना स्वाद की अपेक्षा किए सभी पदार्थों को एक साथ मिलाकर प्रशान्त भाव से उसका उपयोग करते। उनके अन्तर्मानस में ये विचार लहरियाँ सदा तरंगित होतीं कि कहीं मैं रसों में आबद्ध होकर नवीन कर्म न बांध लूँ। इसलिए वे सदा अनासक्त रहते थे[42]।

आर्य मंगू आर्य समुद्र के शिष्य थे। वीर निर्वाण संवत् ४५४ में वे वाचनाचार्य के पद पर आसीन हुए। आप ज्ञानी-ध्यानी और सम्यक्दर्शन के प्रबल प्रचारक थे। आप शिष्यों को कुशलता के साथ सूत्र और अर्थ की वाचना प्रदान करते थे। निशीथ भाष्य और चूर्णि में आर्य मंगू के जीवन का एक प्रसंग प्राप्त है—एक बार आचार्य मंगू अपने शिष्यों के साथ मथुरा में पधारे। वैराग्य से छलछलाते हुए प्रवचनों को सुनकर मथुरा निवासियों के हृदय में धार्मिक भावनाएँ उद्बुद्ध हुईं। वे वस्त्र, पात्र, स्निग्ध और स्वादिष्ट पदार्थ प्रतिदिन प्रतिलाभित करते। प्रतिदिन स्वादिष्ट आहार प्राप्त होने से आचार्य मंगू ने सोचा कि यहीं पर स्थिरवास रहना अधिक श्रेयस्कर है। एक दिन जो आचार्य उग्रक्रियावादी थे वे प्रमादी हो गए। सदोष आहार का सेवन करने पर भी उसकी उन्होंने आलोचना नहीं की। प्रमाद भाव में

---

४०. नंदी स्थविरावली, गाथा २९।

४१. जंघाबल परिक्षीणानामुदधिनाम्नामार्य समुद्राणामपराक्रमं मरणमभूदिति वृद्ध प्रसिद्धिः। —आचारांग वृत्ति, १/८अ०/१ उ०

४२. पडिपक्खे अज्ज समुद्दा, ते रस गिद्धीए भीता एक्कतो सव्वं मेलेउं भुंजंति। —निशीथचूर्णि

ही आयु पूर्ण कर यक्ष योनि में समुत्पन्न हुए[43]। ज्ञान के द्वारा उन्होंने अपना पूर्वभव जाना और सोचने लगे कि मैंने जिह्वा के वश होकर यह दुर्गति प्राप्त की है। जिनधर्म प्राप्त करके भी मैं साधना से भ्रष्ट हो गया। चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता भी यदि प्रमाद को स्वीकार कर लें तो अनन्तकाय में जाकर उत्पन्न होते हैं[44]। वे अपने पापों की निन्दा करने लगे।

एक दिन उस यक्ष ने अपने शिष्यों को देखा और सोचने लगा कि मेरी तरह इन शिष्यों की भी दुर्गति न हो जाये अतः इन्हें प्रतिबुद्ध करना चाहिए। शिष्यों को प्रतिबुद्ध करने हेतु यक्ष ने ऐसा रूप बनाया जिसमें जबान लपलपा रही थीं। उस विचित्र रूप को निहार कर शिष्य मन ही मन सोचने लगे कि यह रूप बना हुआ व्यक्ति हमें कुछ कहना चाहता है। अतः उन्होंने कहा—देवानुप्रिय ! आप अपने असली स्वरूप को प्रकट करें और हमें स्पष्ट करें कि आप हमें क्या कहना चाहते हैं ? यक्ष ने कहा—हे तपस्वियो ! पूर्वभव में मैं तुम्हारा गुरु मंगू था। स्वाद के वशीभूत होने के कारण मेरी यह दुर्गति हुई है। मैं यक्ष योनि में पैदा हुआ हूँ, अतः मैं तुम्हारे से यह कहना चाहता हूँ कि तुम रसना के लोलुपी मत बनना, चारित्र का सम्यक् प्रकार से पालन करना। शिष्य यक्ष के द्वारा प्रतिबुद्ध हुए। उन्होंने कहा—हम संयम-साधना में शिथिल नहीं बनेंगे, उत्कृष्ट संयम-साधना कर जीवन को पावन बनायेंगे।

जीवन के सांध्यकाल में मंगू साधना में शिथिल हुए थे पर जीवन के उषाकाल में और मध्याह्न काल में वे बहुत ही जागरूक साधक थे। इसीलिए आचार्य देववाचक ने आचार्य मंगू को वन्दन करते हुए लिखा है—आगम अध्येता, आचार-कुशल, सूत्रार्थ का मानसिक चिन्तन करने वाले परवादीविजेता, प्रवचन-प्रभावक, ज्ञान-दर्शन-गुणसम्पन्न, श्रुत सागर के पारगामी और धृतिधर आचार्य थे।

आर्य भद्रगुप्त

आचार्य भद्रगुप्त दस पूर्वधर थे। वे ज्योतिष विद्या के प्रकाण्ड पण्डित

---

४३. निशीथचूर्णि, भाग ३/३२००, पृष्ठ १५२-५३।

४४. चउदसपुव्वधराधि, पमायओ जंतिनंतकायेतु।
एयंपि ह हा हा पावं, जीवनतए तया सरियं ॥

—आर्य मंगू कथा १०

थे। आचार्य वज्रस्वामी ने दस पूर्वों का ज्ञान आप से प्राप्त किया। आचार्य भद्रगुप्त ने जब अनशन किया तब आर्यरक्षित ने उनकी विशेष सेवा की।

आचार्य भद्रगुप्त का जन्म वीर निर्वाण ४२८ में हुआ था। वीर निर्वाण ४४९ में इक्कीस वर्ष की आयु में आर्हती दीक्षा ग्रहण कर वे वीर निर्वाण ४९४ में युगप्रधान आचार्य के पद पर आसीन हुए और ३९ वर्ष तक शासन-सेवा करने के पश्चात् वीर निर्वाण ५३३ में आपका स्वर्गवास हुआ।

यहां यह स्मरण रखना होगा कि आचार्य भद्रगुप्त का काल आचार्य वज्रस्वामी से कुछ पहले है। काल-क्रम की दृष्टि से आचार्य समुद्र और आचार्य मंगु द्वितीय आचार्य कालक से पूर्व हैं और आचार्य भद्रगुप्त द्वितीय कालकाचार्य के पश्चात् के हैं। पर तीनों का जीवन प्रसंग हमने यहां एक साथ प्रस्तुत किया है।

आर्य सिंहगिरि, आर्य समित तथा आर्य वज्रस्वामी

आर्य सुहस्ती की परम्परा में आर्य दिन्न के पश्चात् आर्य सिंहगिरि गणाचार्य के पद पर आसीन हुए। आप विशिष्ट प्रतिभा के धनी थे और जातिस्मरण ज्ञान संपन्न थे। विज्ञों का अभिमत है कि वीर निर्वाण ४९० में आप आचार्य बने और वीर निर्वाण ५४७-५७८ में आपका स्वर्गवास हुआ। आपका शिष्य समुदाय विस्तृत था। उनमें प्रमुख चार शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं—आर्य समित, आर्य धनगिरि, आर्य वज्र और आर्य अर्हद्दत्त।

आर्य समित का जन्म अवन्ती प्रदेश के तुम्बवन ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम धनपाल था जो कोट्याधीश थे। आपकी बहिन का नाम सुनन्दा था। बाल्यकाल से ही आपके अन्तर्मानस में वैराग्य का पयोधि उछालें मार रहा था, अतः आर्य सिंहगिरि के पास श्रमण दीक्षा ग्रहण की। तुम्बवन में ही श्रेष्ठी धन भी रहते थे। उनके पुत्र धनगिरि की समित के साथ प्रगाढ़ मैत्री थी। समित के दीक्षित होने के बाद धनगिरि का पाणिग्रहण सुनन्दा के साथ सम्पन्न हुआ। किन्तु धनगिरि का मन सांसारिक विषय-वासना में नहीं था। उसने भी समित के उपदेश से आर्हती दीक्षा ग्रहण की।

आर्य समित मन्त्रविद्या के विशिष्ट ज्ञाता थे। अचलपुर के सन्निकट कृष्णा और वेणा नदियों के तट पर देवशर्म का एक आश्रम था जिसमें ५०० तापस रहते थे। दो नदियों से घिरा होने के कारण उस आश्रम का अपरनाम ब्रह्मदीपक था। विशिष्ट पर्व दिनों में अपने मत की प्रबल प्रभावना करने के लिए पैरों में विशिष्ट लेप लगाकर वह तापस देवशर्म नदी के जल पर चलता था और यह उद्घोषणा करता था कि मेरे समान चमत्कार

जैन श्रमणों में नहीं है। जब आर्य समित वहाँ पधारे, तब श्रावकों ने तापस के चमत्कार की बात कही। आचार्य समित समझ गए कि तापस अपने पैर में लेप लगाकर लोगों को गुमराह कर रहा है। उन्होंने श्रावकों से कहा—यह तो केवल पैरों पर लगाये हुए लेप का प्रभाव है।

श्रावकों ने तापसों को अपने यहाँ भोजन के लिए आमन्त्रित किया और चरणामृत लेने के बहाने से पैरों को अच्छी तरह से मल-मल कर धो दिया। भोजनोपरान्त जब वे पुनः लौटे तो नदी पार नहीं कर सके क्योंकि चरणामृत लेने के बहाने से उनके पैरों को धोने के कारण लेप भी धुल गया था। वे नदी में ही डुबकियाँ लगा रहे थे। उसी समय आचार्य समित वहाँ पहुंचे और नदी को सम्बोधित करके कहा—सरिते! मुझे उस पार जाना है अतः रास्ता दो! यह कहते ही नदी का प्रवाह दो भागों में विभक्त हो गया और आचार्य उल्लास के साथ नदी के दूसरे तीर पर चले गये। आचार्य समित ने जनसमूह को उपदेश देते हुए कहा—इस प्रकार चमत्कार दिखाना धर्म नहीं है। उन्होंने आध्यात्मिक साधना का महत्व बताया जिससे प्रभावित होकर ५०० तापसों ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। ५०० तापस जो ब्रह्मदीपक आश्रम में रहते थे उनके दीक्षित हो जाने से उनके नाम पर ब्रह्मदीपिका शाखा प्रचलित हुई। इस प्रकार आचार्य समित ने धर्म की प्रबल प्रभावना की।

आर्य धनगिरि ने युवावस्था में अपनी पत्नी का परित्याग कर आर्हती दीक्षा ग्रहण की थी। वे जिस समय दीक्षित हुए उस समय उनकी पत्नी गर्भवती थी। जब बच्चे ने जन्म लिया, तो उसका जन्मोत्सव मनाया गया। उत्सव में सुनन्दा को उसकी सखियों ने घेर रखा था। सखियों ने कहा—बालक के पिता धनगिरि यदि जैन श्रमण नहीं बनते और वे इस समय यहाँ उपस्थित होते तो जन्मोत्सव का दूसरा ही रूप होता। जैसे चन्द्र के बिना आकाश की शोभा नहीं वैसे ही स्वामी के बिना घर की शोभा नहीं। सखियों के परस्पर वार्तालाप को नवजात शिशु ने सुना तो उसका ध्यान विशेष रूप से उस पर केन्द्रित हुआ। भीतर ही भीतर ऊहापोह करने लगा। ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से बालक को जातिस्मरण ज्ञान की उपलब्धि हुई।[४५] चिन्तन की धारा आगे बढ़ी। मेरे पूज्य पिता ने संयम ग्रहण किया है, मेरे लिए भी यही मार्ग श्रेष्ठ है पर इस पवित्र पथ का पथिक बनने

---

४५. ता उसवो स सन्नी, निम्मलमइनाणसंगओ सुणइ।
महिलाणं तमुल्लावं जाइसरणो तओ॥
—उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पत्रांक २०८/३१

में माँ की ममता बाधक बनेगी। माँ की ममता के गाढ़ बन्धन को शिथिल करने के लिए बालक ने रुदन करना प्रारम्भ किया और वह सदा रोता रहा। सुनन्दा बालक के रोने के कारण न सुखपूर्वक सो सकती थी, न बैठ सकती थी और न भोजन ही कर सकती थी। सुनन्दा ने बालक के रुदन का कारण जानने के लिए कई प्रयत्न किए—वह मन्त्रवादियों, यन्त्रवादियों, चिकित्सकों आदि के द्वार पर बालक को प्रसन्नवदन देखने के लिए भटकी किन्तु निदान न मिला। देखते-देखते छह महीने पूर्ण हो गए। वह बालक के सतत रुदन से इतनी खिन्नमना हो गई थी कि उसे ये छह मास भी भी छह सौ वर्षों के समान लगे।[46]

एक दिन आचार्य सिंहगिरि का तुम्बवन में प्रवेश हुआ। आर्य समित और धनगिरि उनके साथ थे। भिक्षा के समय धनगिरि ने गुरु से आज्ञा माँगी। उसी समय एक पक्षी का शब्द आचार्यश्री के कर्ण कुहरों में गिरा। पक्षी के स्वर को सुनते ही निमित्तज्ञान के विशिष्ट ज्ञाता सिंहगिरि ने मुनि धनगिरि से कहा—पक्षी का यह शब्द विशिष्ट लाभ को प्रदान करने वाला है। अतः तुम्हें भिक्षा में सचित्त और अचित्त जो भी प्राप्त हो उसे बिना विचार किये ले आना। धनगिरि ने गुरु के आदेश को 'तथेति' कहकर स्वीकृति दी। धनगिरि और आर्य समित दोनों ही सुनन्दा के घर की ओर चल दिए। जब वे वहाँ पहुंचे तो सुनन्दा बालक के अनवरत रुदन से बहुत ही परेशान हो चुकी थी। आर्य धनगिरि और आर्य समित ने उसके मुर्झाए हुए चेहरे को देखा। उसने नमन कर निवेदन किया—पुत्र के अनवरत रुदन ने मुझे खिन्न कर दिया है। संतान के संरक्षण का भार माता और पिता दोनों पर ही होता है। इतने दिन बालक का लालन-पालन मैंने किया है, अब आप इसे संभालें।

धनगिरि ने चिन्तन कर कहा—मैं इस वत्स को सहर्ष स्वीकार कर सकता हूं किन्तु भविष्य में तुम पुनः इसे न ले सकोगी। इसलिए पहले से ही सोच लो।

सुनन्दा तो पहले से ही परेशान थी, उसने कहा—आर्य समिति और

---

४६. एवं जग्मुश्च षण्मासा षड् वर्षशतसन्निभा ॥

—प्रभावक चरित्र, पृ० ३; श्लोक ५५

मेरी सहेलियां इस बात की साक्षी हैं कि मैं भविष्य में अपने पुत्र के लिए किसी भी प्रकार का कोई प्रश्न उपस्थित नहीं करूंगी।[47]

सुनन्दा के आग्रह से वह बालक जो छह माह का था उसे झोली में ग्रहण कर लिया। धनगिरि के पास आते ही बालक ने रोना बन्द कर दिया क्योंकि उसका उद्देश्य सफल हो चुका था। धनगिरि बालक सहित झोली को लेकर गुरु के पास पहुंचे। झोली बहुत ही भारी थी। आर्य सिंहगिरि ने वह झोली अपने हाथ में ली। वज्र की तरह झोली बहुत ही भारी होने के कारण आचार्य सिंहगिरि ने कहा—यह वज्रोपम क्या उठा लाए हो? सहज रूप से निकले हुए शब्द के कारण बालक का नाम वज्र स्वामी रख दिया गया। वज्र का सौम्य बदन, तेजस्वी भाल, चमकते हुए दिव्य नेत्र उसके शुभ भविष्य की सूचना दे रहे थे। आर्य सिंहगिरि को लगा कि यह बालक धर्म की अपूर्व प्रभावना करेगा। सिंहगिरि को बहुत ही प्रसन्नता हुई। उन्होंने साध्वियों के उपाश्रय में जो शय्यातर महिला थी उसे वह शिशु दे दिया और कहा—इस बालक के पालन-पोषण का भार तुम्हारे पर है। यह संघ की धरोहर है, अतः इसका पूर्ण ध्यान रखना। वह शय्यातर श्राविका मां की तरह उस बालक का पालन-पोषण करने लगी। बालक वज्र का अधिकांश समय श्रमणियों के परिपार्श्व में ही व्यतीत होता। झोले में झूलता हुआ तल्लीनता से साध्वियों के द्वारा की गई स्वाध्याय को सुनता। वह प्रत्येक शब्द, स्वर, व्यंजन, बिन्दु, घोष पर विशेष ध्यान देता। केवल सुनने से उस बालक ने एकादशांगी का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया।[48]

सुनन्दा साध्वियों के दर्शनार्थ उपाश्रय में आती थी। अपने प्यारे पुत्र को मुस्कराते हुए देखकर उसकी ममता जाग उठती। उसने बालक को पुनः लेने के लिए साध्वियों से निवेदन किया। साध्वियों ने सुनन्दा को समझाया कि जैसे वस्त्र पात्र तुम मुनिराज को प्रदान करती हो और पुनः उसे ग्रहण नहीं करतीं वैसे ही पुत्र का दान तुम कर चुकी हो इसलिए पुनः ग्रहण नहीं कर सकतीं। तुम यहां आकर इस बालक का पालन-पोषण कर सकती हो। शय्यातर श्राविका ने कहा—हम गुरुदेव के आदेश के बिना इसे तुम्हें प्रदान नहीं कर सकतीं।

---

४७. अतिखिन्ना च साऽवादीदत्ताऽर्थ्यं समितो मुनिः।
साक्षी सस्यश्च साक्षिण्यो भावे नाऽतः किमप्यहम् ॥

—प्रभावक चरित्र पत्रांक ४/६४

४८. उपदेशमाला; विशेष वृत्ति, पत्रांक २१०, श्लोक ६७, ६८।

पुनः आचार्य सिंहगिरि का तुम्बवन में पदार्पण हुआ। सुनन्दा ने मुनि धनगिरि से पुत्र की माँग की। मुनि धनगिरि ने कहा—तुमने आर्य समित और अपनी सहेलियों के साक्ष्य में मुझे पुत्र-दान किया है। इस पर अब गुरु का अधिकार है। सुनन्दा ने राजा के पास पहुंचकर न्याय की याचना की। राजा ने मुनिसंघ को राजसभा में आमंत्रित किया। राजा ने दोनों ही पक्षों की बात सुनकर घोषणा की कि यह बालक अपनी रुचि से जिसके पास जाना चाहता है, वह उसी का है। राजा ने पहला अवसर मां को दिया। सुनन्दा बालक को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए मधुर भोजन और खेलने के लिए खिलौने साथ लेकर आई थी। उसने वे सब आकर्षण की वस्तुएँ बालक के समक्ष प्रस्तुत कीं और अपनी ओर बुलाने का उपक्रम करने लगी। पर बालक के मन में तो उन भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण का अभाव था। इसलिए सुनन्दा सफल न हो सकी।

दूसरा अवसर धनगिरि मुनि को दिया गया। धनगिरि मुनि ने रजोहरण बालक के सामने रखा और कहा—वत्स ! तू तत्त्वज्ञ है। कर्मरज को हरण करने के लिए यह रजोहरण तुम्हारे सामने है। प्रसन्न मन से बालक ने उछल कर रजोहरण ग्रहण कर लिया। राजा ने न्याय किया—बालक संघ का है। उस समय वज्र तीन वर्ष का था। सुनन्दा ने चिन्तन किया—मेरे पति श्रमण हैं और मेरा भाई भी श्रमण है और पुत्र भी श्रमण बनने के लिए ललक रहा है अतः अब मैं भी संसार में क्यों रहूँ ? उसने भी आचार्य सिंहगिरि के पास दीक्षा ग्रहण की और वह साध्वी संघ में मिल गई।

वीर निर्वाण ५०४ (विक्रम संवत् ३४) में बालक वज्र ने आठ वर्ष की लघु वय में दीक्षा ग्रहण की। बालक वज्र मुनि आचार संहिता के प्रति पूर्ण निष्ठावान थे। एक बार आर्य सिंहगिरि विहार करते हुए किसी पर्वत की तलहटी में पहुंच गए। उधर प्रलयंकारी वर्षा आरम्भ हो गई। वर्षा से बचने के लिए श्रमणों ने गिरिगुफाओं में आश्रय ग्रहण किया। उस समय आर्य वज्र के पूर्वभव के मित्र जृम्भक देव ने आहार शुद्धि की परीक्षा लेनी चाही। श्रेष्ठी के रूप में देव ने आर्य सिंहगिरि से प्रार्थना की कि हमारा शिविर पास में ही है, आहार शुद्ध है। अतः आप लघु मुनि को आदेश दें कि वे हमारे यहाँ भिक्षा के लिए पधारें। बालमुनि चले किन्तु वर्षा की नन्हीं-नन्हीं बूंदें आ जाने से वे गुफा के द्वार पर ही रुक गये। जब वर्षा रुकी तो ईर्या समिति शोधन करते हुए वे वहाँ पर पहुंचे। वज्रमुनि बहुत ही जागरूक थे। उन्होंने देखा कि यह आहार आधाकर्मी दोषयुक्त है और देवपिण्ड है। अतः उस आहार को ग्रहण नहीं किया। यद्यपि उस समय वज्र मुनि क्षुधा

से बहुत ही पीड़ित थे तथापि उन्होंने आहार ग्रहण नहीं किया।[४९] इस प्रकार वे प्रथम बार परीक्षा में समुत्तीर्ण हुए। ग्रीष्म ऋतु थी, चिलचिलाती धूप गिर रही थी। वाल मुनि वज्र भिक्षा के लिए घूम रहे थे। जृम्भक देव ने पुनः मानव रूप बनाकर वज्र मुनि से प्रार्थना की। वज्र मुनि देव निर्मित भव्य भवन में पहुंचे। देव ने शरद् कालीन बढ़िया मिष्ठान से भरा थाल प्रस्तुत किया। मिष्ठान को देखकर वज्र मुनि समझ गए कि यह मिष्ठान देव-पिण्ड हैं अतः उन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया। जृम्भक देव उनकी चारित्रिक जागरूकता को देखकर प्रसन्न हुआ। उसने वज्र मुनि को गगन-गामिनी विद्या प्रदान की।

वज्र मुनि श्रुत संपदा के धनी थे। आर्य सिंहगिरि शौचार्थ अन्य मुनियों के साथ बाहर पधारे हुए थे और कुछ मुनि भिक्षा के लिए गए हुए थे। उपाश्रय में एकाकी वज्र मुनि ही थे। शान्त वातावरण में वज्रमुनि के मन में आगम वाचना प्रदान करने की भावना जागृत हुई। उन्होंने श्रमणों के उपकरणों को सामने रखा और उन्हें श्रमण मानकर आगम वाचना देने का कार्य प्रारम्भ किया। वाचना देते-देते वज्र मुनि तल्लीन हो गये। उन्हें समय का भी ध्यान नहीं रहा। आर्य सिंहगिरि उपाश्रय के सन्निकट पहुंचे तो उनके कर्ण कुहरों में आगम के पद्य गिरे। आर्य वज्र की मधुर ध्वनि ने आचार्य के मन को मोह लिया। वे कुछ समय उपाश्रय के बाहर खड़े रहकर प्रत्येक आगम के पद्य की व्याख्या सुनते रहे। व्याख्या बहुत ही स्पष्ट थी और विवेचन भी। आचार्य सिंहगिरि ने सोचा आर्य वज्र ज्ञान गुण से सम्पन्न है। आर्य वज्र की ज्ञान-गरिमा को अन्य मुनिगण नहीं जानते हैं। दूसरे स्थविर मुनि इस बाल मुनि की अवज्ञा न कर दें इसलिए मुझे अन्यत्र बिहार करना चाहिए। आचार्य ने अपने प्रस्थान की घोषणा कर दी। विद्यार्थी मुनियों ने कहा—भगवन् ! आपके अभाव में हमें यहाँ पर आगम वाचना कौन देगा ? आचार्य सिंहगिरि ने कहा—आगम वाचना का कार्य मेरा लघु शिष्य वज्र करेगा।

विनीत शिष्यों ने 'तथैति' कहकर आर्य सिंहगिरि के कथन को स्वीकार किया। आर्य सिंहगिरि के विहार करने के पश्चात् आर्य वज्र ने आगम वाचना देना प्रारम्भ किया। आर्य वज्र की वाचना देने की पद्धति इतनी

---

४९. नियतं देवपिण्डोऽयं साधुनां नहि कल्पते।
तस्मादनात्तपिण्डोऽपि व्रजामि गुरुसन्निधौ ॥
—प्रभावक चरित्र, पत्रांक ६, श्लोक १३२

सुन्दर और सरस थी कि मन्दमति श्रमण भी उनकी वाचना को अच्छी तरह से ग्रहण कर लेते। कुछ समय के बाद आचार्य सिंहगिरि पुनः लौटकर पधारे। सभी श्रमणों ने आचार्य से निवेदन किया कि आर्य वज्र की आगम वाचना देने की शैली बहुत ही बढ़िया है। आप हमारे अध्ययन के लिए उनको नियुक्त कर दें। आचार्य ने तपोयोगपूर्वक विधि सहित वज्र स्वामी को आगम की वाचना दी। प्रतिभा के धनी आर्य वज्र को विशेष अध्ययन के लिए आर्य भद्रगुप्त के पास प्रेषित किया। वे अवन्ति के पास पहुंचे। उस समय सन्ध्या हो चुकी थी अतः रात्रि निवास उन्होंने नगर के बाहर ही किया। उसी रात्रि को आचार्य भद्रगुप्त ने स्वप्न देखा कि दूध से भरा हुआ पात्र था, कोई अतिथि आकर उसे पी गया। प्रातःकाल आचार्य भद्रगुप्त ने अपने शिष्यों से कहा—मुझे जो स्वप्न आया है उसका भाव यह है कि दस पूर्वो का ग्राहक विद्यार्थी मेरे पास आयेगा। वार्तालाप चल ही रहा था कि आर्य वज्र वहाँ पहुंच गए। आर्य वज्र को पाकर भद्रगुप्त को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने बहुत ही स्नेह के साथ अपना सम्पूर्ण श्रुत उन्हें अध्ययन करवाया। दस पूर्व का अध्ययन सम्पन्न कर आर्य भद्रगुप्त की आज्ञा प्राप्त कर वज्र मुनि आर्य सिंहगिरि के पास आ गये। योग्य शिष्य को देखकर सिंहगिरि को बहुत ही आह्लाद हुआ।

आचार्य सिंहगिरि तन से बहुत ही वृद्ध हो चुके थे। वीर निर्वाण ५४८ (विक्रम संवत ७८) में आचार्य सिंहगिरि ने आर्य वज्र को आचार्य पद पर नियुक्त किया। पूर्वभव के मित्र देवों ने उस समय महान उत्सव का आयोजन किया।[50] आचार्य वज्र स्वामी कुशलतापूर्वक संघ का नेतृत्व करते हुए ५०० श्रमणों के साथ भारत के विविध अंचलों में विचरण करने लगे।[51]

एक बार आर्य वज्र पाटलिपुत्र पधार रहे थे। पाटलिपुत्र के अधिपति राजा ने वज्र स्वामी के आगमन की सूचना प्राप्त कर प्रसन्नता व्यक्त की और स्वयं वज्र स्वामी की अगवानी के लिए पहुँचा। वज्र स्वामी को

---

५०. (क) आवश्यक चूर्णि, ७६७।

(ख) वज्रप्राग्जन्मसुहृदो ज्ञानाद् विज्ञाय ते सुराः।
तस्याचार्य प्रतिष्ठायां चक्रुरुत्सवमद्भुतम्॥

—प्रभावक चरित्र, पत्रांक ९

५१. वयरसामि वि पंचहिं अणगारसयेहिं संपरिवुडो विहरइ।

—आवश्यक मलय ३८६ (२)

वन्दन कर 'अभिवंदिओ अभिणंदिओ'—वंदन करता हूँ—अभिनंदन करता हूं। इस प्रकार उसने वज्र स्वामी का भव्य स्वागत किया।

आचार्य वज्र स्वामी के पावन प्रवचनों को सुनकर राजकुमार, श्रेष्ठी-पुत्र और अन्य प्रजागण बहुत ही प्रभावित हुए। सारे नगरी में वज्रस्वामी के प्रभावोत्पादक प्रवचन की चर्चा होने लगी। धन श्रेष्ठी की सुपुत्री रुक्मिणी ने भी वज्र स्वामी का नाम सुना। उसे स्मरण आया कि उसकी ज्ञानशाला में जो श्रमणियाँ विराजी थीं, उन्होंने भी वज्रस्वामी के गुणानुवाद करते हुए कहा था कि वे अद्भुत रूप के धनी हैं। वे बहुश्रुत हैं, गुप्त ब्रह्मचारी हैं, अनेक गुणों के धारक हैं। शरद्चन्द्र की भांति उनका चारित्र निर्मल है। रुक्मिणी वज्रस्वामी के रूप और गुणों पर उसी समय मुग्ध हो चुकी थी। उसने अपने पूज्य पिताजी से कहा—मैं वज्रस्वामी के साथ ही पाणिग्रहण करूँगी, नहीं तो अग्नि की जाज्वल्यमान ज्वालाओं की शरण ग्रहण कर लूँगी। मैंने अपने मन में उनको अपना पति चुन लिया है। उत्तम कुल की कन्याएँ दो पति का वरण नहीं करती।[52] पुत्री की बात सुनकर पिता चिन्तित हो उठे। जब वज्रस्वामी वहाँ पर पधारे तो वह शतकोटि की सम्पदा के साथ रुक्मिणी कन्या को लेकर वज्रस्वामी के पास पहुंचा।

आचार्य वज्रस्वामी अनेक लब्धियों के धारक थे। क्षीराश्रवलब्धि के कारण उनकी वाणी मधु मिश्रित दुग्ध से भी अधिक मधुर थी। रूप और वाणी के सुमेल के कारण अनेक नारियाँ वज्रस्वामी पर मुग्ध हो चुकी थीं। प्रवचनोपरांत धन श्रेष्ठी ने वज्रस्वामी से निवेदन किया—आर्य जैसा आपका रूप अद्भुत है वैसे मेरी पुत्री भी रूप संपदा से कम नहीं है। शत-कोटि सहित आप इस पुत्री को स्वीकार करें।

आचार्य वज्रस्वामी ने कहा—श्रेष्ठिन् ! तुम स्वयं भोगों के दलदल में फंसे हुए हो, इसीलिए तुम मुझे भी भोगों में आबद्ध करना चाहते हो पर स्मरण रखो, भोग भुजंग के समान भीषण हैं। मधुलिप्त असिधारा के समान कष्टकारक हैं। किंपाक फल के सदृश हैं। तुम भौतिक आकर्षण देकर मेरी तप संपदा को छीनना चाहते हो पर स्मरण रखो, ये विषय भोग संयम साधना के सामने तुच्छ हैं। यदि तुम्हारी पुत्री मुझ पर अनुरक्त है, छाया

---

५२. जइ मज्झ वरो वइरो, होही ताहं विवाहमीहेमि।
जालाजालकरालो, जलणो मे अहवा सरणं॥
—उपदेशमाला, विशेष वृत्ति, पृ० २१४/२५०

की तरह अनुसरण करना चाहती है तो वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र से युक्त संयम धर्म को स्वीकार करे।

आचार्य वज्रस्वामी के उपदेश से प्रभावित होकर रुक्मिणी ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की[53]। आर्य वज्र अनेक विद्याओं में निष्णात थे। उन्होंने आचारांग सूत्र के महापरिज्ञा अध्ययन से गगन गामिनी विद्या प्राप्त की थी। एक बार वे पूर्व भारत से उत्तर भारत में आए। उत्तर भारत में उस समय भयंकर दुष्काल था, क्षुधा से लोग छटपटा रहे थे। अत: उन्होंने एक चद्दर बिछा दी सम्पूर्ण संघ को शय्यातर सहित उस पर बिठा दिया और उस चद्दर को अपनी विद्या के बल से उत्तर भारत की महापुरी नगरी में लाए। किन्तु वहां पर भी राजकीय संकट उपस्थित होने पर पर्युषण महापर्व की आराधना सम्यक् प्रकार से सम्भव नहीं थी अत: पुन: संघ को आकाश मार्ग से माहेश्वरी उद्यान में ले गए। उनकी चामत्कारिक विद्या से प्रभावित होकर हजारों अजैन व्यक्तियों ने जैन धर्म स्वीकार किया।

धर्मशासन की प्रभावना करते हुए वे दक्षिणांचल में पधारे। उन्होंने कफ की शान्ति हेतु अपने शिष्य से सोंठ मंगवाई। उपयोग करने के बाद उन्होंने वह सोंठ का नन्हा सा टुकड़ा अपने कान के ऊपरी भाग पर रख लिया और वे उसे विस्मृत हो गए। उन्हें अपनी स्मृति की क्षीणता का भान हुआ और उन्हें लगा कि अब मेरा आयुष्य कम रह गया है। उन्होंने अपने ज्ञान दर्पण में यह भी अनुभव किया कि भयंकर दुष्काल से जनमानस पीड़ित होने वाला है। यह दुष्काल पूर्व दुष्कालों से अधिक भयंकर होगा। अत: उन्होंने अपने शिष्य वज्रसेन को आदेश दिया कि वे ५०० शिष्यों के साथ सोपारक देश की ओर जाएं और जब तक सुभिक्ष न हो जाए तब तक उसी क्षेत्र में विचरण करें। उन्होंने अपने शिष्य वज्रसेन से यह भी कहा कि जिस दिन एक लाख मुद्राओं के मूल्य के चावलों के आहार में कहीं पर विष मिलाने की तैयारी की जा रही हो, उस दिन तुम समझ लेना कि दुष्काल का

---

५३. तत्रैव महाधनधनश्रेष्ठिनन्दना रुक्मिणी।
प्रतिबोध्य तेन भगवता निर्लोभचूड़ामणिना प्रव्राजिता।
—विविध तीर्थ कल्प, पाटलिपुत्र नगरकल्प पृ० ६६

यह अन्तिम दिन है। उसके दूसरे दिन सुकाल हो जाएगा[54]। गुरु के आदेश को शिरोधार्य कर वज्रसेन मुनि ने सोपारक (कोंकण) की ओर विहार कर दिया और वे धन-धान्य से परिपूर्ण उस क्षेत्र में विचरण करने लगे। आर्य वज्रस्वामी जिस क्षेत्र में विचरण कर रहे थे धीरे-धीरे दुष्काल का प्रभाव बढ़ रहा था। कई दिनों तक श्रमणों को भिक्षा प्राप्त नहीं हुई। क्षुधा से पीड़ित श्रमणों को अपनी आंखों से निहार कर वज्रस्वामी का दयालु हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने विद्या बल से आहार प्राप्त कर शिष्यों को दिया और उसके पश्चात् आचार्य श्री ने अपने शिष्य वर्ग के समक्ष दो विकल्प प्रस्तुत किए—या तो लब्धि पिण्ड अर्थात् लब्धि के द्वारा प्राप्त आहार को ग्रहण करें या अनशन कर निर्दोष संयम की साधना करें। आचार्यश्री इस बहाने से अपने शिष्यों का परीक्षण करना चाहते थे। संयमनिष्ठ श्रमणों ने कहा—हमें लब्धिजन्य आहार प्राप्त कर जीवन यापन करने की इच्छा नहीं है। जीवन में भोजन बहुत किया है, अब हम विधिपूर्वक अनशन व्रत ग्रहण करेंगे और उत्कृष्ट चारित्र का पालन कर अपने लक्ष्य को प्राप्त होंगे। मारणान्तिक स्थिति में अपने शिष्य समुदाय का दृढ़ मनोबल देखकर आचार्य को प्रसन्नता हुई। अपने विशाल शिष्य समुदाय सहित आचार्य वज्रस्वामी ने गिरिशृंग की ओर प्रस्थान किया। उस समय उनके साथ एक लघु शिष्य भी था। आचार्य ने बहुत ही मधुर शब्दों में उससे कहा—वत्स ! अनशन का मार्ग बहुत ही कठिन है। तुम किसी ग्राम में या नगर में रुक जाओ[55]। पर वह बाल मुनि रुकना नहीं चाहता था। आर्य वज्रस्वामी ने उस बालमुनि को किसी कार्य के बहाने नगर में भेज दिया और स्वयं ५०० शिष्यों के साथ आगे बढ़ गये। शिष्य लौटकर आया और वहां पर आचार्यश्री और अन्य मुनियों को न देखकर शिष्य सोचने लगा कि आचार्यदेव ने मुझे बालक समझकर अनशन करने के लिये अयोग्य समझा होगा। पर क्या मैं इतना शक्तिहीन हूं ? क्या मैं अनशन नहीं कर सकता ? संयम की रक्षा के लिए

---

५४. इत्याकर्ण्य मुनिः प्राह, गुरुशिक्षाचमत्कृतः।
धर्मशीले शृणु श्रीमद्वज्रस्वामिनिवेदितं॥
स्थालीपाके किलैकत्र, लक्षमूल्ये समीक्षिते।
सुभिक्षं भावि सविधं, पाकं मा कुरु तद्वृथा॥

—प्रभावक चरित्र पृ० ८/१९०-१९१

५५. अज्ज वि तं वच्छ लहू ! अच्छ सु एत्थेव ताव पुरे॥

—उपदेशवृत्ति पृ० २१८, श्लो० ४१

गुरुदेव अनशन करने जा रहे हैं, मुझे भी उन्हीं के पद चिन्हों पर चलना चाहिए। इस विचार से उस बाल मुनि ने पर्वत की तलहटी में एक तप्त पाषाण शिला पर पादपोपगमन संथारा ग्रहण कर लिया। मुनि का कोमल शरीर उस भीष्म तप्त आग से झुलस गया और उत्कृष्ट भावों से अन्तर्मुहूर्त काल में ही आयु पूर्ण कर लिया। देवों ने मुनि के उत्कृष्ट भावों की सराहना की।

वज्रस्वामी और उनके शिष्य अनशनपूर्वक दक्षिण प्रदेश के सांग्या-पर्वत पर आत्मचिंतन में लीन थे। जब उन्होंने दिव्य ध्वनि सुनी तो एक वृद्ध श्रमण ने वज्र स्वामी से दिव्य ध्वनि का कारण पूछा। वज्र स्वामी ने बताया कि उस बाल मुनि ने अनशन कर स्वर्ग प्राप्त किया है। वे सभी मुनि आत्मसाधना में अधिक तल्लीन हो गए। उस पर्वत पर रहने वाली व्यंतर देवी ने विविध प्रकार के उपसर्ग मुनियों को दिए किन्तु सभी मुनि उन उपसर्गों को शान्त चित्त से सहन करते रहे। वज्रस्वामी ने देखा हमारे यहां रहने से व्यंतरनी देवी को कष्ट होगा। इसलिए वे दूसरे पर्वत पर चले गए और वहीं समाधिस्थ होकर आयु पूर्ण किया। इस प्रकार जिनशासन की उस विमल विभूति ने वीर निर्वाण संवत् ५८४ में स्वर्गारोहण किया। आर्य वज्रस्वामी के स्वर्गवास के साथ ही दशपूर्व और चतुर्थ अर्धनाराचसंहन का विच्छेद हो गया।[56]

वज्रस्वामी आठ वर्ष तक गृहस्थाश्रम में रहे। अस्सी वर्ष तक उन्होंने संयम पर्याय का पालन किया। छत्तीस वर्ष तक वे युगप्रधान आचार्य के पद से अलंकृत रहे। इस प्रकार कुल उनकी ८८ वर्ष की आयु हुई। वे जैन शासन के प्रभावशाली आचार्य थे। उनका जीवन अनेक विस्मयकारी घटनाओं से अनुस्यूत है। आर्य वज्र स्वामी के नाम पर ही वाज्री शाखा का प्रादुर्भाव हुआ।

आर्य वज्रसेन

आर्य वज्रसेन का जन्म वीर निर्वाण ४९२ में हुआ। आपने नौ वर्ष की नन्हीं उम्र में वीर निर्वाण ५०१ में श्रमण दीक्षा ग्रहण की। ११६ वर्ष तक आप सामान्य श्रमण पर्याय में रहकर आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन करते रहे। वीर निर्वाण संवत ६१७ में आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र के पश्चात्

---

५६. वास पंचसएहिं अज्जवयरे दसमं पुव्वं, संघयणचउक्कं च अवगाच्छिही।

—विविध तीर्थ कल्प, पृ० ३८

युगप्रधान आचार्य पद पर रहकर वीर निर्वाण संवत् ६२० में १२८ वर्ष का आयु पूर्ण कर स्वर्गस्थ हुए।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि आचार्य वज्रस्वामी ने अपने शिष्य वज्रसेन को सोपारक (कोंकण) की ओर भेजा था किन्तु वहाँ पर भी भयंकर दुष्काल के कारण भिक्षा मिलना असंभव हो गया। निर्दोष भिक्षा के अभाव में सात सौ चौरासी श्रमणों ने अनशन कर अपने उत्कृष्ट संयम का परिचय दिया। सभी लोग क्षुधा से छटपटा रहे थे। जिनदास श्रेष्ठी ने एक लाख स्वर्णमुद्रा में एक अंजलि अन्न मोल लिया। उसका दलिया बनाया गया उसमें विष मिलाकर समस्त परिवार के साथ वह खाने की तैयारी में था, उसी समय वज्रसेन उसके वहां पर भिक्षा के लिए पधारे। श्रेष्ठी-पत्नी ईश्वरी ने निवेदन किया कि यह दलिया आपश्री को देने योग्य नहीं है क्योंकि इसमें विष मिलाया गया है। भूख से छटपटा कर मरने के बजाय इस प्रकार प्राण त्यागना उचित समझा है। आर्य वज्रसेन ने आर्य वज्रस्वामी के द्वारा की गई भविष्य-वाणी के अनुसार सुभिक्ष की घोषणा कर सभी के प्राणों की रक्षा की। दूसरे दिन अन्न से परिपूर्ण जहाज आ गए। श्रेष्ठी जिनदास ने वह अन्न लेकर गरीबों को वितरित कर दिया। कुछ समय के पश्चात् वर्षा होने से सर्वत्र आनन्द की उर्मियां उछलने लगीं। श्रेष्ठी जिनदास ने अपनी विराट् सम्पत्ति जन कल्याण के लिए न्यौछावर कर अपनी पत्नी ईश्वरी और नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर — चार पुत्रों के साथ आर्हती दीक्षा ग्रहण की[57]।

आर्य वज्रसेन प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। दुष्काल के परिसमाप्त होने पर उन्होंने पुनः श्रमण संघ को एकता के सूत्र में पिरोया और श्रमण संघ में अभिनव चेतना जागृत की किन्तु इस दुष्काल से अनेक श्रमणों का स्वर्गवास हो गया जिससे कई वंश, कुल, गण विच्छेद हो गए।

---

५७. (क) कल्पसूत्र, पृष्ठ ३०६, प्रकाशक—श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान, गढ़ सिवाना।

(ख) तपागच्छ पट्टावली, भाग १, स्वोपज्ञवृत्ति, (पं. कल्याण विजयजी) पृष्ठ ७१

(ग) जैन साहित्य संशोधक, खण्ड २, अंक ४ में प्रकाशित विचारश्रेणी परिशिष्ट, पृष्ठ १०

आर्य रक्षित

युगप्रधान आचार्यों की परम्परा में आर्य रक्षित का विशिष्ट स्थान है। मध्यप्रदेश के अन्तर्गत दशपुर नगर में वीर निर्वाण संवत् ५२२ (वि. सं. ५२) में उनका जन्म हुआ। उनके पिता का नाम सोमदेव था, जो राजपुरोहित थे और साथ ही कलाविद् भी थे। उनकी माता का नाम रुद्रसोमा था। जो जैन श्राविका थीं और बहुत ही मधुरभाषिणी, उदारहृदया महिला थीं। आर्य रक्षित के लघु भ्राता का नाम फल्गुरक्षित था। दोनों ही पुत्र मेधावी थे। पिता ने वेदों का सांगोपांग अध्ययन करवाया था। किन्तु आर्य रक्षित का जिज्ञासु मन विशेष अध्ययन करने के लिए ललक रहा था अतः पिता की अनुमति लेकर अध्ययन के लिए पाटलिपुत्र पहुंचे। कुछ ही समय में अध्ययन सम्पन्न कर वे दशपुर लौटे। राजपुरोहित होने के कारण दशपुर के अधिपति राजा ने आर्य रक्षित का विशिष्ट सम्मान किया। नागरिकों ने भी एक विशिष्ट विद्वान समझकर आर्य रक्षित का अभिवादन किया। सभी के द्वारा सम्मान प्राप्त करने के बाद आर्य रक्षित अपनी माता रुद्रसोमा के पास पहुंचा। माता रुद्रसोमा उस समय सामायिक व्रत की साधना कर रही थी। उसने आर्य रक्षित का वर्धापन नहीं किया और न आशीर्वाद ही प्रदान किया।

माँ का आशीर्वाद न मिलने से आर्य रक्षित का चेहरा मुर्झा गया। वह मन ही मन सोचने लगा कि इतना गम्भीर अध्ययन कर वर्षों के बाद लौटा तो भी माँ का मन पुलकित क्यों नहीं हुआ ? जिस अध्ययन से माँ को सन्तोष न हो वह अध्ययन ही बेकार है।[58] रुद्रसोमा की सामायिक का समय सम्पन्न हुआ, उसके बाद उसने आर्य रक्षित से कहा—वत्स ! तूने वर्षों तक लौकिक शास्त्रों का अध्ययन किया है, पर जिस अध्ययन से आत्मबोध न हो वह अध्ययन निरर्थक है। मैं चाहती हूँ कि तू दृष्टिवाद का अध्ययन करे।

आर्य रक्षित ने माँ से पूछा—दृष्टिवाद का अध्ययन कराने वाला कौन प्राध्यापक है ? रुद्रसोमा ने बताया—वत्स ! इक्षुवाटिका में आर्य तोषलिपुत्र विराज रहे हैं। वे दृष्टिवाद के ज्ञाता हैं। तुम उनके पास जाओ और दत्तचित्त होकर अध्ययन करो।[59]

---

५८. धिक् ! ममाधीतशास्त्रौघं बह्वप्यवकरप्रभम् ।
येन मे जननी नैव परितोषमवापिता ॥

—प्रभावक चरित्र पत्रांक ६, श्लोक १६

५९. आवश्यक मलय वृत्ति, पत्रांक ३९४ ।

माँ की अनुमति और आशीर्वाद प्राप्त कर दूसरे दिन प्रातःकाल ही आर्य रक्षित इक्षुवाटिका की ओर प्रस्थित हुआ। उन्हें मार्ग में अपने पूज्य पिता के मित्र—एक वृद्ध ब्राह्मण मिले जिसके हाथ में नौ इक्षु पूर्ण थे, और दसवां इक्षु आधा था। वह यह उपहार लेकर आर्य रक्षित के पास आ रहा था कि मार्ग में उन्हें आर्य रक्षित मिल गया। वृद्ध ब्राह्मण ने आर्य रक्षित को आशीर्वाद दिया। आर्य रक्षित ने कहा—पूज्यवर! मैं दृष्टिवाद का अध्ययन करने जा रहा हूँ। आर्य रक्षित ने अनुमान लगाया कि सार्ध नौ इक्षु-दण्डों का उपहार मुझे मिला है, इसलिए मैं सार्ध नौ पूर्वों का अध्ययन कर सकूँगा, इससे अधिक नहीं[60]।

उल्लास के क्षणों में आर्य रक्षित इक्षु-वाटिका में पहुंचा पर अन्तर्मानस में यह प्रश्न उद्‌बुद्ध हुआ कि आचार्य को किस प्रकार अभिवादन करना है? अभिवादन की विधि तो मुझे ज्ञात नहीं है। अतः वह इक्षु-वाटिका के बाहर ही ठहरा। इतने में ढड्ढर श्रावक को उसने आचार्य के पास जाते हुए देखा। वह भी पीछे हो गया। जिस प्रकार उस श्रावक ने वन्दन किया, वैसा ही अनुसरण आर्य रक्षित ने किया।

आचार्य तोषलिपुत्र ने आर्य रक्षित से पूछा—वत्स! यह वंदन की विधि तुमने कहाँ से सीखी? आर्य रक्षित ने ढड्ढर श्रावक की ओर संकेत किया और आने का कारण भी बताया। आचार्य तोषलिपुत्र ने ज्ञानोपयोग से देखा कि यह युवक महान् प्रभावक आचार्य बनेगा। उन्होंने कहा—वत्स! दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए तुम्हें श्रमण बनना होगा। ज्ञान-पिपासु आर्य रक्षित ने कहा—मुझे सहर्ष दीक्षा प्रदान कीजिए। पर एक नम्र निवेदन है कि मेरा परिवार जैन संस्कारों से संस्कारित नहीं है। मोह की प्रबलता भी है। संभव है, अभिभावक गण खुद राजा की सहायता से इस कार्य के लिए अन्तराय बनें और दीक्षा लेने के बाद भी वे मुझे पुनः घर लौट जाने के लिए विवश करें अतः आपश्री यहाँ से अन्यत्र प्रस्थान करेंगे तो जिनधर्म की हीलना नहीं होगी। आर्य तोषलिपुत्र ने वीर निर्वाण ५४४ (वि. स. ७४) में आर्य रक्षित को दीक्षा दी और वहाँ से अन्यत्र विहार कर दिया। तोषलिपुत्र को जितना अध्ययन था वह सारा ज्ञान आर्य रक्षित को सहर्ष प्रदान

---

६०. नवाहं दृष्टिवादस्य पूर्वाण्यध्यापनानि वा।
दशमं खण्डमध्येष्ये दध्यौ यानिति सोमभूः॥

—परिशिष्ट पर्व, सर्ग १३ श्लोक ५४

किया और पूर्वों का विशेष अध्ययन करने के लिए तोषलिपुत्र ने आर्य रक्षित से कहा—वत्स ! अब तू वज्रस्वामी के पास जा।

आर्य तोषलिपुत्र की आज्ञा प्राप्त कर आर्य रक्षित वहां से प्रस्थित हुए। रास्ते में अवन्ति नगरी थी, वहां पर वज्रस्वामी के विद्यागुरु भद्रगुप्त विराजे हुए थे। आर्य रक्षित उनकी सेवा में पहुंचे। नमन कर निवेदन किया कि भगवन् ! गुरु के आदेश से मैं अध्ययनार्थ आर्य वज्रस्वामी के पास जा रहा हूं। आर्य भद्रगुप्त ने कहा—तुम्हारी भावना प्रशंसनीय है, पर इस समय मेरी मृत्यु का समय सन्निकट आ चुका है। इसलिए पहले मुझे संथारे में सहयोग दो।

आर्यरक्षित ने प्रसन्न मन से आचार्य भद्रगुप्त की बात को स्वीकार किया और सेवा में दत्तचित्त से लग गए। अन्त में आचार्य भद्रगुप्त ने कहा—वत्स ! तूने मेरी बहुत सेवा की है जिससे मुझ खिन्नता का अनुभव नहीं हुआ। मैं तुम्हें एक बात का संकेत करता हूं कि तुम वज्रस्वामी के पास अध्ययन के लिए जा रहे हो पर अपने आहार और शयन की व्यवस्था उनसे पृथक् रखना। क्योंकि उनकी जन्म कुण्डली में इस प्रकार का योग पड़ा हुआ है कि जो आगन्तुक व्यक्ति उनकी मंडली के साथ आहार करेगा और वज्रस्वामी के पास रात्रि को शयन करेगा वह उन्हीं के साथ मृत्यु को प्राप्त होगा। तुम भविष्य के शासन प्रभावक बनोगे इसलिए मैंने यह सूचन किया है।

आर्य रक्षित ने आचार्य भद्रगुप्त की बात को ध्यानपूर्वक सुना और कहा—मैं आपके आदेश का पूर्ण पालन करूंगा। आचार्य भद्रगुप्त के स्वर्गस्थ होने पर आर्य रक्षित वज्रस्वामी के पास पहुंचे। जिस दिन पहुंचे उसकी पहली रात्रि को वज्रस्वामी ने एक स्वप्न देखा कि दूध से लबालब कटोरा भरा हुआ है। एक नवागन्तुक व्यक्ति ने उस कटोरे को उठाकर दूध पी लिया है। प्रातः होने पर उन्होंने स्वप्न की बात अपने शिष्यों से कही। कुछ समय के पश्चात् आर्य रक्षित वहां पहुंच ही गए। उन्होंने आचार्य वज्रस्वामी को नमन किया। आर्य वज्रस्वामी ने कहा—मुझे पता है कि तुम अध्ययन के लिए आए हो पर तुम्हारे वस्त्र पात्र व अन्य उपकरण कहां हैं। उन्हें भी यहां पर ले आओ। साथ में रहने से ही अध्ययन सम्यक् प्रकार से हो सकेगा। पृथक रहने से अध्ययन में बाधा उपस्थित होगी। आर्यरक्षित ने वज्रस्वामी को आचार्य भद्रगुप्त की अन्तिम आज्ञा सुना दी। आर्य वज्रस्वामी ने भी अपने ज्ञानोपयोग से सारी स्थिति समझी और आर्य रक्षित के लिए पृथक रहने की व अन्य सारी व्यवस्थाएं कर दीं। दृष्टिवाद

का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। आर्य रक्षित की बुद्धि तीक्ष्ण थी, अध्ययन द्रुत गति से चल रहा था।

आर्य रक्षित के पिता सोमदेव को अपने पुत्र की मधुर स्मृति सताने लगी। उसने अपने लघु पुत्र फल्गुरक्षित से कहा—वत्स ! मेरा संदेश लेकर अपने ज्येष्ठ भ्राता के पास जाओ और उससे कहना कि श्रमण भगवान महावीर ने तो अपने माता-पिता के रहते हुए दीक्षा ग्रहण नहीं की थी किन्तु तुमने तो माता-पिता को भुलाकर श्रमण धर्म स्वीकार कर लिया है और अध्ययन में तल्लीन हो गए हो। यह सत्य है कि आपके अन्तर्मानस में माता-पिता के प्रति मोह नहीं है किन्तु आपके माता-पिता को तो आपके प्रति मोह है। अतः आप एक बार चलकर माता-पिता से मिलें। फल्गुरक्षित ने जाकर आर्य रक्षित को निवेदन किया कि आप माता-पिता को दर्शन देने हेतु पधारें। आपके दर्शन कर माता-पिता को उसी प्रकार आह्लाद होगा जैसे अमृतपान करके तृप्ति होती है। आर्य रक्षित संयम साधना में बहुत ही जागरूक थे। वे अन्तर्मुखी साधक थे। उन्होंने अपने लघुभ्राता के कथन को अनासक्त भाव से सुना और कहा—भाई ! इस संसार में सभी स्थानों पर स्वार्थ की प्रधानता है। अनन्तकाल से यह आत्मा मोह के कारण दुःखी हो रहा है। मोह के कारण ही विविध प्रकार के कष्ट हम भोग रहे हैं, तू भी मोह को छोड़ और अपना जीवन साधना में लगा।

आर्य रक्षित के पावन उपदेश से फल्गुरक्षित प्रबुद्ध हुआ और उसने अपने भाई आर्य रक्षित के पास श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली। फल्गुरक्षित को जब भी समय मिलता वह आर्य रक्षित से कहता कि माता-पिता आपके बिना छटपटा रहे हैं। आप एक बार चलकर उन्हें दर्शन दीजिए। पूर्वों का अध्ययन चल रहा था, आर्य रक्षित ने वज्रस्वामी से पूछा—भगवन् ! अब मेरा कितना अध्ययन अवशेष रहा है ? आर्य वज्रस्वामी ने कहा—अभी तक तुमने एक सरसों के दाने जितना पढ़ा है, मेरु जितना अध्ययन करना बाकी है। तुम माता-पिता के मोह में मुग्ध बनकर अध्ययन छोड़ना चाहते हो किन्तु यह उचित नहीं है। यह तो इसी प्रकार है, जैसे गुञ्जाफल (चिरमी) के लिए स्वर्ण का परित्याग करना। गुरु की प्रेरणा से आर्य रक्षित पुनः पूर्वों के अध्ययन में जुट गए। नौ पूर्वों का अध्ययन पूर्ण कर लिया, दसवें पूर्व का आधा अध्ययन पूर्ण हो गया। फल्गुरक्षित के द्वारा माता-पिता की पुनः-पुनः स्मृति दिलाने से आर्य रक्षित ने पुनः वज्रस्वामी से निवेदन किया कि भगवन् ! मैं मात-पिता को दर्शन देने के लिए दशपुर जाना चाहता हूँ। आप आज्ञा प्रदान करें। वहाँ से लौटकर अगला अध्ययन करूँगा। आर्य

वज्रस्वामी ने ज्ञानोपयोग लगाया और अनुभव किया कि मेरा आयुष्य कम है, आर्यरक्षित से पुनः मेरा मिलन नहीं होगा। अन्य कोई श्रमण इतना प्रबुद्ध नहीं है, जो पूर्वों का ज्ञान ग्रहण कर सके। दसवें पूर्व का ज्ञान मेरे साथ ही विच्छिन्न हो जाएगा।

आर्य वज्र स्वामी गंभ.र हो गये। उन्होंने आर्यरक्षित से कहा कि वत्स जैसा तुम्हें सुख हो वैसा कर सकते हो। यदि मेरे द्वारा किसी प्रकार का व्यवहार तुम्ह.रे मनोनुकूल न रहा हो तो 'मिच्छामि दुक्कडं'। आर्य रक्षित वज्रस्वामी को वन्दन कर फल्गुरक्षित के साथ वहाँ से चल दिये और पाटलिपुत्र पहुंचे, जहाँ पर उनके दीक्षाप्रदाता आचार्य तोषलिपुत्र थे। आचार्य से निवेदन किया कि भगवन् आपकी कृपा से मैंने सार्ध नौ पूर्व का अध्ययन किया है। आर्य तोषलिपुत्र ने आयरक्षित को योग्य समझकर उन्हें आचार्य पद प्रदान किया[61]। आर्य रक्षित आचार्य बनकर दशपुर पहुंचे। आर्य फल्गुरक्षित मुनि ने पहले जाकर माता-पिता को बताया कि पूर्वों का अध्ययन कर ज्येष्ठ भ्राता आचार्य रक्षित आ गए हैं।

पिता सोमदेव ने कहा—वत्स ! तुम्हें नगर के बाहर ही ठहरना चाहिए था। मैं बहुत ही उत्सव के साथ तुम्हें नगर में प्रवेश करना चाहता था। अब भी तुम दोनों नगर के बाहर चले जाओ, स्वागतपूर्वक हम तुम्हें नगर-प्रवेश करायेंगे। किन्तु आचार्य रक्षित ने पिता के इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। पिता ने दूसरा प्रस्ताव रखा कि तुम दोनों श्रमण वेश का परित्याग करो और गृहस्थ-वेश धारण करो, सुरूपा कन्याओं के साथ विवाह करो। तुम धन कमाने की चिन्ता छोड़ दो, गृहस्थाश्रम में तुम्हें देखकर मुझे और तुम्हारी माँ को प्रसन्नता होगी। मेरे पास राजा की कृपा से इतना धन है कि सात पीढ़ी तक उपयोग करने पर भी समाप्त नहीं हो पायेगा।

आचार्य आर्यरक्षित ने कहा—आप मोह से ग्रस्त हैं इसीलिए आपको संसार की बातें अच्छी लग रही हैं। माता-पिता, भाई-भगिनी आदि सांसारिक सम्बन्धों से भी बढ़कर है—धार्मिक सम्बन्ध। अर्थ-संपदा अनर्थ की जननी है। मानव का जीवन मिलना बहुत ही कठिन है। यह जीवन कूकर और शूकर की तरह भोग और विलासों की गन्दगी में लिप्त होकर व्यतीत करने के लिए नहीं है। माँ के आदेश को शिरोधार्य कर मैं दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए गया था पर वह अध्ययन अभी पूर्ण नहीं हुआ है। मुझे पुनः गुरु के चरणों में जाना है, अतः यहाँ रुकने का प्रश्न ही नहीं है, यदि आपका हार्दिक प्रेम हमारे पर है तो श्रमण बनकर हमारे साथ चलिए।

---

६१. प्रभावक चरित, पत्रांक २१, श्लोक ११७, ११८।

पिता सोमदेव ने दीक्षा ग्रहण करना स्वीकार किया। पर उन्होंने कहा कि मैं छत्र, जनेऊ, कोपीन, पादुका रखूँगा। आर्य रक्षित ने सोचा कि कुछ समय के पश्चात् ये वस्तुएं अपने आप छूट जायेंगी। इस दृष्टि से आर्यरक्षित ने आर्य सोमदेव को उसी रूप में दीक्षा प्रदान की। आर्यरक्षित के साथ ही उन्होंने वहाँ से विहार किया। मार्ग में बालकों ने कहा—हम छत्रधारी श्रमण को छोड़कर शेष श्रमणों को वन्दन करते हैं। यह सुनकर सोमदेव मुनि को लगा कि यह तो मेरा अपमान है। उन्होंने छत्र का त्याग कर दिया। इसी प्रकार जनेऊ, कोपीन और पादुका का एक-एक करके वे त्याग करते गये। सोमदेव मुनि के लिए स्वयं आर्य रक्षित भिक्षा के लिए जाते। एक दिन सोमदेव मुनि ने सोचा कि आचार्य भिक्षा के लिए जाएँ और मैं बैठा रहूँ, यह उचित नहीं, अतः वे स्वयं भिक्षा के लिए प्रस्थित हुए। एक श्रेष्ठी के वहाँ उन्होंने पिछले द्वार से भिक्षा के लिए प्रवेश किया। श्रेष्ठी ने मुनि को उपालम्भ देते हुए कहा—पिछले द्वार से तो तस्कर लोग आया करते हैं, आप मुनि हैं, आपको तस्करों की तरह गृहस्थ के मकान में प्रवेश नहीं करना चाहिए। मुनि सोमदेव ने बहुत ही मधुर शब्दों में कहा—श्रेष्ठी प्रवर! नाराज होने की आवश्यकता नहीं, लक्ष्मी उल्टे रास्ते से ही आती है। सोमदेव मुनि की मधुर वाणी ने श्रेष्ठी के कोप को शान्त कर दिया। उसने उन्हें भक्ति भावना से विभोर होकर मोदकों का दान दिया। आचार्य आर्यरक्षित को लाकर उन्होंने भिक्षा दी। इस प्रकार सोमदेव मुनि साधना में स्थिर हो गये।

आर्य रक्षित के पूर्व श्रमण एक पात्र रखते थे। युग के परिवर्तन के साथ आर्य रक्षित ने चातुर्मास की अवस्थिति में दो पात्र रखने की नई परम्परा स्थापित की[62]। दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य उनके शासन काल में यह हुआ कि उनके पहले आगमों का अध्ययन सम्पूर्ण नयों के साथ और चारों अनुयोगों के साथ होता था। आगम अध्ययन की यह व्यवस्था बहुत ही कठिन थी। प्रतिभा की तेजस्विता के अभाव में अध्ययन करना कठिन था। प्रतिभा-सम्पन्न श्रमण ही इस प्रकार अध्ययन करने में सक्षम होते थे। आर्य रक्षित के शिष्यों में विन्ध्य मुनि प्रबल प्रतिभा के धनी थे। आर्य रक्षित जो आगम वाचना देते वे उसे बहुत ही शीघ्रता से ग्रहण कर लेते। विन्ध्य मुनि ने आर्य रक्षित से निवेदन किया, 'भगवन्! मेरे लिए अध्ययन की व्यवस्था पृथक रूप से हो।' आर्य रक्षित ने ध्यानयोगी दुर्बलिका-पुष्यमित्र को अध्यापन के लिए नियुक्त किया। कुछ दिनों के पश्चात दुर्बलिका पुष्यमित्र ने आचार्यश्री से निवेदन किया, 'भगवन्! अध्यापन कराने में मेरा बहुत सारा समय

---

६२. व्यवहारचूर्ण, उद्देशक ८।

व्यतीत हो जाता है। पठित पाठ की पुनरावृत्ति नहीं हो पाती जिससे मैं पूर्वज्ञान को विस्मृत हो रहा हूँ।'

आर्य रक्षित सोचने लगे कि महान मेधावी शिष्य की यह स्थिति है तो अन्य मन्दमति शिष्यों की क्या स्थिति होगी ? आचार्य ने उस पर गहराई से चिन्तन किया और जटिल आगम-अध्ययन व्यवस्था को द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग और गणितानुयोग, इन चार अनुयोगों में विभक्त किया[63]।

आपने जिन पाठों से जो अनुयोग स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता था, उस प्रधान अनुयोग को रखकर शेष अन्य गौण अर्थों का प्रचलन बन्द कर दिया। जैसे—ग्यारह अंगों, महाकल्पसूत्र और छेदसूत्रों का समावेश चरणकरणानुयोग में किया गया। ऋषिभासितों का धर्मकथानुयोग में, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि का गणितानुयोग में और दृष्टिवाद का समावेश द्रव्यानुयोग में किया गया[64]। इस प्रकार जब अनुयोगों का पार्थक्य किया गया तब से नयावतार भी अनावश्यक हो गया[65]। प्रस्तुत कार्य द्वादशवर्षीय दुष्काल के पश्चात दशपुर में किया गया। इतिहासकारों का मत है कि यह आगम वाचना वीर संवत ५९२ के लगभग हुई। इस आगम वाचना में वाचनाचार्य आर्य नन्दिल, युगप्रधानाचार्य आर्य रक्षित और गणाचार्य वज्रसेन आदि उपस्थित थे। विद्वानों का यह भी मानना है कि आगम साहित्य में उत्तरकालीन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का जो चित्रण हुआ है उसका श्रेय भी आर्य रक्षित को है।

आगम वाचना की दिशा में यह एक शैक्षणिक क्रान्ति थी। आर्यरक्षित के तेजस्वी व्यक्तित्व का इतना अधिक प्रभाव था कि उनके द्वारा की गई यह अनुयोग व्यवस्था संघ ने निर्विरोध स्वीकार की[66]।

---

६३. (क) देविदवंदिएहिं मणाणुभावेहिं रक्खिअअज्जेहिं।
जुगमासज्ज विहत्तो अणुओगो ता कओ चउहा ॥७७४॥
आव० मलयगिरि वृत्ति, पत्रांक ३९१

(ख) आवश्यकनिर्युक्ति, १२४।

६४. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ३६५-३७०।
(ख) विशेषावश्यक भाष्य गा. २२८४ से २२९५।

६५. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, गा. ७६२।
(ख) विशेषावश्यक भाष्य, गा. २२७९।

६६. वंदामि अज्जरक्खिय, खमणे रक्खिअचरित्त सव्वस्से।
रयणकरंडगभूओ, अणुओगो रक्खिओ जेहिं ॥

जिस तरह प्रज्ञापना सूत्र के रचयिता आचार्य श्याम द्वारा निगोद की व्याख्या इन्द्र के सामने करने का प्रसंग मिलता है उसी प्रकार का प्रसंग आर्य रक्षित के साथ आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, विविध तीर्थकल्प में उट्टंकित है। हम वह प्रसंग श्यामाचार्य के परिचय में विस्तार से दे चुके हैं। आर्य रक्षित के अनेक शिष्य थे, उनमें से तीन शिष्य दुर्बलिका-पुष्यमित्र, घृतपुष्यमित्र और वस्त्रपुष्यमित्र, ये तीनों शिष्य विशिष्ट लब्धिसम्पन्न थे। आर्य रक्षित का विहार क्षेत्र अवन्ति, मथुरा और दशपुर के आस-पास था। उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाएं इन नगरों से सम्बन्धित हैं। उन्होंने १३ वर्ष तक युगप्रधान आचार्य पद पर रहकर जैन धर्म की अत्यधिक प्रभावना की। उनकी आयु के सम्बन्ध में इतिहासविज्ञों में मतभेद है। कितने ही विज्ञ उनकी आयु ७५ वर्ष मानते हैं तो कितने ही विज्ञ उनकी आयु ९५ वर्ष की मानते हैं। जो ९५ वर्ष की आयु मानते हैं, उनके अनुसार आर्य रक्षित का जन्म वीर निर्वाण ५०२ (विक्रम संवत् ३२) में हुआ। ७५ वर्ष की आयु की मान्यता वाले विज्ञों के अनुसार आर्य रक्षित का जन्म वीर निर्वाण ५२२ में हुआ और वीर निर्वाण ५४४ में २२ वर्ष की अवस्था में उनकी दीक्षा हुई। वीर निर्वाण ५८४ में युगप्रधान आचार्य के पद पर आरूढ़ हुए और ७५ वर्ष की आयु पूर्ण कर वीर निर्वाण ५९७ में स्वर्गस्थ हुए।

आर्य दुर्बलिका-पुष्यमित्र

आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र आचार्य रक्षित के प्रधान शिष्य थे। उनका जन्म वीर निर्वाण ५५० (वि० सं० ८०) में हुआ। वीर निर्वाण ५६७ में उन्होंने श्रमण धर्म स्वीकार किया। वे प्रबल धृतिधर और मेधावी सन्तरत्न थे। उन्होंने आर्य रक्षित से नौ पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया। उनका शरीर बहुत ही कृश था। इसलिए वे दुर्बलिका पुष्यमित्र के नाम से विश्रुत थे। प्रभावक चरित के अनुसार एक बार बौद्ध उपासक आर्य रक्षित के पास आए। उन्होंने आर्य रक्षित से कहा, "बौद्ध शासन में विशिष्ट ध्यान साधक भिक्षुक हैं, किन्तु जैन शासन में ध्यान साधक भिक्षुकों का अभाव है।"

आर्य रक्षित ने कहा, "जैन शासन में भी ध्यान-साधना विकसित है।" उन्होंने अपने शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र को प्रस्तुत करते हुए कहा कि इसकी दुर्बलता का मुख्य कारण ध्यान साधना है। यह अहर्निश अप्रमत्त भाव से ध्यान साधना में रत रहता है। बौद्ध उपासक ने कहा—"आपका कथन ठीक नहीं है। इनकी दुर्बलता का कारण स्निग्ध आहार का न मिलना है। यदि इन्हें गरिष्ठ और स्निग्ध आहार मिले तो इनकी दुर्बलता मिट जाएगी।"

आर्य रक्षित ने बौद्ध उपासक से कहा कि मेरे शिष्य घृत-पुष्यमित्र, वस्त्र-पुष्यमित्र आदि के पास ऐसी लब्धियां हैं, जिन्हें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से घृत और वस्त्र पर्याप्त मात्रा में मिल सकते हैं। आचार्य ने उनके जीवन-प्रसंग को बताते हुए कहा कि मथुरा की एक अनाथ, कृपण महिला जो हाथ से कपास बीन कर वस्त्र बनाती है और उस वस्त्र को बेच कर अपनी आजीविका चलाती है। किसी भी ऋतु में वस्त्र-पुष्यमित्र उसके पास पहुंच जाये तो वह बहुत ही उल्लास के साथ इसे वस्त्र दान देगी और अपने आपको धन्यभाग्य समझेगी।

अवन्ति प्रदेश में एक सगर्भा महिला ने छह महीने में कठिन श्रम कर घृत संचय किया। वह महिला इतनी कृपण है कि क्षुधा से छटपटाता हुआ उसका पति भी यदि उससे घी मांग ले तो नहीं देती, पर जेठ और आषाढ़ महीने में जिस समय घी सहज रूप में मिल नहीं पाता पर घृत-पुष्यमित्र मुनि यदि वहां चला जाये तो वह बहिन परम प्रसन्नता से उसे घृत दान देती है। इस प्रकार जिस संघ में इस प्रकार लब्धि सम्पन्न मुनि हों, उस संघ में आहार की कमी नहीं हो सकती। दुर्बलिका पुष्यमित्र अपनी इच्छा से जितना चाहे आहार ग्रहण कर सकता है पर ध्यानाग्नि से उस गरिष्ठ आहार को वह भस्म कर देता है। तुम चाहो तो इसकी परीक्षा ले सकते हो।

आर्य रक्षित के आदेश से बौद्ध उपासकों के साथ दुर्बलिका पुष्यमित्र उनके स्थान पर पहुंचे। लम्बे समय तक बौद्ध उपासक अपने स्थान पर दुर्बलिका पुष्यमित्र की ध्यान साधना का अवलोकन करते रहे और साथ ही उनकी आहार विधि को भी निहारते रहे। स्निग्ध और अति स्निग्ध आहार को ग्रहण करने पर भी दुर्बलिका पुष्यमित्र का शरीर कृश से कृशतर होता जा रहा था। उनका पाचन संस्थान दुर्बल नहीं था। रसोत्पत्ति न होने का कारण उनकी ध्यान-साधना थी। अन्त में बौद्ध उपासक दुर्बलिका-पुष्यमित्र की ध्यान-साधना से अत्यधिक प्रभावित हुए।

दुर्बलिका-पुष्यमित्र पर आर्य रक्षित की विशेष कृपा थी। दुर्बलिका-पुष्यमित्र के अतिरिक्त घृत-पुष्यमित्र, वस्त्र-पुष्यमित्र, फल्गुरक्षित, विन्ध्य, गोष्ठामाहिल आदि प्रतिभासम्पन्न शिष्य थे। एक बार आर्य रक्षित का वर्षा-वास दशपुर में था। उस समय उनके सामने भावी उत्तराधिकारी का प्रश्न समुपस्थित हुआ। आर्य रक्षित ने दुर्बलिका पुष्यमित्र को इस पद के लिए

उपयुक्त समझा[67] तो अन्य श्रमणों ने फल्गुरक्षित और गोष्ठामाहिल का नाम प्रस्तुत किया[68]। आचार्य आर्य रक्षित ने तीन कलशों का दृष्टान्त देते हुए कहा—कल्पना कीजिए, एक कलश उड़द धान्य से, द्वितीय कलश तेल से तथा तृतीय कलश घृत से पूर्ण भरा हुआ है। तीनों कलशों को उलट दिया जाय तो कौन सा कलश पूर्ण रूप से रिक्त होगा ?

श्रमणों ने निवेदन किया कि प्रथम कलश पूर्ण रिक्त हो जाएगा, द्वितीय कलश में तेल की बूंदे घड़े में चिपकी रह जाएंगी और तृतीय कलश में घृत की मात्रा अधिक रूप से अवशिष्ट रह जाएगी।

प्रस्तुत दृष्टान्त को शिष्यों पर घटित करते हुए आचार्य ने कहा—प्रथम कलश के उड़द धान्य की भांति मैंने अपना सम्पूर्ण ज्ञान दुर्बलिका पुष्यमित्र को प्रदान किया है। फल्गुरक्षित को द्वितीय तेल के घट के समान ज्ञान दिया गया है और गोष्ठामाहिल ने तो तृतीय घट की तरह सबसे अल्प ज्ञान प्राप्त किया है[69]। यह सत्य है गुरु सभी को समान भाव से ज्ञान दान देते हैं पर जिस शिष्य में जितनी योग्यता होती है, उतना ही ज्ञान वह ग्रहण कर पाता है। इसलिए मैं अपने सुविनीत शिष्य दुर्बलिका-पुष्यमित्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित करता हूं। सभी ने आर्य रक्षित के आदेश को सहर्ष स्वीकार किया।

वर्षावास अन्य स्थान पर सम्पन्न कर जब गोष्ठामाहिल दशपुर आया तो उसे मार्ग में ही सूचना मिली कि आचार्य आर्य रक्षित का स्वर्गवास हो गया है। उसने लोगों से पूछा—आचार्य ने अपना उत्तराधिकारी किसे चुना ? लोगों ने बताया कि दुर्बलिका-पुष्यमित्र को आचार्य पद प्रदान किया गया है। गोष्ठामाहिल बहुत ही खिन्न हुआ। श्रमणों ने और श्रावकों ने उन्हें बहुत ही समझाया पर वे शल्य से मुक्त नहीं हुए। दुर्बलिका-पुष्यमित्र शिष्यों को आगम-वाचना देते। गोष्ठामाहिल दुर्बलिका-पुष्यमित्र की वाचना में सम्मिलित नहीं होते। वे विन्ध्य द्वारा दी गई आगम वाचना में बैठते। गोष्ठा-

---

६७. आर्यरक्षित सूरिश्च व्यमृशत् क: पदोचित: ।
दुर्बल: पुष्यमित्रोऽयं तद्विचारे समागमत् ।।

—प्रभावक चरित पृ० १७/२६४

६८. जो पुण से समणवग्गो तेसिं गोट्ठामाहिलो फग्गुरक्खितो वा अभिमतो ।

—आवश्यक मलयवृत्ति, पत्रांक ४००

६९. आवश्यक सूत्र, मलयगिरि वृत्ति, पत्रांक ४०० ।

माहिल में अहंकार की मात्रा अधिक थी। कर्मप्रवाद पूर्व का वाचन चल रहा था। गोष्ठामाहिल ने कहा—कर्म का बन्ध केवल स्पृष्ट होता है। विन्ध्य मुनि ने बताया—बद्ध, स्पृष्ट, बद्ध-स्पृष्ट आदि विविध अवस्थाएं हैं। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश की भूमिका पर उद्वर्तना, अपवर्तना, निद्धत्ति, निकाचना प्रभृति अनेक भेद-प्रभेद हैं। दुर्बलिका-पुष्यमित्र ने भी उसे समझाने का प्रयास किया किन्तु वह अपने मन्तव्य पर ही दृढ़ था। उसने यह स्वीकार नहीं किया कि तिल में तेल की तरह, दही में मक्खन की तरह आत्म-प्रदेशों के साथ कर्म हैं। वीर निर्वाण ५८४ (विक्रम संवत ११४) में गोष्ठामाहिल ने अबद्धिक मत की संस्थापना की[७०]। आचार्य दुर्बलिका-पुष्यमित्र नौ पूर्व के धारक थे, और अन्तिम पूर्वधर थे। उन्होंने ५० वर्ष तक संयम की साधना की। उसमें बीस वर्ष तक आचार्य पद पर रहकर जिनशासन की प्रभावना की। वीर निर्वाण ६१७ (विक्रम संवत १४७) में वे स्वर्गस्थ हुए। इनके पश्चात् आर्य वज्रसेन युगप्रधान आचार्य बने और तीन वर्ष तक उस पद पर रहकर आयु पूर्ण किया। पूर्व पृष्ठों में उनका परिचय दिया जा चुका है।

आर्य वज्रसेन के पश्चात् युगप्रधान आचार्य परम्परा में नागहस्ती का नाम उल्लिखित है। आचार्य नागहस्ती वाचक वंश परम्परा के आचार्य हैं। उनके गुरु आर्य नन्दिल हैं। यहां पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि नागहस्ती और नागेन्द्र ये दो पृथक-पृथक आचार्य हुए हैं। किन्तु नाम-साम्य होने के कारण दोनों को कहीं-कहीं एक मान लिया गया है। नागेन्द्र युगप्रधान परम्परा के आचार्य वज्रसेन के शिष्य हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से चिन्तन करने पर भी दोनों आचार्य भिन्न-भिन्न काल में हुए हैं। आर्य मंगु और आर्य नागहस्ती ये दोनों समकालीन होने चाहिए, यह विज्ञों का अभिमत है। पर नागेन्द्र को नागहस्ती मानने से सामान्य रूप से भी संगति नहीं बैठती क्योंकि आर्य नागेन्द्र का जन्म वीर निर्वाण ५७३ में हुआ जबकि आर्य मंगु का आचार्य काल वीर निर्वाण ४७० है। वाचनाचार्य आर्य नागहस्ती और युगप्रधानाचार्य आर्य नागहस्ती (नागेन्द्र) ये दोनों विभिन्न कालों में हुए दो भिन्न-भिन्न आचार्य हैं। दूसरा कारण यह है कि प्रभावक चरित्र में नागहस्ती को पादलिप्त का गुरु माना है[७१]। आचार्य पादलिप्त आर्य रक्षित से पूर्व हुए हैं। चूंकि आर्य रक्षित द्वारा रचित अनुयोगद्वार में 'तरंग वईकारे' पद

---

७०. आवश्यक मलयगिरि वृत्ति, पत्रांक ४०२

७१. गच्छे विद्याधराख्यस्यार्य नागहस्तिसूरयः ॥१५॥
पुत्रमिच्छसि चेत्तेषां, पादशौच जलं पिब ॥१६॥

आया है जिसमें आर्य पादलिप्त की मधुर स्मृति की गई है। आर्य नागेन्द्र को आर्य रक्षित के पश्चात्वर्ती आर्य वज्रसेन की शिष्य परम्परा में माना गया है। आचार्य देववाचक ने आर्य नागहस्ती को वाचकवंश का प्रभावक आचार्य माना है। वज्रसेन के शिष्य आर्य नागेन्द्र नाइली शाखा के हैं। हमारी दृष्टि से वे दोनों पृथक-पृथक आचार्य रहे हैं पर नाम-साम्य होने से दोनों को एक मानने की भूल इतिहासकारों से हो गई।

आर्य रेवतीमित्र

आचार्य नागहस्ती के पश्चात् रेवतीमित्र युगप्रधानाचार्य हुए। वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र और युगप्रधानाचार्य रेवतीमित्र ये दोनों एक ही आचार्य हैं या पृथक-पृथक आचार्य हैं? या रेवतीनक्षत्र और रेवतीमित्र एक ही आचार्य के दो नाम हैं? नाम-साम्य होने से सहज भ्रान्ति हो जाती है, किन्तु काल-गणना की दृष्टि से चिन्तन करने पर यह सहज ही परिज्ञात होता है कि ये दोनों पृथक-पृथक आचार्य थे। आर्य रेवतीनक्षत्र के शिष्य आर्य ब्रह्मदीपकसिंह थे और आर्य नागेन्द्र के शिष्य आर्य रेवतीमित्र थे। आर्य रेवतीनक्षत्र का वीर निर्वाण संवत् ६४० से ६५० के बीच स्वर्गवास हुआ और रेवतीमित्र का स्वर्गवास वीर निर्वाण सवत् ७४८ में हुआ है। इस प्रकार दोनों के स्वर्ग-गमन में सौ वर्ष का अन्तर है। आचार्य देववाचक ने रेवतीनक्षत्र को वाचक वंश का कहा है[72]। उनके शरीर का वर्ण जातीय अंजन, पकी दाख या नील कमल के समान श्याम था। आपका जन्म, दीक्षा और समय आदि के परिचय के सम्बन्ध में इतिहास के पृष्ठ मौन हैं।

आर्य सिंह

आचार्य रेवतीनक्षत्र के पश्चात आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह वाचानाचार्य बने। आचार्य देववाचक के अनुसार आपने अचलपुर में श्रमण दीक्षा ग्रहण की थी। आर्य सिंह नामक अनेक मुनि हुए हैं। उन मुनियों से इनकी पृथक पहचान कराने के लिए देववाचक ने इनके नाम के साथ ब्रह्मदीपक विशेषण लगाया है। इस विशेषण से वे ब्रह्मदीपक शाखा के होंगे, ऐसा भ्रम हो जाता है पर वे रेवतीनक्षत्र शाखा के थे अतः उनका वाचक वंश था। दुस्समा काल श्रमण संघ स्तोत्र के अनुसार वीर निर्वाण संवत् ७१० में आपका जन्म हुआ। संवत्

---

७२. वड्ढउ वायगवंसो, रेवइनक्खत्त नामाणं।

—नंदी स्थविरावली

७२८ में १८ वर्ष की वय में आपने दीक्षा ग्रहण की। बीस वर्ष तक श्रमण पर्याय में रहे और ७८ वर्ष तक युगप्रधान आचार्य के पद पर, वीर निर्वाण संवत् ८२६ में आपका स्वर्गवास हुआ।

इतिहास-विज्ञ यह निर्णय नहीं कर सके हैं कि वाचक आर्य सिंह और युग-प्रधान आचार्य सिंह ये दोनों भिन्न-भिन्न आचार्य हैं या एक ही आचार्य हैं ? वाचक आर्य सिंह को युगप्रधान सिंह से पृथक मानने पर आर्य स्कन्दिल का कार्यकाल अधिक होता है। यदि युगप्रधान आर्य सिंह को वाचक सिंह मान लिया जाय तो आर्य स्कन्दिल का कार्यकाल वीर निर्वाण ८२६ में आता है।

आर्य स्कन्दिल

वाचक वंश परम्परा में आचार्य स्कन्दिल बहुत ही प्रभावक और प्रतिभामूर्ति आचार्य थे। नन्दीसूत्र स्थविरावली के अनुसार नीलोत्पल की भांति श्याम वर्ण वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र के विद्वान शिष्य ब्रह्मदीपक सिंह आचार्य स्कन्दिल के गुरु थे।[73]

प्रभावक चरित के अनुसार आचार्य स्कन्दिल विद्याधरी आम्नाय के आचार्य पादलिप्त सूरि की परम्परा के थे। जैन शासनरूपी नन्दन वन में वे कल्पवृक्ष की भांति थे। समग्र श्रुत और अनुयोग को अंकुरित और पुष्पित करने वाले वे महामेघ के सदृश थे और चिन्तामणि के समान इष्ट वस्तु प्रदान करने वाले थे।[74] वाचनाचार्य हिमवन्त के पश्चातवर्ती आचार्य नागार्जुन और पूर्ववर्ती आचार्य स्कन्दिल थे।

मेरुतुंग की विचार श्रेणी में आर्य स्कन्दिल का समय वीर निर्वाण ८२३ दिया है। मेरुतुंग ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—विक्रम से ११४ वर्ष पश्चात् आर्य वज्र स्वामी हुए और आर्य वज्र स्वामी से २३९ वर्ष पश्चात् आर्य स्कन्दिल हुए।[75] विक्रम संवत् ११४ में वज्र स्वामी का स्वर्गवास हुआ। आचार्य स्कन्दिल का समय आर्य वज्र के स्वर्ग संवत् से २३९ वर्ष पश्चात् का है। इतिहास-विज्ञ मुनि कल्याणविजय जी का मन्तव्य है कि वज्र स्वामी एवं आचार्य स्कन्दिल दोनों का मध्यवर्ती समय २४२ वर्ष है।

---

७३. नन्दीसूत्र स्थविरावली, श्लोक ३०, ३१।

७४. प्रभावक चरित, वृद्धवादी चरित्र, पत्रांक ५४, श्लोक ४, ५।

७५. यतः श्री विक्रमात् ११४ वर्षैर्वज्रस्वामी, तदनु २३९ वर्षैः स्कन्दिलः.........।

—मेरुतुंगीया विचार श्रेणी

वज्र स्वामी के पश्चात् १३ वर्ष आर्य रक्षित के, २० वर्ष पुष्यमित्र के, ३ वर्ष वज्रसेन के, ६९ वर्ष नागहस्ती के, ५९ वर्ष रेवतीमित्र के, ७८ वर्ष ब्रह्मदीपक सिंह के हैं। इस प्रकार २४२ वर्ष का समय हुआ। २४२ वर्ष के काल में वज्र स्वामी के ११४ वर्ष एवं अनुयोग प्रवर्तक वाचनाचार्य आचार्य स्कन्दिल के युगप्रधान काल के चौदह वर्ष मिला देने से आर्य स्कन्दिल का समय वीर निर्वाण ८२७ से ८४० तक प्रमाणित किया गया है। यही समय आगमों की तृतीय वाचना का है। द्वादश वर्षीय और दुष्काल से श्रमण मर्यादा के अनुकूल आहार की प्राप्ति बहुत ही कठिन हो गई थी। बहुत से श्रुतसम्पन्न श्रमण काल के अंक में समा गये। सूत्रार्थ-ग्रहण-परावर्तन के अभाव में श्रुत-सरिता सूखने लगी। अति विषम स्थिति थी। बहुत सारे श्रमण दुष्काल के प्रभाव से बचने के लिए सुदूर प्रदेशों में विचरण कर रहे थे। दुष्काल के समाप्त होने पर मथुरा में एक श्रमण सम्मेलन हुआ। इस श्रमण सम्मेलन का नेतृत्व आचार्य स्कन्दिल ने सँभाला।[76] इस सम्मेलन में मधुमित्र, गन्धहस्ती आदि १५० श्रमण उपस्थित थे। मधुमित्र और स्कन्दिल ये दोनों आचार्य सिंह के शिष्य थे। आचार्य गन्धहस्ती मधुमित्र के शिष्य थे। इनका वैदुष्य उत्कृष्ट था। अनेक मनीषी मुनियों के स्मृति पाठों के आधार पर आगम श्रुत का संकलन हुआ। आचार्य स्कन्दिल की प्रेरणा से गन्धहस्ती ने ग्यारह अंगों का विवरण लिखा। मथुरा के ओसवाल वंशज सुश्रावक ओसालक ने गन्ध-हस्ती-विवरण सहित सूत्रों को ताड़ पत्रों पर उट्टंकित करवा कर निर्ग्रन्थों को समर्पित किए। आचार्य गन्धहस्ती को ब्रह्मदीपक शाखा का मुकुटमणि माना गया है।

यह आगम-वाचना मथुरा में होने से माथुरी वाचना कहलाई। आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में होने से स्कन्दिली वाचना के नाम से इसे अभिहित किया गया। जिनदास गणी महत्तर ने[77] यह भी लिखा है कि दुष्काल के क्रूर आघात से अनुयोगधर मुनियों में केवल एक स्कन्दिल ही बच पाए थे।

---

७६. इत्थ दूसहदुब्भिक्खे दुवालसवारिसिए नियत्ते सयल संघं मेलिअ आगमाणुओगो पवत्तिओ खंदिलायरियेण　—विविध तीर्थकल्प पृ. १९

७७. अण्णे भणंति जहा—सुत्तं ण णट्ठं, तम्मि दुब्भिक्खकाले जे अण्णे पहाणा अणु-ओगधरा ते विणट्ठा, एगे खंदिलायरिए संधरे, तेण मधुराए अणुओगो पुणो साधूणं पवत्तितो त्ति मधुरा वायणा भण्णति।

—नन्दीचूर्णि, गा० ३२, पृ० ९

उन्होंने मथुरा में अनुयोग का प्रवर्तन किया था। अतः यह वाचना स्कन्दिली के नाम से विश्रुत हुई।

प्रस्तुत वाचना में भी पाटलिपुत्र की वाचना की तरह केवल अंग सूत्रों की ही वाचना हुई। क्योंकि नन्दीसूत्र की चूर्णि में[78] अंग सूत्रों के लिए कालिक शब्द व्यवहृत हुआ है। अंगबाह्य आगमों की वाचना या संकलन का प्रयास इस समय हुआ हो, ऐसा पुष्ट प्रमाण नहीं है। पाटलिपुत्र में जो अंगों की वाचना हुई थी, उसे ही पुनः व्यवस्थित करने का प्रयास इस समय किया गया। नन्दीसूत्र[79] के अनुसार वर्तमान में जो आगम विद्यमान हैं वे माथुरी वाचना के अनुसार हैं। पहले जो वाचना हुई थी, वह पाटलिपुत्र में हुई थी, जो बिहार में था। उस समय बिहार जैनों का केन्द्र रहा हुआ था। किन्तु माथुरी वाचना के समय जैनियों का केन्द्र बिहार से हटकर उत्तर-प्रदेश हो गया था। मथुरा से ही कुछ श्रमण दक्षिण की ओर आगे ब, थे इसका सूचन हमें दक्षिण में विश्रुत माथुरी संघ के अस्तित्व से प्राप्त होता है।[80]

नन्दीसूत्र की चूर्णि और मलयगिरि वृत्ति के अनुसार यह माना जाता है कि दुर्भिक्ष के समय श्रुतज्ञान कुछ भी नष्ट नहीं हुआ था। केवल आचार्य स्कन्दिल के अतिरिक्त शेष अनुयोगधर श्रमण स्वर्गस्थ हो गये थे। एतदर्थ आचार्य स्कन्दिल ने पुनः अनुयोग का प्रवर्तन किया, जिससे सम्पूर्ण अनुयोग स्कन्दिल-सम्बन्धी माना गया।

जिस समय मथुरा में आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगम वाचना सम्पन्न हुई, प्रायः उसी समय दक्षिण के श्रमणों को एकत्रित करके आचार्य नागार्जुन ने वल्लभी में एक आगम वाचना की। इसे वल्लभी वाचना या नागार्जुनीय वाचना की संज्ञा प्राप्त हुई। इस वाचना का उल्लेख भद्रेश्वर रचित कहावली ग्रन्थ में मिलता है जो आचार्य हरिभद्र के बाद हुए हैं[81]। योग शास्त्र प्रकाश और ज्योतिष करण्डक आदि में भी इस वाचना के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है।

---

७८. अहवा कालियं आयारादि सुत्तं तदुवदेसेणं सण्णी भण्णति।

—नन्दीचूर्णि, पृष्ठ ४६

७९. नन्दीसूत्र, गाथा ३२

८०. (क) नन्दीचूर्णि, पृष्ठ ९

(ख) नन्दीसूत्र, गाथा ३३, मलयगिरि वृत्ति पृ० ५१

८१ जैन दर्शन का आदिकाल पृ० ७, पं० दलसुख मालवणिया।

भद्रेश्वरसूरि ने लिखा है कि मथुरा में विशाल आगम ज्ञान के धनी स्कन्दिल नाम के आचार्य थे तो वल्लभी में नागार्जुन नामक आचार्य थे। इन दोनों आचार्यों ने दुष्काल के समय अपने श्रमण शिष्यों को दूर-दूर देशों में भेज दिया था। संकटकालीन दुष्काल की स्थितियों की समाप्ति और सुकाल होने पर वे श्रमण पुनः मिले। स्वाध्याय करते समय उन श्रमणों को यह अनुभूति हुई कि अनेक स्थलों पर वे विस्मृत हो गए हैं। कहीं श्रुतज्ञान नष्ट न हो जाये इस विचार से दोनों आचार्यों ने आगमों की वाचना प्रारम्भ की। जो पूर्ण रूप से स्मरण था, उनको उसी रूप में रख लिया गया और जो-जो स्थल विस्मृत हो गए थे, उन-उन स्थलों को अर्थ के अनुसार सूत्रों को संकलित किया गया[८२]।

आचार्य भद्रेश्वर सूरि ने वाचना-भेद का कारण बताते हुए लिखा है—मथुरा और वल्लभी में पृथक-पृथक आगम वाचनाएं हुईं। उन वाचनाओं के पश्चात् आर्य स्कन्दिल और आर्य नागार्जुन पुनः परस्पर मिल नहीं सके। उनके स्वर्गवास हो जाने से जो वाचना-भेद था वह वैसा का वैसा बना रहा। उनके बाद पापभीरु आचार्यों ने उन वाचनाभेदों को नहीं बदला। 'नागार्जुनीयाः पुनः एवं कथयन्ति' इस प्रकार के उल्लेख वाचनाभेद को सूचित करते हैं। प्रस्तुत वाचना के सम्बन्ध में पं० दलसुख मालवणिया ने[८३] लिखा है—कुछ चूर्णियों में नागार्जुन के नाम से पाठान्तर मिलते हैं। पण्णवणा जैसे अंगबाह्य सूत्र में भी पाठान्तर का निर्देश है। अतएव अनुमान किया गया कि नागार्जुन ने भी वाचना की होगी।........किन्तु इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मौजूदा अंग आगम माथुरीवाचनानुसारी हैं, यह तथ्य है। अन्यथा पाठान्तरों में स्कन्दिल के पाठान्तरों का भी निर्देश मिलता[८४]। अंग और अन्य अंगबाह्य ग्रन्थों की व्यक्तिगत रूप से कई वाचनाएँ होनी चाहिये थीं। क्योंकि आचारांग आदि आगम साहित्य की चूर्णियों में जो पाठ मिलते हैं उनसे भिन्न पाठ टीकाओं में अनेक स्थानों पर मिलते हैं। जिससे यह तो सिद्ध है कि पाटलिपुत्र की वाचना के पश्चात् समय-समय पर मूर्धन्य मनीषी आचार्यों के द्वारा वाचनाएं होती रही हैं[८५]। उदाहरण के रूप में हम प्रश्नव्याकरण को ले सकते हैं। समवायाङ्ग

---

८२ कहावली, २९८ (अप्रकाशित)

८३ जैन दर्शन का आदिकाल पृ० ७

८४ वीरनिर्वाण संवत् और जैनकालगणना, पृ० ११४, गणिकल्याणविजयजी।

८५ जैनदर्शन का आदिकाल, पृ० ७

में प्रश्नव्याकरण का जो परिचय दिया गया है, वर्तमान में उसका वह स्वरूप नहीं है। आचार्य श्री अभयदेव ने प्रश्नव्याकरण की टीका में लिखा है कि अतीत काल में वे सारी विद्याएं इसमें थीं।[86] इसी तरह अन्तकृत्दशा में भी दश अध्ययन नहीं हैं। टीकाकार ने स्पष्टीकरण में यह सूचित किया है कि प्रथम वर्ग में दश अध्ययन हैं।[87] पर यह निश्चित है कि क्षतविक्षत आगम-निधि का ठीक समय पर संकलन कर आचार्य नागार्जुन ने जैन शासन पर महान् उपकार किया है। इसीलिये आचार्य देववाचक ने बहुत ही भाव-पूर्ण शब्दों में नागार्जुन की स्तुति करते हुए लिखा है—मृदुता आदि गुणों से सम्पन्न, सामायिक श्रुतादि के ग्रहण से अथवा परम्परा के विकास की भूमिका पर क्रमशः आरोहणपूर्वक वाचक पद को प्राप्त ओघश्रुत समाचारी में कुशल आचार्य नागार्जुन को मैं प्रणाम करता हूं[88]।

दोनों वाचनाओं का समय लगभग समान है। इसलिए सहज ही यह प्रश्न उद्बुद्ध होता है कि एक ही समय में दो भिन्न-भिन्न स्थलों पर वाचनाएं क्यों आयोजित की गई? जो श्रमण वल्लभी में एकत्र हुए थे वे मथुरा भी जा सकते थे। फिर क्यों नहीं गये? उत्तर में कहा जा सकता है—उत्तर भारत और पश्चिम भारत के श्रमण संघ में किन्हीं कारणों से मतभेद रहा हो, उनका मथुरा की वाचना को समर्थन न रहा हो। उस वाचना की गति-विधि और पद्धति व नेतृत्व में पश्चिम का श्रमण संघ सहमत न हो। यह भी संभव है कि माथुरी वाचना पूर्ण होने के बाद इस वाचना का प्रारम्भ हुआ हो। उनके अन्तर्मानस में यह विचार-लहरियां तरंगित हो रही हों कि मथुरा में जो आगम संकलन का कार्य हुआ है, उससे हम अधिक श्रेष्ठतम कार्य करेंगे। संभव है इसी भावना से उत्प्रेरित होकर कालिक श्रुत के अतिरिक्त भी अंगबाह्य व प्रकरण ग्रन्थों का संकलन और आकलन किया गया हो। या सविस्तृत पाठ वाले स्थल अर्थ की दृष्टि से सुव्यवस्थित किये गये हों।

इस प्रकार अन्य भी अनेक संभावनाएं की जा सकती हैं। पर उनका निश्चित आधार नहीं है। यही कारण है कि माथुरी और वल्लभी वाचनाओं

---

८६ जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, पृ० १७०-१८५ —देवेन्द्र मुनि, प्र० तारक गुरु ग्रन्थालय, उदयपुर

८७ अन्तकृद्दशा, प्रस्तावना, पृ० २१ से २४

८८ (क) नन्दीसूत्र, गाथा ३५

(ख) लाइफ इन एन्श्येंट इंडिया एज डेपिक्टेड इन दी जैन कैनन्स पृ० ३२-२३,
—जगदीश चन्द्र

में कई स्थानों पर मतभेद हो गये। यदि दोनों श्रुतधर आचार्य परस्पर मिल कर विचार-विमर्श करते तो संभवत: वाचनाभेद मिटता। किन्तु परिताप है कि न वे वाचना के पूर्व मिले और न बाद में ही मिले। वाचनाभेद उनके स्वर्गस्थ होने के बाद भी बना रहा, जिससे वृत्तिकारों को 'नागार्जुनीया पुन: एवं पठन्ति' आदि वाक्यों का निर्देश करना पड़ा।

नागार्जुन के पिता का नाम संग्रामसिंह था और माता का नाम सुव्रता था। जब वे गर्भ में आए तब माता ने सहस्र फण वाला नाग देखा जिससे बालक का नाम नागार्जुन रखा गया। नागार्जुन बाल्यकाल से ही परम साहसी और धनुर्धर था। उसने बाल्यकाल में एक सिंह को भी मार दिया था। जंगलों में परिभ्रमण करने के कारण और वनवासी महात्माओं के सम्पर्क में रहने से उन्हें वनस्पतियों का विशेष परिज्ञान हो गया था और रसायन के द्वारा रस बनाना भी वे सीख गये थे। उन्होंने आचार्य पादलिप्तसूरि की यशोगाथा सुन रखी थी अत: आपने एक शिष्य के द्वारा रसकूपिका आचार्य पादलिप्त के पास प्रेषित की और कहलाया कि इसकी एक बूंद से तांबा स्वर्ण बन जाता है। आचार्य पादलिप्त ने उस कूपिका के रस को पत्थर पर गिरा दिया और उस रसकूपिका में अपना प्रस्रवण भर कर उस शिष्य को दिया कि यह नागार्जुन को दे देना। नागार्जुन ने क्रुद्ध होकर पत्थर की शिला पर कूपिका को फेंक दिया, उसी समय वह पत्थर स्वर्ण बन गया। नागार्जुन सोचने लगा कि जिसके प्रस्रवण में इतना सामर्थ्य है कि पत्थर भी स्वर्ण बन जाता है तो उस आचार्य में कितना सामर्थ्य होगा! वह पादलिप्त आचार्य के पास पहुंचा। पादलिप्त सूरि के पैरों को सूंघ-सूंघ कर १६० वनस्पतियों का पता उसने लगाया और लेप तैयार कर आकाश में गमन करने का उपक्रम करने लगा। आचार्य पादलिप्त उसकी बौद्धिक प्रगल्भता से प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—वत्स! तेरी प्रतिभा प्रशंसनीय है पर बिना गुरु के गुर नहीं मिलता। तू इस लेप को चावल के धोवन या कांजी में घिस कर उपयोग करेगा तो अनन्त आकाश में सहज रूप से उड़ सकेगा। साथ ही उन्होंने नागार्जुन को यह भी शिक्षा दी कि तुम्हारे अन्तर्मानस में भौतिक विभूतियों के प्राप्त करने की जो तमन्ना है उससे तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति नहीं हो पा रही है। अत: यह तमन्ना छोड़ दो। आचार्य के पावन उपदेश ने नागार्जुन के जीवन के नक्शे को बदल दिया।

प्रस्तुत प्रसंग में यह तो बताया गया है कि नागार्जुन ने पादलिप्त सूरि से विद्या प्राप्त की, पर उनके दीक्षागुरु कौन थे? यह संकेत नहीं है। नन्दीसूत्र स्थविरावली में आचार्य हिमवन्त के बाद नागार्जुन का उल्लेख

हुआ है। नन्दी चूर्णि में आचार्य जिनदास ने नागार्जुन को आचार्य हिमवन्त का शिष्य बताया है। ऐतिहासिक दृष्टि से आर्य स्कन्दिल, आर्य हिमवन्त और आर्य नागार्जुन ये तीनों समकालीन वाचनाचार्य थे। नन्दी स्थविरावली की दृष्टि से नागार्जुन को हिमवन्त के बाद का आचार्य बताया है। जबकि युगप्रधान पट्टावली और दुस्समाकाल श्रमण संघ स्तोत्र में नागार्जुन को आर्य सिंह के बाद युगप्रधान आचार्य माना है। गहराई से अनुचिन्तन करने पर यह स्पष्ट होता है कि वीर निर्वाण संवत् ८२६ में युगप्रधान आचार्य सिंह के स्वर्गस्थ होने पर प्रकृष्ट प्रतिमा के धनी आर्य स्कन्दिल को ज्येष्ठ मान कर वाचक पद प्रदान किया गया और युवक मुनि नागार्जुन को युगप्रधानाचार्य नियुक्त किया गया। वीर निर्वाण संवत् ८४० के लगभग आर्य स्कन्दिल के स्वर्गस्थ होने पर ज्येष्ठ मुनि हिमवान को वाचनाचार्य नियुक्त किया गया और हिमवान के स्वर्गस्थ होने पर अन्य वाचनाचार्य के अभाव में युगप्रधानाचार्य नागार्जुन को ही वाचनाचार्य पद दिया गया। इतिहासविज्ञों का ऐसा मतव्य है कि इस प्रकार मानने से समस्या का सहज ही समाधान हो जाता है। शोधार्थियों के लिए यह चिन्तनीय है कि योग रत्नावली, योग रत्नमाला, अनेकाक्षरी प्रभृति ग्रन्थों के रचयिता युगप्रधानाचार्य नागार्जुन ही हैं या कोई अन्य ?

वीर निर्वाण संवत् ७९३ में नागार्जुन का जन्म हुआ। वीर निर्वाण संवत् ८०७ में १४ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। वीर निर्वाण संवत ८२६ में वे युगप्रधानाचार्य बने और वीर निर्वाण ९०४ में १११ वर्ष की अवस्था में उनका स्वर्गवास हुआ।

आर्य भूतदिन्न

आचार्य नागार्जुन के पश्चात् वाचनाचार्य आर्य भूतदिन्न ने श्रमण संघ के उत्तरदायित्व को संभाला। नन्दी स्थविरावली में आर्य भूतदिन्न को वाचक नागार्जुन का शिष्य लिखा है। दुस्समा काल श्री श्रमण संघ स्तोत्र में उन्हें युगप्रधानाचार्य माना है। आचार्य देववाचक के शब्दों में आप मृदु, मनोहर उपदेश के प्रदाता थे। भव्य जनों के वल्लभ थे। अप्रमत्त भाव से दया धर्म का पालन करते हुए सद्धर्म के प्रचारक थे। अंग और अंगबाह्य श्रुत के विशिष्ट ज्ञाता थे। कुशलतापूर्वक संघ का संचालन करते थे। तप्त-स्वर्ण की तरह आपका वर्ण था। युगप्रधान यंत्र के अनुसार वीर निर्वाण संवत् ८६४ में आपका जन्म हुआ, वीर निर्वाण ८८२ में दीक्षा ग्रहण की तथा वीर निर्वाण ९०४ में आप युगप्रधान आचार्य बने और वीर निर्वाण ९८३ में ११९ वर्ष की आयु में स्वर्गस्थ हुए।

आर्य लौहित्य

आर्य भूतदिन्न के पश्चात् आर्य लौहित्य वाचनाचार्य के पद पर आसीन हुए। आपकी परिचय रेखा प्राप्त नहीं है। आप सूत्रार्थ के सम्यक् धारक थे। पदार्थ की नित्य और अनित्य दृष्टि से व्याख्या करने में आप कुशल थे। आप कहाँ के थे, कितने वर्ष तक संयम पर्याय का पालन किया और कितने वर्षों तक वाचनाचार्य पद को समलंकृत किया इस सम्बन्ध में इतिहास मौन है।

आर्य दुष्यगणी

आर्य लौहित्य के पश्चात् आर्य दुष्यगणी वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए। आचार्य देववाचक ने उनकी तीन गाथाओं में स्तुति की है। उस स्तुति से स्पष्ट है कि वे एक विशिष्ट वाचनाचार्य थे। सैकड़ों श्रमण श्रुतज्ञान के अध्ययन के लिए उनके पास आते थे और वे उदार हृदय से ज्ञान-दान प्रदान करते। कभी भी उन्हें न मानसिक थकान होती थी और न शारीरिक थकान ही। वे मधुरभाषी थे। तप, नियम, सत्य, संयम प्रभृति सद्-गुणों के वे विशिष्ट धारक थे। उनके शरीर में ऐसे विशिष्ट लक्षण थे जिन्हें देखकर दर्शक प्रभावित हो जाता था।

कल्पसूत्र स्थविरावली में षांडिल्य के गुरु भाई की परम्परा में आर्य देसी-गणी क्षमाश्रमण का नाम प्राप्त है। विज्ञों का मत है कि दुष्यगणी और देसीगणी ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हैं। वीर निर्वाण की दशवीं शताब्दी के मध्य भाग में ये हुए हैं। इनकी जन्म-स्थली, दीक्षा-स्थली, माता-पिता, गुरु आदि का नाम, कुछ भी प्राप्त नहीं है।

आर्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण

ये जैन आगम साहित्य के एक प्रकाशमान नक्षत्र थे। वर्तमान में जो आगम साहित्य उपलब्ध है, उसका सम्पूर्ण श्रेय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण को है। आपका जन्म वेरावल (सौराष्ट्र) में हुआ था। आपके पिता का नाम कामर्द्धि और माता का नाम कलावती था। कहा जाता है कि भगवान महा-वीर के समय शक्रेन्द्र का सेनापति हरिणैगमेषी देव था। वही आयु पूर्ण कर देवर्द्धिगणी बना। जब वे गर्भ में आए तब माता ने स्वप्न में एक ऋद्धिशाली देव को देखा। देव-ऋद्धि देखने के कारण उनका नाम देवर्द्धि रखा गया। युवावस्था आने पर उनका दो कन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ। देवर्द्धि युवावस्था में कुसंगति के प्रभाव से शिकार करने लग गए थे। उन्हें प्रतिबुद्ध करने हेतु नवोत्पन्न हरिणैगमेषी देव ने अनेक उपाय किए पर जब देवर्द्धि प्रतिबुद्ध नहीं हुए तो शिकार करते समय कुछ दूरी पर सिंह, पास में गहरी

खाई और एक ओर दन्तशूल वाले बलिष्ठ शूकर खड़े कर दिये जिसे निहार कर वह भयभीत हो उठा। उसने देखा—आकाश में उमड़-घुमड़कर घटाएं आईं और वे हजार-हजार धारा के रूप में बरसने लगीं। उसका हृदय कांप रहा था। उसके कर्ण-कुहरों में यह शब्द गिरे—अब भी संभल, यदि नहीं संभला तो मृत्यु तेरा स्वागत करने को प्रस्तुत है। देवर्द्धि ने गिड़गिड़ाते हुए कहा—जो भी शक्ति हो, वह मुझे बचाए, बचने पर जो भी आप कहेंगे वह कार्य मैं बिना संकोच करूंगा।

देव-शक्ति ने उसे वहाँ से उठाकर लौहित्याचार्य की सेवा में पहुंचा दिया। देव-शक्ति ने प्रकट होकर कहा—पूर्वभव में आप हरिणैगमेषी देव थे। तुम्हें यह ज्ञान हुआ कि सहज रूप में मैं प्रतिबुद्ध नहीं होऊंगा, इसलिए तुमने देव-भवन में यह लिखा कि मेरे स्थान पर जो देव उत्पन्न होवे वह मुझे प्रतिबोध दे। यदि वह मुझे प्रतिबोध नही देगा तो उसे शक्रेन्द्र की आन है। इस कारण मैंने तुम्हें प्रतिबुद्ध करने हेतु विविध उपाय किये। अब तुम संयम-धर्म स्वीकार कर अपने जीवन को पावन बनाओ। यह कहकर देव अपने स्थान पर चला गया और देवर्द्धि ने संयम-धर्म स्वीकार किया। आचार्य लौहित्य की सेवा में रहकर एकादशांगी के साथ एक पूर्व का अध्ययन किया। नंदी स्थविरावली के आधार पर जिनदासगणी महत्तर ने देवर्द्धिगणी को दुष्यगणी का शिष्य माना है[८९]। आचार्य देवर्द्धिगणी के द्वारा जो दुष्यगणी की स्तुति की गई है उसमें उनकी शरीर सम्पदा का भी जो चित्रण हुआ है उसके आधार से यह सहज ही ज्ञात होता है कि दुष्यगणी के साथ देवर्द्धिगणी का निकटता का सम्बन्ध रहा है।

मुनि कल्याणविजय जी ने कल्पस्थविरावली की दृष्टि से देवर्द्धिगणी को आर्य षांडिल्य का शिष्य माना है[९०]। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के दीक्षा गुरु लौहित्याचार्य माने गये हैं। नन्दीसूत्र में लौहित्य आचार्य की बहुत ही मधुर शब्दों में स्तुति की गई है। इस प्रकार उनके गुरु के सम्बन्ध में तीन नाम मिलते हैं।

श्रमण भगवान महावीर के धर्मशासन में वाचनाचार्य क्षमाश्रमण

---

८९. एत्थ जाणिया अजाणिया य अरिहा ॥ एवं कतमंगलोवयारो थेरावलिकमे य दंसिए अरिहेसु य दंसितेसु दुसगणिसीसो देववायगो साहुजणहितट्ठाए इणमाह।
—नन्दीचूर्णि, पत्र १३

९०. वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना, पृ० १२६।

का गौरवपूर्ण स्थान रहा है। वीर निर्वाण ९८० (विक्रम संवत् ५१०) में वल्लभी नगर में देवद्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व में आगमों की एक वाचना हुई। इस वाचना में आगम पुस्तकारूढ़ किए गए। इस आगम वाचना में नागार्जुन की वाचना के गम्भीर अभ्यासी चतुर्थ कालकाचार्य विद्यमान थे। जिन्होंने वीर संवत् ९९३ में आनन्दपुर में राजा ध्रुवसेन के सामने श्री संघ को कल्पसूत्र सुनाया था। पूर्व माथुरी वाचना और नागार्जुन वाचना में जिन-जिन विषयों में मतभेद हो गया था, उन-उन भेदों का देवद्धिगणी क्षमाश्रमण ने समन्वय किया। जिन पाठों में समन्वय न हो सका उन स्थलों पर स्कन्दिल आचार्य के पाठों को प्रमुखता देकर, नागार्जुन के पाठों को पाठान्तर के रूप में स्थान दिया।

देवद्धिगणी क्षमाश्रमण के पश्चात् पूर्व ज्ञान परम्परा विच्छिन्न हो गई[९१]। आप अन्तिम पूर्वधर थे। आपने एक पूर्व का अर्थ सहित और दूसरे पूर्व के मूल का ज्ञान प्राप्त किया था। उस समय पुराने गच्छ लुप्त हो रहे थे और नित्य नये गच्छ अस्तित्व में आ रहे थे। अतः आचार्यों के नामों की विभिन्न परम्पराएँ उपलब्ध होती हैं। उनमें से कई विश्रृंखलित हो गई हैं। देवद्धिगणी क्षमाश्रमण ने पूर्वों से नन्दीसूत्र का निर्यूहण किया। इस निर्यूहण कृति में ज्ञान की बहुत ही व्यवस्थित रूप-रेखा मिलती है। साथ ही आगम सूत्रों की सविस्तृत सूची भी मिलती है। आर्य सुधर्मा से लेकर दुष्यगणी तक के वाचनाचार्यों की परम्परा भी इसमें दी गई है। वह परम्परा इस प्रकार है—

१. आर्य सुधर्मा	१०. आर्य सुहस्ती
२. आर्य जम्बू	११. आर्य बलिस्सह
३. आर्य प्रभव	१२. आर्य स्वाति
४. आर्य शय्यंभव	१३. आर्य श्याम
५. आर्य यशोभद्र	१४. आर्य षांडिल्य
५. आर्य संभूतविजय	१५. आर्य समुद्र
७. आर्य भद्रबाहु	१६. आर्य मंगू
८. आर्य स्थूलभद्र	१७. आर्य आनन्दिल
९. आर्य महागिरि	१८. आर्य नागहस्ती

---

९१. भगवती सूत्र, १०/६/६७७.

१९. आर्य रेवतीनक्षत्र
२०. आर्य ब्रह्मद्वीपकसिंह
२१. आर्य स्कन्दिलाचार्य
२२. आर्य हिमवन्त
२३. नागार्जुन
२४. आर्य भूतदिन्न
२५. आर्य लौहित्य
२६. आर्य दूष्यगणी
२७. आर्य देवर्द्धिगणी

श्री जिनदासगणी महत्तर ने नन्दीचूर्णि में और आचार्य हरिभद्र तथा मलयगिरि ने नन्दी की टीका में आर्य धर्म, भद्रगुप्त, वज्र स्वामी, रक्षित, और गोविन्द इन पाँचों आचार्यों के नाम के पद्यों को प्रक्षिप्त माना है। उन्होंने उन आचार्यों को वाचक वंश की परम्परा में नहीं माना है।

चूर्णिकार और टीकाकार ने नन्दीसूत्र की रचना का श्रेय आचार्य देववाचक को दिया है। विज्ञों का मन्तव्य है कि आचार्य देववाचक और देवर्द्धिगणी ये दोनों अभिन्न पुरुष हैं। आचार्य भद्रेश्वर सूरि ने वादी, क्षमाश्रमण, दिवाकर और वाचक, इन शब्दों को एकार्थक माना है। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के पश्चात् क्रूर काल के प्रहारों से पूर्व ज्ञान विच्छिन्न हो गया। भगवान महावीर के बाद देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण तक पूर्व ज्ञान विद्यमान रहा था। वीर निर्वाण १००० विक्रम संवत् ५३० में देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का स्वर्गवास हुआ।

यह एक ऐतिहासिक सत्य तथ्य है कि आर्य सुहस्ती के समय कुछ शिथिलाचार प्रारम्भ हुआ था। वे स्वयं सम्राट सम्प्रति के आचार्य बनकर कुछ सुविधाएं अपनाने लगे थे। सम्राट सम्प्रति के संकेतानुसार सब लोग श्रमणों को यथेष्ट भिक्षा देने लगे। भिक्षा की सुगमता देखकर महागिरि ने आर्य सुहस्ती से पूछा, यथेष्ट उत्तर न मिलने पर आर्य महागिरि ने आचार्य सुहस्ती से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया[९२]। आर्य महागिरि के संकेत से आर्य सुहस्ती पुनः संभल गए, लेकिन उनके संभलने पर भी एक शिथिल परम्परा का प्रारम्भ हो गया।

चैत्यवास परम्परा

वीर निर्वाण की नवीं शताब्दी में चैत्यवास की संस्थापना हुई। कुछ शिथिलाचारी श्रमण उग्र विहार-यात्रा को छोड़कर मन्दिरों के परिपार्श्व में रहने लगे। वीर निर्वाण की दसवीं शताब्दी तक इनका प्रभुत्व बढ़ नहीं सका। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण का स्वर्गवास होने पर इनका समुदाय शक्तिशाली हो गया। विद्याबल, राज्यबल मिलने से उन्होंने शुद्धाचार्यों का उपहास किया।

---

९२. बृहत्कल्प चूर्णि, उद्देशक १।

सम्बोध प्रकरण नामक ग्रन्थ में आचार्य हरिभद्र ने उन चैत्यवासियों के आचार-विचारों का सजीव वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है—

"ये कुसाधु चैत्यों और मठों में रहते हैं। पूजा करने का आरम्भ करते हैं। देव द्रव्य का उपभोग करते हैं। जिनमन्दिर और शालाएं चिनवाते हैं। रंग-बिरंगे सुगन्धित धूपवासित वस्त्र पहनते हैं। बिना नाथ के बैलों के सदृश स्त्रियों के आगे गाते हैं। आर्यिकाओं द्वारा लाये गये पदार्थ खाते हैं[93]।"

"जल, फल, फूल, आदि सचित्त द्रव्यों का उपयोग करते हैं। दो तीन बार भोजन करते हैं और ताम्बूल लवंग आदि भी खाते हैं[94]।"

"ये मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते हैं, भभूत भी देते हैं। जीमनवार में मिष्ट आहार प्राप्त करते हैं। आहार के लिए खुशामद करते हैं और पूछने पर भी सत्य धर्म नहीं बताते हैं[95]।"

"स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी दूसरों से आलोचना प्रतिक्रमण कराते हैं। स्नान करते, तेल लगाते, श्रृंगार करते और इत्र फुलेल का उपयोग करते[96]।"

"अपने हीनाचारी मृतक गुरुओं की दाह भूमि पर स्तूप बनवाते हैं। स्त्रियों के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियां उनके गुणों के गीत गाती हैं।"

---

९३ चेइयमढाइवासं पूयारंभाई निच्चवासित्तं।
देवाइदव्वभोगं जिणहरसालाइकरणं च ॥६१॥
वत्थाइं विविहवण्णाइं अइसियसद्दाइं धूववासाइं।
परिहुज्जइ जत्थ गणे तं गच्छं मूलगुणमुक्कं ॥४६॥
अन्नत्थियवसहा इव पुरओ गायंति जत्थ महिलाणं।
जत्थ जयारमयारं भणंति आलं सयं दिंति ॥४९॥

—संबोध प्रकरण

९४ संनिहि माहाकम्मं जलफलकुसुमाइ सव्व सच्चित्तं।
निच्चं दुतिवारं भोयणविगइलवंगाइ तंबोलं ॥५७॥
९५ नरयगइहेउ जोइस निमित्तितेगिच्छिमंत जोगाइं।
मिच्छत्तरायसेवं नीयाण वि पावसाहिज्जं ॥६३॥
९६ मयकिच्च जिणपूयापरूवणं मयधणाणां जिणदाणे।
गिहिपुरओ अंगाइपवयणकहणं धणट्ठाए ॥६८॥

"सारी रात सोते हैं। क्रय-विक्रय करते हैं और प्रवचन के बहाने विकथाएं किया करते हैं।"

"चेला बनाने के लिए छोटे-छोटे बच्चों को खरीदते हैं। भोले लोगों को ठगते हैं और जिन प्रतिमाओं को भी बेचते-खरीदते हैं।"

"उच्चाटन करते हैं और वैद्यक, यन्त्र-मन्त्र, गंडा, ताबीज आदि में कुशल होते हैं।"

"ये सुविहित साधुओं के पास जाते हुए श्रावकों को रोकते हैं। शाप देने का भय दिखाते हैं। आपस में विरोध रखते हैं और शिष्यों के लिए एक-दूसरे से लड़ मरते हैं।"

जो लोग भ्रष्ट चरित्र वालों को भी मानते थे उन्हें लक्ष्य करके आचार्य हरिभद्र ने दुःखी हृदय से कहा—कुछ नासमझ लोग कहते हैं यह भी तीर्थंकरों का वेश है, इसे नमस्कार करना चाहिये। अहो ! धिक्कार है इन्हें, मैं अपने शिरःशूल की पुकार किसके आगे करूं ?[९७]

आगम अष्टोत्तरी में अभयदेव सूरि ने लिखा है कि देवर्द्धिगणी के पश्चात् जैन शासन की वास्तविक परम्परा का लोप हो गया है[९८]। चैत्यवास के पहले गण, कुल, शाखाओं का प्राचुर्य होने पर भी उनमें किसी भी प्रकार का विग्रह नहीं था और न अपने गण का अहंकार ही था। जो अनेक गण थे वे व्यवस्था की दृष्टि से थे। विभिन्न कारणों से गणों के नाम बदलते रहे। भगवान महावीर के प्रधान शिष्य सुधर्मा के नाम से भी सौधर्म गच्छ हुआ। चैत्यवासी शाखा के उद्भव के साथ एक पक्ष संविग्नविधि मार्ग या सुविहित मार्ग कहलाया और दूसरा पक्ष चैत्यवासी।

आचार्य देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के पश्चात् की पट्ट परम्परा में एकरूपता न होने के कारण हम कुछ विशिष्ट प्रभावक मुनि व आचार्यों का परिचय अगले पृष्ठों में दे रहे हैं। □

९७ वत्थोवगरणपत्ताइ दव्वं नियनिस्सएण संगहियं।
गिहि गेहंमि य जेसिं ते किणिणो वाण न हु मुणिणो ॥८१॥
गिहिपुरओ सज्झायं करंति अण्णोण्णमेव झूझंति।
सीसाइयाण कज्जे कलहविवायं उइरेंति ॥१६२॥
किं बहुणा भणिएणं बालाणं ते हवंति रमणिज्जा।
दक्खाणं पुण एए विराहगा छन्नपावदहा ॥१६३॥
बाला वयंति एवं वेसो तित्थंकराण एसो वि।
णमणिज्जो धिद्धी अहो सिरसूलं कस्स पुक्करिमो ॥७६॥ —संबोध प्रकरण

९८ देवड्ढि खमासमणजा, परं परं भावओ वियाणेमि।
सिढिलायरे ठविया, दव्वओ परम्परा बहुहा ॥ —आगम अष्टोत्तरी, ७१

प्रमुख विद्या प्रभावक आचार्य

आर्य वृद्धवादी

वृद्धवादी आचार्य वाद-कला में कुशल थे। गौंड देश के कौशल ग्राम के विप्र परिवार में उनका जन्म हुआ। उनका नाम मुकुन्द था। मुकुन्द ने वृद्ध अवस्था में दीक्षा ग्रहण की थी किन्तु उनमें ज्ञानार्जन की तीव्र उत्कंठा थी। प्रहर रात्रि व्यतीत हो जाने पर भी वे अप्रमत्त भाव से उच्च घोष से स्वाध्याय करते थे। उनकी वह स्वाध्याय दूसरों की नींद में विघ्न उत्पन्न करने लगी। अतः आचार्य ने वृद्ध मुनि को समझाते हुए कहा—तुम्हारी यह स्वाध्याय दूसरों की नींद में अन्तराय होने से कर्मबन्धन का कारण है[1] अतः नमस्कार महामंत्र का जाप और ध्यान करना तुम्हारे लिए श्रेयस्कर है[2]। मुनि मुकुन्द ने आचार्य के संकेत को पाकर दिन में स्वाध्याय प्रारम्भ किया। उनमें ज्ञान की तीव्र पिपासा थी। वे अप्रमत्त भाव से सदा जागरूक रहकर उच्च घोष से स्वाध्याय करते। उन्हें उच्च स्वर से स्वाध्याय करते हुए देखकर किसी श्रावक ने व्यंग करते हुए कहा–आप इतनी स्वाध्याय करके क्या मूसल को पुष्पित करना चाहते हैं? श्रावक का यह व्यंग मुनि के हृदय में तीर की तरह चुभ गया। उन्होंने ब्राह्मी विद्या की आराधना २१ दिन तक तप करके की। देवी ने प्रगट होकर कहा—'सर्वविद्या सिद्धो भव'। देवी के वरदान से सर्वविद्यानिष्णात हो गए। श्रावक के वचन को सिद्ध करने के लिए उन्होंने चौराहे पर मूसल को धरती में थमा दिया और कहा—

> अस्मादृशा अपि यदा भारति ! त्वत्प्रसादतः।
> भवेयुर्वादिनः प्राज्ञा मुशलं पुष्प्यतां ततः ॥२०॥

---

१ यतिरेको युवा तस्मै शिक्षामक्षामधीर्ददौ।
मुने ! विनिद्रिता हिंस्रजीवा भूतद्रुहो यतः ॥
—प्रभावक चरित पृ. ५४/१६

२. प्रभावक चरित्र, श्लोक १७, पृ० ५४।

—हे भारति ! तुम्हारे प्रसाद से हमारे सदृश व्यक्ति भी प्राज्ञ बन जाते हैं। अब यह मूसल भी पुष्पित हो।[3] यह कहकर मुनि मुकुन्द ने अचित्त पानी का सिञ्चन किया। मंत्र के प्रभाव से मूसल में पुष्प उग आए[3]। अध्ययन की लगन ने उन व्यक्तियों की वाचा बन्द कर दी जो व्यंग कसा करते थे। श्रम से वे वृद्धावस्था में भी विशिष्ट मेधावी विज्ञ बन गए। वृद्धावस्था में दीक्षित होने के कारण वे वृद्धवादी के रूप में विश्रुत हुए। आर्य स्कन्दिल ने उन्हें योग्य समझकर अपना उत्तराधिकारी बनाया[4]। वृद्धवादी वाद-कला में निष्णात थे। उन्होंने गीर्वाण गिरा के यशस्वी विज्ञ सिद्धसेन दिवाकर को शास्त्रार्थ में पराजित कर अपना शिष्य बनाया था।

आर्य सिद्धसेन

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर समर्थ साहित्यकार और संस्कृत भाषा के प्रकृष्ट प्रतिभासम्पन्न विद्वान थे। आचार्य पादलिप्त की परम्परा के आचार्य वृद्धवादी आपके दीक्षा गुरु थे। आपका जन्म विशाला के कात्यायन गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। आपके पूज्य पिताश्री का नाम देवर्षि था और माता का नाम देवश्री था। देवर्षि राजमान्य ब्राह्मण थे। सिद्धसेन को अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य पर गर्व था। वे अपने-आप को संसार का सबसे बड़ा विद्वान मानते थे। उन्होंने अभिमान के साथ यह उद्‌घोषणा की कि जो मुझे शास्त्रार्थ में पराजित कर देगा मैं उसका शिष्यत्व स्वीकार कर लूंगा। उन्होंने शास्त्रार्थ में अनेक मूर्धन्य मनीषियों को पराजित भी कर दिया था।

सिद्धसेन के कर्ण-कुहरों में जैन मुनि वृद्धवादी के वैदुष्य की चर्चा पहुंची। वे उनसे शास्त्रार्थ करने के लिए ललक उठे और शास्त्रार्थ के लिए विशाला से प्रस्थित हुए। भृगुपुर के मार्ग में उन्हें वृद्धवादी मिल गए। सिद्ध-सेन ने शास्त्रार्थ का प्रस्ताव रखा। आचार्य वृद्धवादी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। शास्त्रार्थ में मध्यस्थता का कार्य गोपालकों को दिया गया। सिद्धसेन ने धाराप्रवाह संस्कृत भाषा में बोलना प्रारम्भ किया किन्तु सिद्धसेन की एक भी बात गोपालक नहीं समझ सके। उन्होंने कहा—कब से तू बक-बक कर रहा है, तेरी एक भी बात तो समझ में नहीं आती। तू चुप

३. प्रभावक चरित्र, श्लोक ३०, पृ० ५५।

४ प्रभावक चरित्र, श्लोक ३४, पृ० ५५।

रह और इस बृद्ध को बोलने दे। वृद्धवादी ने समय को पहचानकर विद्वत्ता का प्रदर्शन करना उचित नहीं समझा और उन्होंने हाथ में रजोहरण ले नाचते हुए छिन्दणी छन्द में कहा—

न वि मारियइ न वि चोरियइ परदारह गमणु निवारियइ।
थोवा थोवं दाइयइ सग्गि टुक टुक जाइयई॥

—हिंसा नहीं करने से, चोरी नहीं करने से, परदारासेवन नहीं करने से और शुद्ध दान से व्यक्ति धीरे-धीरे स्वर्ग पहुंच जाता है।

इसी प्रकार ग्रामीणों की भाषा में अपने भावों को सम्प्रेषित करते हुए उन्होंने आगे कहा—

कालउ कंबलु अनुनी चाटु छासिहिं खालडु भरिउ निपाटु।
अइ वडु पडियउ नीलइ झाडि अवर किसर गटसिग निलाडि॥

—शीत निवारण के लिए काली कंबल पास हो, हाथ में अरणि की लकड़ी हो, मटका छाछ से भरा हो और एवड को नीली घास प्राप्त हो गई हो इससे बढ़कर स्वर्ग और क्या हो सकता है?

सुमधुर ग्रामीण भाषा में स्वर्ग की परिभाषा सुनकर गोपालक समूह जय-जय का उद्घोष करते हुए नाचने लगे। उन्होंने निर्णय देते हुए कहा—यह वृद्ध विज्ञ है, यह विजयी हुआ और यह युवक पराजित हो गया है।

आचार्य वृद्धवादी चाहते थे कि जय और पराजय का निर्णय भृगुपुर में विद्वत् वर्ग के सामने हो पर सिद्धसेन अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। उन्होंने वृद्धवादी का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया, मुनि बने। उनका दीक्षा नाम कुमुदचन्द्र रखा गया। कुमुदचन्द्र अत्यन्त प्रतिभा के धनी थे। प्रतिभा की तेजस्विता के कारण सिद्धसेन का नाम सर्वज्ञ-पुत्र के रूप में चारों ओर विश्रुत हो गया। एक बार वे अवन्ति पधारे। सर्वज्ञ-पुत्र के रूप में जय-जयकार से श्रद्धालु वर्ग नारे लगा रहा था। अवन्तिपति उस समय हाथी पर बैठकर जा रहे थे। सर्वज्ञ-पुत्र सुनकर विक्रमादित्य ने परीक्षा लेने हेतु सिद्धसेन को मानसिक नमस्कार किया। सन्निकट आने पर सिद्धसेन ने उच्च स्वर से धर्मलाभ कहा और हाथ से आशीर्वाद भी प्रदान किया। विक्रमादित्य ने पूछा—बिना नमस्कार किए आप किसको आशीर्वाद दे रहे हैं?

आचार्य ने कहा—आपने मुझे मानसिक नमस्कार किया था, उसी के उत्तर में मैंने यह आशीर्वाद दिया है। आचार्य सिद्धसेन के ज्ञान के चमत्कार से विक्रमादित्य प्रभावित हुआ। उसने विराट सम्पत्ति देने के लिए उद्घोषणा

की,[5] पर सिद्धसेन ने उस अनुदान को ग्रहण नहीं किया। उनकी त्याग-वृत्ति से राजा और भी अधिक प्रभावित हुआ। उसने वह अर्थ-राशि धर्म-प्रचारार्थ व्यय की।

एक बार सिद्धसेन चित्रकूट पधारे। उन्होंने विविध औषधियों के चूर्ण से निर्मित एक स्तम्भ देखा। प्रतिपक्षी औषधियों का प्रयोग कर उस स्तम्भ में एक छेद कर दिया। स्तम्भ में हजारों पुस्तकें थीं पर उस छेद में से एक ही पुस्तक निकल सकी। पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर ही सर्षप मन्त्र (सैन्य सर्जन विद्या) और स्वर्ण सिद्धि योग ये दो महान विद्याएं उट्टंकित थीं। वे पूरी पुस्तक पढ़ना चाहते थे पर अधिष्ठायिका देवी ने वह पुस्तक उनसे छीन ली।[6] सर्षप विद्या के प्रभाव से मन्त्र के द्वारा जलाशय में प्रक्षिप्त सर्षप-कणों के अनुपात में चौबीस प्रकार के उपकरण सहित सैनिक निकलते थे और वे प्रतिद्वन्द्वी को पराजित कर पुन: जल में अहश्य हो जाते थे। हेम विद्या से किसी भी धातु को स्वर्ण बनाया जा सकता था।[7]

आचार्य सिद्धसेन पूरी पुस्तक न पढ़ पाने के कारण खिन्न हो गए थे। वे चित्रकूट से विहार कर कूर्मार में पहुंचे। कूर्मार का अधिपति देवपाल था। आचार्यश्री के पावन प्रवचनों को सुनकर वह उनका परम भक्त बन गया। आचार्य सिद्धसेन देवपाल की राजसभा में जाते और अपनी प्रतिभा से उन गोष्ठियों में सरसता का संचार करते। एक बार एक राजा ने देवपाल पर आक्रमण कर दिया। राजा चिन्तित हो उठा। आचार्य सिद्धसेन ने कहा—"मा स्म विह्वलो भू:" हे राजन् ! तुम चिन्तित मत बनो, मैं जिसका सखा हूं, विजयश्री उसी को वरण करेगी। युद्ध की संकटकालीन स्थिति में स्वर्ण सिद्धि योग नामक विद्या से पर्याप्त मात्रा में सोना तैयार कर दिया और सर्षप मन्त्र के प्रयोग से विराट् सेना बना दी। युद्ध में देवपाल की विजय हुई। अत: राजा ने सिद्धसेन को 'दिवाकर' की उपाधि से विभूषित किया।[8] जिनदासगणी महत्तर के अनुसार सिद्धसेन ने उस समय अश्वों की रचना की थी। देवपाल की प्रार्थना को स्वीकार कर वे हाथी पर बैठने लगे और शिविका का भी उपयोग करने लगे।[9] उनका साधनामय जीवन शिथिल

---

५. प्रभावक चरित्र, श्लोक ६४, पृष्ठ ५६।
६. प्रभावक चरित्र, श्लोक ७२, पृष्ठ ५६।
७. प्रबन्ध कोष, पृष्ठ १७।
८. प्रभावक चरित्र, श्लोक ८४, पृष्ठ ५७।
९. प्रभावक चरित्र, श्लोक ८५, पृष्ठ ५७।

हो गया। उपाश्रय में उपासक वर्ग का आगमन भी निषिद्ध कर दिया गया। संघ के प्रति उत्तरदायित्व को वे भूल गये। अतः उपासक वर्ग में यह चर्चा प्रारम्भ हुई कि सचित्त जल, पुष्प, फल, अनेषणीय आहार का ग्रहण गृहस्थ के कार्यों का अयत्नापूर्वक सेवन यह श्रमण वेश की प्रत्यक्ष विडम्बना है।[10]

आचार्य वृद्धवादी के कानों में भी सिद्धसेन की बातें पहुंची। उन्होंने गच्छ का कार्य-संचालन-भार अपने एक शिष्य को दिया और स्वयं एकाकी कूर्मार देश में पहुंचे। उन्होंने वस्त्र से शरीर को आच्छादित कर लिया और आचार्य सिद्धसेन के सामने उपस्थित होकर निम्न श्लोक बोले —

अणुहुल्लीय फुल्ल म तोड हु मन आरामा म मोड हू।
मण कुसुमेहिं अच्चि निरञ्जणु हिण्डह काइ वणेण वणु॥

आचार्य सिद्धसेन ने बहुत कुछ सोचा किन्तु उस श्लोक का अर्थ उनकी समझ में नहीं आया। उन्होंने मन ही मन सोचा कि कहीं ये मेरे गुरु वृद्धवादी तो नहीं हैं। उन्होंने पैनी दृष्टि से आगन्तुक विद्वान को देखा तो वे पहचान गए कि उनके समक्ष गुरुदेव वृद्धवादी ही उपस्थित हैं। चरणों में गिरकर आचार्य सिद्धसेन अपने अपराध की क्षमा-प्रार्थना करने लगे। आचार्य वृद्धवादी ने कहा—श्रमणसाधनायोग कल्पवृक्ष के सदृश है। यम और नियम इस वृक्ष के मूल हैं। ध्यान प्रकाण्ड और समता स्कन्ध हैं। कवित्व, वक्तृत्व, यश, प्रताप, स्तंभन, उच्चाटन, वशीकरण प्रभृति क्रियाएं पुष्प के सदृश हैं। केवलज्ञान की उपलब्धि श्रमण साधना का मधुर फल है। अभी तक तो तुम्हारी जीवन साधना का कल्पवृक्ष पुष्पित हुआ है। फलवान बनने के पहले ही पुष्पों को मत तोड़ो। महाव्रत रूपी पौधों का उन्मूलन न करो। प्रसन्न मन से अहंकाररहित होकर वीतराग प्रभु की आराधना करो। मोहरूपी इस सघन संसाररूपी अटवी में तू भ्रमण क्यों कर रहा है?

वृद्धवादी के उद्बोधन से सिद्धसेन के अन्तर्चक्षु खुल गए। उन्होंने कहा—भगवन्! मेरे अपराध को क्षमा करें।

एक किंवदन्ती यह भी है कि वृद्धवादी कूर्मार नगर में पहुंचे। आचार्य सिद्धसेन जिस पालकी में बैठकर जाते थे, उस पालकी में वृद्धवादी ने अपना कन्धा लगा दिया। वृद्ध होने से उनके पाँव लड़खड़ाने लगे, उनकी ओर की पालकी लचक रही थी। आचार्य सिद्धसेन की दृष्टि कृशकाय वृद्ध की ओर गयी तो अभिमान के साथ उन्होंने कहा—

---

१०. प्रबन्ध कोश, श्लोक १३, पृष्ठ १७।

अयमांदोलिका दंड: वृद्धस्तव किन्नु बाधति ?

—हे वृद्ध ! इस सुखपालकी का डंडा तुझे कष्टप्रद प्रतीत हो रहा है ?

आचार्य सिद्धसेन के द्वारा बाधति शब्द सुनकर आचार्य वृद्धवादी चौंके। क्योंकि संस्कृत भाषा में "बाधृङ" धातु का परस्मैपद व्यवहार बिल्कुल अशुद्ध है। इस अशुद्ध प्रयोग को लक्ष्य कर वे बोले—

न बाधते तथा दण्ड: यथा बाधति बाधते

—मुझे इस दण्ड से नहीं किन्तु बाधति धातु के अशुद्ध प्रयोग से क्लेश हो रहा है।

आचार्य सिद्धसेन समझ गए कि मेरी अशुद्धि की ओर ध्यान खींचने वाला मेरे गुरुदेव के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति नहीं हो सकता। वे उसी समय पालकी से नीचे उतरे और गुरु चरणों में गिर पड़े। आचार्य वृद्धवादी ने प्रायश्चित्त देकर उन्हें पुन: संयम साधना में स्थिर किया। आचार्य सिद्धसेन संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे। उस युग में अन्य वैदिक और बौद्ध परम्परा के विज्ञगण संस्कृत भाषा में साहित्य का सृजन कर रहे थे। सिद्धसेन ने सोचा, प्राकृत भाषा ग्रामीणों की है इसलिए आगम साहित्य को मैं प्राकृत से संस्कृत में अनूदित कर दूँ। उन्होंने अपने विचार गुरुजनों के सामने प्रस्तुत किये। संघ ने सिद्धसेन के विचारों का प्रबल विरोध करते हुए कहा—क्या तीर्थंकर, गणधर संस्कृत नहीं जानते थे ? उन्होंने आगमों का प्रणयन प्राकृत में क्यों किया ? संस्कृत भाषा में आगमों को अनूदित करने का विचार सर्वथा अनुचित है। यह विचार ही प्रायश्चित्त का कारण है। इसलिए संघ ने आचार्य सिद्धसेन को मुनिवेश परिवर्तित कर १२ वर्ष तक गण से बाहर रहने का कठोर दण्ड दिया[11]।

इस पाराञ्चित प्रायश्चित्त को वहन करते हुए आचार्य सिद्धसेन के लिए एक अपवाद था कि १२ वर्ष की अवधि में यदि जैन शासन की प्रबल प्रभावना का कार्य कर दें तो इस दण्ड की अवधि के पूर्व भी संघ में सम्मिलित किए जा सकेंगे[12]। मुनिवेश परिवर्तित कर सिद्धसेन सात वर्ष तक भारत के विविध अञ्चलों में विचरण करते रहे। वे विचरण करते हुए अवन्ति पधारे और वहाँ पर उन्होंने कल्याण मन्दिर स्तोत्र की रचना कर

---

११. प्रबन्ध कोष, पृष्ठ, १८

१२. प्रभावक चरित्र, श्लोक १६, पृष्ठ ५८।

जैन शासन की महान प्रभावना की। राजा विक्रमादित्य उनका परम भक्त बन गया और राजा विक्रमादित्य की विद्वद् मंडली में सिद्धसेन को गौरवपूर्ण स्थान मिला जिससे संघ ने पांच वर्ष पूर्व ही उन्हें पुनः संघ में सम्मिलित कर लिया [13]।

सिद्धसेन दिवाकर जैन दर्शन में न्याय के प्राणप्रतिष्ठापक थे। जैसे दिङ्नाग ने बौद्धदर्शनमान्य विज्ञानवाद को सिद्ध करने लिए पूर्व परम्परा में किंचित् परिवर्तन करके बौद्ध प्रमाणशास्त्र को व्यवस्थित रूप दिया उसी प्रकार सिद्धसेन दिवाकर ने भी पूर्व परम्परा का सर्वथा अनुकरण न करके अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से न्यायावतार की रचना की। इस लघु कृति में प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति इन चार तत्त्वों की जैनदर्शनसम्मत व्याख्या करने का अनूठा प्रयास किया है। उन्होंने प्रमाण और उनके भेद-प्रभेदों का लक्षण किया है। अनुमान के सम्बन्ध में उनके हेत्वादि सभी अंग-प्रत्यंगों की संक्षेप में मार्मिक व्याख्या की है। प्रमाण के साथ नयों के लक्षण और विषय बताकर मनीषियों का ध्यान उस ओर आकर्षित किया। स्वमत के निरूपण के साथ ही परमत का निराकरण भी किया। न्यायावतार ग्रन्थ उनकी सर्वथा मौलिक रचना है। जैन न्याय का संस्कृत भाषा में यह सर्वप्रथम ग्रन्थ है। आगमों में यत्र-तत्र बिखरे हुए नय को आधार बनाकर ३२ अनुष्टुप श्लोकों में न्याय जैसे गम्भीर विषय को उन्होंने प्रस्तुत किया। आचार्य सिद्धसेन की रचित २१ द्वात्रिंशिकाएं आज उपलब्ध हैं। उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओं में प्रथम ५ द्वात्रिंशिकाओं में स्तुतियां हैं, इन स्तुतियों में भगवान महावीर के प्रति गहरी निष्ठा व्यक्त हुई है। उन स्तुतियों को पढ़कर अश्वघोष के समकालीन बौद्धस्तुतिकार मात्रिचेट रचित अध्यर्धशतक और आर्यदेव रचित चतुश्शतक की स्मृति हो आती है। आचार्य हेमचन्द्र की दोनों बत्तीसियां और समन्तभद्र का स्वयंभू स्तोत्र और युक्त्यनुशासन नामक दार्शनिक स्तुतियां भी आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की स्तुतियों का अनुकरण हैं।

शेष द्वात्रिंशिकाओं में विविध विषयों पर चिन्तन किया है। १३वीं, १४वीं, १५वीं और १६वीं द्वात्रिंशिकाओं में जैनेतर दर्शनों को समझने के लिए विपुल सामग्री है। जिसमें सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध एवं नीतिवाद की चर्चा है। १९वीं द्वात्रिंशिका में जैन दर्शन को समझने के लिए विपुल चिन्तन

---

१३ प्रभावक चरित्र, श्लोक १५१, पृष्ठ ६०।

सामग्री दी है। २०वीं द्वात्रिंशिका में आत्म-स्वरूप पर चिन्तन है। सिद्धसेन की सभी कृतियों में उनका मौलिक चिन्तन मुखरित हुआ है। उनमें पूर्वाग्रह का अभाव है। इस प्रकार वे श्रेष्ठ स्तुतिकार, न्याय प्रतिष्ठापक, स्वतन्त्र चिन्तक थे। उनकी नवोन्मेष प्रतिभा जैन शासन के लिए वरदान के रूप में रही है। उनके मौलिक साहित्य पर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही विज्ञ मुग्ध हैं।

प्रभावक चरित, प्रबन्ध कोश प्रभृति ग्रन्थों में उन्होंने अनेक राजाओं को प्रतिबोध दिया, यह वर्णन है; पर संख्या का उल्लेख नहीं हुआ है। कितने ही विज्ञों का मानना है कि उन्होंने सात राजाओं को प्रतिबोध दिया तो कितने ही विज्ञ मानते हैं कि उन्होंने अठारह राजाओं को प्रतिबोध दिया। एक बार भृगुकच्छ में रास गाकर हजारों ग्वालों को प्रतिबुद्ध किया था। कहा जाता है, उनके रास के आधार पर ही ताल रासक ग्राम बसाया गया।

दक्षिण दिशा के पृथ्वीपुर में जीवन की सांध्य वेला समझकर उन्होंने अनशन किया और समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ। आचार्य सिद्धसेन का शिष्य समुदाय उस समय चित्रकूट में था। वाग्मीभट्ट को वहां प्रेषित किया गया। उसने वहां पर जाकर कहा—

"स्फुरन्ति वादिखद्योता साम्प्रतं दक्षिणापथे"

इस वाक्य को सुनकर सिद्धसेन दिवाकर की भगिनी जो साध्वी थी, उसने समझ लिया कि मेरे भाई का स्वर्गवास हो गया है। अतः सिद्ध सरस्वती ने कहा—

"नूनमस्तंगतो वादि सिद्धसेनो दिवाकरः"

इन दो चरणों को पढ़कर सिद्धसेन की भगिनी कितनी प्रतिभासम्पन्न थी, यह स्पष्ट होता है। आचार्य सिद्धसेन से प्रभावित शासक विक्रमादित्य गुप्तवंशीय राजा द्वितीय चन्द्रगुप्त के युग के थे और वे सम्वत्सर प्रवर्तक राजा विक्रमादित्य से भिन्न थे। वीर निर्वाण ग्यारहवीं शताब्दी के वे एक विशिष्ट विद्वान थे।

आर्य मल्लवादी

आचार्य मल्लवादी महान मेधावी थे। वे तर्कशास्त्र के जाने-माने हुए विद्वान थे। उनका जन्म गुजरात के वल्लभी नगर में हुआ। उनकी माता का नाम दुर्लभदेवी था। वह बहुत ही प्रतिभासम्पन्न महिला थी। इनके

अजितयश और यक्ष ये दो भाई और थे। मल्लवादी सबसे छोटे थे। ज्योतिर्धर आचार्य जिनानन्द का वल्लभी में आगमन हुआ। वे दुर्लभदेवी के भ्राता थे। उनके उपदेश को सुनकर माता के साथ तीनों ही पुत्रों ने दीक्षा ग्रहण की।[14] मल्लवादी ने लक्षण आदि शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया।

एक बार भृगुकच्छ में आचार्य जिनानन्द का आगमन हुआ। वहाँ के राजा शिलादित्य के नेतृत्व में बौद्ध भिक्षु नन्द के साथ शास्त्रार्थ हुआ। उसमें जिनानन्द सूरि की विजय न हुई। पराजय के कारण जैन श्रमणों का प्रभाव कम हो गया। बालक मल्लवादी ने जब यह देखा तो उनका हृदय अन्तर्वेदन से भर गया। उन्होंने दृढ़ प्रतिज्ञा की कि मैं ऐसा प्रयास करूँगा जिससे जैन शासन की अत्यधिक प्रभावना हो।

वे गिरिखण्डल पर्वत पर पहुंचे और उन्होंने घोर तप प्रारम्भ किया। वे षष्ठम भक्त तप करते और पारणे के दिन रूक्ष आहार लेते थ। एक बार उन्होंने चार महीने तक तप किया। संघ के बहुत ही आग्रह पर श्रमणों के द्वारा लाये गये स्निग्ध आहार को लिया। उग्र तप के कारण उन्हें दिव्य शक्ति प्राप्त हुई। शासन देवी ने प्रकट होकर उन्हें कहा—तुम प्रतिपक्षी विजेता बनो। उन्होंने तर्कशास्त्र का अध्ययन किया और वाद-विवाद करने में विलक्षण क्षमता प्राप्त की। उन्होंने शिलादित्य की सभा में बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ किया। यह शास्त्रार्थ छह महीने तक चला और नयचक्र को आधार बनाकर शास्त्रार्थ किया गया। आचार्य मल्लवादी की विजय हुई। राजा शिलादित्य ने उन्हें वादी की उपाधि से अलंकृत किया। मल्ल नाम पहले ही था इसलिए वे मल्लवादी के नाम से विश्रुत हुए। आचार्य जिनानन्द ने उन्हें सूरि पद प्रदान किया।

मल्लवादी ने द्वादशार नयचक्र की रचना की। चक्र के जिस प्रकार १२ आरे होते हैं उसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के भी १२ अध्याय हैं। यह ग्रन्थ नय और अनेकान्त दर्शन का अद्वितीय ग्रन्थ है। इसकी भाषा संस्कृत है। आचार्य ने अपने शिष्यों के सम्मुख इस ग्रन्थ का वाचन किया।[15] और अपने

---

१४. जनन्या सह ते सर्वे बुद्ध्वा दीक्षामथाददुः।
संप्राप्ते हि तरण्डे कः पाथोधिं न विलंघयेत्॥

—प्रभावक चरित्र, श्लोक १२, पृष्ठ ७७

१५. नयचक्रमहाग्रन्थः शिष्याणां पुरतस्तदा।
व्याख्यातः परवादीभकुम्भ भेदनकेसरी॥

—प्रभावक चरित्र; श्लोक ६६, पृष्ठ ७६

शिष्यों को तर्कशास्त्र का गम्भीर परिज्ञान कराया। यह सत्य है, यह अमूल्य कृति मूलरूप में वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। सिंहगणी क्षमाश्रमण द्वारा रचित टीका इस ग्रन्थ पर प्राप्त है। चौबीस हजार श्लोक प्रमाण सन्मति तर्क टीका और पद्म चरित्र भी आपकी महत्त्वपूर्ण रचना है।[16]

कहा जाता है आपके ज्येष्ठ भ्राता मुनि अजितयश ने प्रमाण ग्रन्थ की रचना की और यक्ष मुनि ने अष्टांग निमित्त बोधिनी संहिता का निर्माण करवाया पर यह ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। मल्लवादी आचार्य हरिभद्र से पहले हुए थे क्योंकि मल्लवादीरचित सन्मति टीका के कई अवतरण आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित अनेकान्त जयपताका में हैं।

प्रभावक चरित्र के अनुसार वीर निर्वाण ८८४ में आचार्य मल्लवादी का राजा शिलादित्य की राजसभा में बौद्धों के साथ शास्त्रार्थ हुआ और वीर निर्वाण ८४५ में वल्लभी नगर का ध्वंस हुआ। वल्लभी भंग के बाद प्रस्तुत संवत् के अनुसार आचार्य मल्लवादी का शास्त्रार्थ हुआ था।

प्रबन्ध कोष में वल्लभी भंग का प्रसंग इस प्रकार है—एक रंक वणिक से शिलादित्य का वैमनस्य हो गया। म्लेच्छ जाति का पूर्ण सहयोग रंक वणिक को प्राप्त हुआ और शिलादित्य को महान संकट का सामना करना पड़ा।[17] विक्रम संवत् ५७३ में वल्लभी का विनाश हुआ। वल्लभी के विनाश के साथ ही राजा शिलादित्य भी कालधर्म को प्राप्त हुए थे। प्रबन्ध कोष का प्रस्तुत घटना प्रसंग यह बताता है कि आचार्य मल्लवादी वीर निर्वाण ग्यारहवीं सदी के विशिष्ट विद्वान थे।

आर्य भद्रबाहु द्वितीय

भद्रबाहु नाम के दो आचार्य हुए हैं। प्रथम भद्रबाहु श्रुतकेवली के रूप में विश्रुत हैं तो द्वितीय भद्रबाहु निमित्तवेत्ता भद्रबाहु के रूप में जाने पहचाने जाते हैं। आपका जन्म प्रतिष्ठानपुर में हुआ था। जाति से आप ब्राह्मण थे। आपके लघु भ्राता का नाम वराहमिहिर था। अर्थाभाव के कारण मन में विरक्ति हुई और दोनों भ्राताओं ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ज्योतिष शास्त्र में उन्होंने विशेष योग्यता प्राप्त

---

१६. श्री पद्मचरितं नाम रामायणमुदाहृतम्।
चतुर्विंशतिरेतस्य सहस्रा ग्रन्थमानतः॥

—प्रभावक चरित्र, श्लोक ७०, पृष्ठ ७९

१७. प्रबन्ध कोष, श्लोक ६६, ६४ पृष्ठ २३।

की। वराहमिहिर में ईर्ष्या की भावना प्रबल थी किन्तु भद्रबाहु विनय आदि गुणों से सम्पन्न थे, इसलिए आचार्य ने भद्रबाहु को आचार्य पद प्रदान किया। वराहमिहिर की ईर्ष्या भड़क उठी। उसने श्रमण वेश का परित्याग किया और प्रतिष्ठानपुर पहुंचा। वहाँ के राजा जितशत्रु को प्रभावित किया और राजपुरोहित के पद पर प्रतिष्ठित हो गया। अपनी शेखी बघारते हुए उसने कहा—मेरी प्रकृष्ट प्रतिभा से प्रभावित होकर स्वयं सूर्य ने मुझे विद्या प्रदान की है। मैं सूर्यदेव के आदेश से ही इस पृथ्वी पर परिभ्रमण कर रहा हूं।

आचार्य भद्रबाहु एक बार प्रतिष्ठानपुर पधारे। वराहमिहिर ने राजा के नवजात पुत्र के सम्बन्ध में शतायु होने की घोषणा की थी। जब भद्रबाहु से पूछा गया तो भद्रबाहु ने उस नवजात शिशु का आयुष्य सात दिन का बताया और बिल्ली के योग से उसकी मृत्यु बताई[18]। सातवें दिन अर्गला, जिस पर बिल्ली का आकार अंकित था वह, बालक पर गिर गई और बालक ने सदा के लिए आँखें मूंद लीं। आचार्य भद्रबाहु की ज्योतिष विद्या से प्रभावित होकर राजा जितशत्रु ने श्रावक धर्म ग्रहण किया[19]।

वराहमिहिर आयु पूर्ण कर व्यंतर देव बना। पूर्व वैर से रुष्ट होकर जैन संघ को कष्ट देने लगा। संघ ने भद्रबाहु से प्रार्थना की कि आप जैसे समर्थ आचार्य के होते हुए हम कष्ट पा रहे हैं, आप इस कष्ट से हमें मुक्त करो। आचार्य ने 'उवसग्गहर' महाप्रभावी स्तोत्र का पूर्वों से उद्धार किया[20]। भद्रबाहु संहिता नामक ग्रन्थ आपकी विशिष्ट ज्योतिष-रचना है। अर्हत् चूड़ामणि नामक ग्रन्थ भी आपकी ही रचना है। आगमों पर दस निर्युक्तियां उन्होंने रची थीं[21]। ये निर्युक्तियां आर्याछन्द में लिखी हुई हैं जिनकी भाषा प्राकृत है। आगमों के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करना इनका उद्देश्य है। प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के संदर्शन विभिन्न

---

१८ अयं बालः सप्तमे दिवसे निशीथे बिडालिकया घातिष्यते।

—प्रबन्ध कोष, भद्रबाहु वराह प्रबन्ध, पृ० ३/२१

१९ राजा श्रावक धर्मं प्रतिपेदे।

—प्रबन्ध कोष, भद्रबाहु वराह प्रबन्ध, पृ० ४ पंक्ति १८

२० ततः पूर्वेभ्य उद्धृत्य 'उवसग्गहरं पासं' इत्यादि स्तवनं गाथा पंचकमयं सन्दद्भे गुरुभिः।

—प्र० को०, भद्रबाहु वराह प्रबन्ध, पृ० ४ पंक्ति १८

२१ आवश्यकनिर्युक्ति।

घटनाएँ, दृष्टान्त, कथानक और उपयोगी सूचनाएं निर्युक्ति साहित्य की विशिष्टता हैं। निर्युक्तिकार भद्रबाहु का जैन परम्परा के इतिहास में मौलिक स्थान रहा है। उनका समय वीर निर्वाण की १०वीं ११वीं सदी है। निर्युक्तियों का विशेष परिचय हमने 'जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा' ग्रन्थ में दिया है अतः जिज्ञासु पाठक वहाँ देख सकते हैं।

आर्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण

इनकी जन्मस्थली, माता-पिता आदि के सम्बन्ध में कुछ भी सामग्री प्राप्त नहीं है। १५वीं-१६वीं शताब्दी में निर्मित पट्टावलियों में इन्हें आचार्य हरिभद्र का पट्टधर लिखा है। जबकि आचार्य हरिभद्र जिनभद्र से १०० वर्ष पश्चात् हुए हैं। वे निवृत्ति कुल के थे। वल्लभी के जैन भण्डार में शक संवत् ५३१ की लिखी हुई विशेषावश्यक भाष्य की एक प्रति मिली है जिससे यह स्पष्ट है कि उनका सम्बन्ध वल्लभी के साथ अवश्य रहा है। विविध तीर्थ कल्प के अनुसार उन्होंने मथुरा में महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया था। वाचक, वाचनाचार्य, क्षमाश्रमण आदि शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं। आचार्य जिनभद्रगणी की नौ रचनाएं प्राप्त होती हैं—

१. विशेषावश्यक भाष्य—प्राकृत पद्य में
२. विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञवृत्ति—अपूर्ण, संस्कृत गद्य
३. बृहत्संग्रहणी—प्राकृत पद्य
४. बृहत्क्षेत्र समास—प्राकृत पद्य
५. विशेषणवती—प्राकृत पद्य
६. जीतकल्प—प्राकृत पद्य
७. जीतकल्पभाष्य—प्राकृत पद्य
८. अनुयोगद्वार चूर्णि—प्राकृत पद्य
९. ध्यानशतक—प्राकृत पद्य (इस सम्बन्ध में एकमत नहीं है)

नय, निक्षेप, प्रमाण, स्याद्वाद, प्रभृति दार्शनिक विषयों पर गूढ़ परिचर्चा, कर्मशास्त्र का गहराई से प्रतिपादन, ज्ञान के भेद-प्रभेदों के साथ व्याख्या, शब्द-शास्त्र पर विस्तार से निरूपण और औदारिक आदि सातों वर्गणाओं के सम्बन्ध में कई नये तथ्य दिये गये हैं। जैन दर्शन के साथ अन्य दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत ग्रन्थों में निहारा जा सकता है। जिनभद्रगणी आगमों पर पूर्ण रूप से समर्पित हैं। उनकी समग्र रचनाओं में आगम के चिन्तन को परिपुष्ट किया गया है। उन्होंने दर्शन को आगम पर

नहीं वरन् आगम के आधार पर दर्शन को प्रतिष्ठित किया है। उन्होंने प्रत्येक प्रमेय के साथ अनेकान्त और नय को घटित किया। इन्द्रियप्रत्यक्ष को संव्यवहार प्रत्यक्ष की संज्ञा देना उनका ही कार्य था। उनके सात ग्रन्थ पद्य प्राकृत में हैं और अनुयोगचूर्णि गद्य प्राकृत में।

विशेषावश्यक भाष्य आचार्य जिनभद्र की अन्तिम रचना है। उन्होंने इस पर सोपज्ञवृत्ति लिखना भी प्रारम्भ किया था किन्तु पूर्ण होने से पहले ही उनका आयुष्य पूर्ण हो गया जिससे वह अपूर्ण रह गई। विज्ञजन जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण का उत्तर काल विक्रम संवत् ६५० से ६६० के (वीर नि. ११२०-३०) आस-पास मानते हैं। वे छठे गणधर तक की चर्चा ही लिख सके थे और उस ग्रन्थ के अवशिष्ट भाग को कोट्याचार्य ने १३७०० श्लोक परिमाण में पूर्ण किया।

आर्य मानतुंग

अतीत काल से ही वाराणसी विज्ञों का केन्द्र रही है। वहां पर हजारों प्रतिभासंपन्न विज्ञ समुत्पन्न होते रहे हैं, जिन्होंने अपनी प्रतिभा की तेजस्विता से विश्व को आलोक प्रदान किया है। आचार्य मानतुंग की जन्मस्थली वाराणसी थी। उनके पिता का नाम धनदेव था और माँ का नाम धनश्री था। उन्होंने आरम्भ में दिगम्बर जैन परम्परा में दीक्षा ली। उनका नाम महाकीर्ति मुनि रखा गया। बहिन की प्रेरणा से उन्होंने श्वेताम्बर आचार्य जिनसिंह से चर्चा की और दिगम्बर श्रमण पर्याय का परित्याग कर श्वेताम्बर श्रमण बने और मानतुंग मुनि के रूप में विश्रुत हुए। उन्होंने आगमों का विधिवत् अध्ययन किया तथा आचार्य ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया। उस समय वाराणसी में हर्षदेव का शासन था[22]। वह कवियों का विशेष आदर करता था। बाण और मयूर नाम के दो कवि उसकी राजसभा के श्रृंगार थे। मयूर ने 'सूर्यशतक' की रचना कर सूर्य की उपासना की जिससे उसका कुष्ट रोग मिट गया। बाण ने 'चण्डीशतक' के द्वारा चण्डीदेवी की उपासना कर अपने कटे हुए हाथ-पैरों को ठीक किया था। राजा हर्षदेव ने आनन्दविभोर होकर उनको कहा—आप चामत्कारिक विद्याओं के धनी हैं। किसी भी अन्य परम्परा में इस प्रकार व्यक्ति का हो तो मुझे सूचित करें। राजा हर्षदेव का मन्त्री जैन था। उसने राजा से निवेदन

---

२२. तत्र श्री हर्षदेवाख्यो राजा न तु कलंकभृत्।

—प्रभावक चरित्र पृ० ११२, श्लो० ५

किया—राजन् ! पृथ्वी वसुन्धरा है । यहाँ पर एक से एक बढ़कर व्यक्ति हैं, आपके नगर में जैन आचार्य मानतुंग हैं । वे आपकी जिज्ञासाओं का समाधान करने में सक्षम हैं । आप उन्हें आदरपूर्वक आमन्त्रण दें[२३]।

राजा ने मन्त्री को आदेश दिया कि वे मुनि प्रवर को सम्मान सहित बुला लावें । मन्त्री ने आचार्य से निवेदन किया कि आप राज-दरबार में पधारें और चामत्कारिक विद्याओं का प्रयोग करें । आचार्य मानतुंग ने कहा—मुनि कामनाओं से मुक्त होता है । इसलिए उसे प्रदर्शन की कोई इच्छा नहीं होती । मन्त्री की प्रार्थना पर मानतुंग राजसभा में पहुंचे और उचित स्थान पर बैठ गये । राजा हर्षदेव ने आचार्य मानतुंग से कहा—ब्राह्मण विज्ञ आपके सामने बैठे हैं, जिन्होंने सूर्य की उपासना कर अपने रोग का शमन किया है और चण्डी की उपासना से अपने विभिन्न अंगों को पुनः प्राप्त किया है । अब आप भी अपनी मन्त्र विद्या का प्रभाव दिखायें ।

आचार्य मानतुंग ने कहा—जैन मुनि भौतिक उपलब्धि के लिए कोई कार्य नहीं करते । वे मोक्षार्थी हैं । अन्य विद्याओं का प्रदर्शन उन्हें इष्ट नहीं है ।

राजा हर्षदेव ने सोचा कि सीधी अंगुली से घी नहीं निकला करता । उन्होंने राजसेवकों को आदेश दिया । राजसेवकों ने लौह शृंखला के ४४ निगडबन्ध पैर से लेकर सिर तक बांध दिये और अन्धकाराच्छन्न अन्तरगृह में उनको बन्द कर दिया[२४] ।

आचार्य मानतुंग विद्याओं का प्रदर्शन नहीं करना चाहते थे पर अब उनके सामने जैन शासन की प्रभावना का प्रश्न आ गया । वे ऋषभदेव भगवान की स्तुति में लीन हो गए । भक्ति रस से परिपूर्ण ४४ श्लोक उन्होंने रच दिये । प्रत्येक श्लोक के साथ लौहमयी शृंखला की सघन कड़ियाँ और ताले

---

२३. मन्त्रिणोक्तम्—जिनशासनेऽपि महाप्रभावोऽस्ति । यदि कौतुकं ततः श्री मानतुंगाख्यं सूरिमाकार्य विलोकय ।

—पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ० १६

२४. ततो राज्ञा तमसि आपादमस्तकं चतुश्चत्वारिंशल्लोहशृंखलाभिर्नियंत्र्यापवरके क्षिप्त्वा तालकं दत्वा मोचितः ।

—पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ० १६

टूट गए[25]। स्तोत्र का प्रारम्भ भक्तामर शब्द से हुआ था। अतः उसका नाम भक्तामर के नाम से विश्रुत हुआ। राजा हर्षदेव बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसकी हृत्तन्त्री के तार झनझना उठे। मैं धन्य हूं! मेरा देश धन्य है! जहाँ आप जैसे त्यागी महापुरुष हैं। आचार्य मानतुंग के उपदेश को सुनकर राजा हर्षदेव ने जैन धर्म स्वीकार किया[26]। भक्तामर स्तोत्र आचार्य मानतुंग की अमर कृति है। आज भी हजारों व्यक्ति भक्ति-भावना से विभोर होकर उसका पाठ करते हैं। इस पर अनेक टीकाएं लिखी गई हैं और प्रत्येक श्लोक पर यन्त्र भी हैं। भयहर स्तोत्र आचार्य मानतुंग की द्वितीय कृति है जिसमें अठारह मन्त्राक्षर हैं। विपत्ति के क्षणों में इसका पाठ करने पर लाभ होता है[27]। जीवन की सांध्य वेला में अपने प्रधान शिष्य गुणाकर को अपना उत्तरदायित्व प्रदान किया और स्वयं ने अनशन कर स्वर्ग प्राप्त किया[28]। राजा हर्षदेव का राज्याभिषेक विक्रम संवत् ६८४ माना गया है। अतः वही समय आचार्य मानतुंग का मानने में कोई बाधा नहीं है। प्रबन्ध चिन्तामणि की दृष्टि से आचार्य मानतुंग भोज और भीम राजाओं के समकालीन थे।

आर्य जिनदास महत्तर

आगम के व्याख्याकारों में जिनदासगणी महत्तर का गौरवपूर्ण स्थान है। उनके पिता का नाम नाग अथवा चन्द्र[29] और माता का नाम गोपा[30]

---

२५. ततो भक्तामरस्तवः कृतः। एकैकवृत्तपाठे एकैक निगडभंगे निगड संख्यया-वृत्त भणनम्। सूरयो मुत्कला जाताः। तालकं भग्नम्।

—पुरातन प्रबन्ध संग्रह पृ० १६

२६ राज्ञाऽनेक स्तुतिः कृत्वा सविनयं नत्वा कृत्यादेशेन प्रसीदत। सूरिणोक्तम्—अस्माकं कापिच्छा नहि। परं तव हिताय ब्रूमः जिनधर्म प्रपद्यस्व। राजोऽगीचकार।

—पुरातन प्रबन्ध संग्रह पृ. १६

२७ सूरय सर्वोपद्रवहरं तन्मन्त्रगर्भितं भयहरस्तवं कृत्वा पुनर्नवतां प्राप्ताः।

—पुरातन प्रबन्ध संग्रह पृ. १६

२८ इत्थं प्रभावनां कृत्वाऽन्तसमयं प्राप्य श्री गुणाकरसूरिं न्यस्य पदेऽनशनमरणेन सूरयो दिवं ययुः।

—पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृष्ठ १६

२९ निशीथविशेष चूर्णि, उद्देशक १३, श्लोक १३।

३० निशीथ विशेष चूर्णि, उद्देशक १५।

था। देहड़, सीह, थोर, ये तीन उनके ज्येष्ठ भ्राता थे। देउल, णण, तिइज्जग, ये तीन कनिष्ठ भ्राता थे[31]। वाणिज्य कुलीन, कोटिगणी, वज्र, शास्त्रीय—प्रकाण्ड पण्डित, स्वपर समय विशेषज्ञ, धीर गम्भीर अध्येता, गोपालगणी महत्तर इनके धर्मगुरु थे[32] और प्रद्युम्न क्षमाश्रमण उनके विद्यागुरु थे। गुरुदेव के द्वारा उन्हें गणीपद दिया गया था और उनकी विशिष्ट योग्यता से प्रभावित होकर जनता-जनार्दन ने महत्तर की उपाधि प्रदान की थी[33]। इनके जीवन वृत्त के सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। विज्ञों का यह मानना है कि ये जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के बाद और आचार्य हरिभद्र से पहले हुए। क्योंकि भाष्य की अनेक गाथाओं का उपयोग चूर्णि में है। और आचार्य हरिभद्र ने अपनी वृत्तियों में चूर्णि का उपयोग किया है। इनका समय विक्रम संवत् ६५० से ७५० के मध्य होना चाहिए। उनकी निम्न चूर्णियां मानी जाती हैं—

१. निशीथ विशेष चूर्णि
२. नन्दी चूर्णि
३. अनुयोगद्वार चूर्णि
४. दशवैकालिक चूर्णि
५. उत्तराध्ययन चूर्णि
६. आवश्यक चूर्णि
७. सूत्रकृतांग चूर्णि

चूर्णियां गद्य में ही हैं। उनकी भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है किन्तु संस्कृत कम और प्राकृत अधिक है। आवश्यक चूर्णि की भाषा प्राकृत है। भाषा सरल और सुबोध है। निर्युक्ति और भाष्य की अपेक्षा चूर्णि साहित्य अधिक विस्तृत है। क्योंकि गद्यात्मक होने से भावाभिव्यक्ति निर्बाध रूप से हुई है। शिक्षात्मक कथाओं, धार्मिक आख्यानों-उपाख्यानों की विपुल सामग्री चूर्णि साहित्य में प्राप्त है। चूर्णि साहित्य की शैली निर्युक्ति और भाष्य से पृथक है।

आचारांग चूर्णि और सूत्रकृतांग चूर्णि में गोल्ल देश, सिन्धु देश, ताम्र लिप्ती, कोंकण आदि विभिन्न देशों का प्राकृतिक वर्णन, वहाँ के रीति-रिवाज, परम्पराएँ आदि के सम्बन्ध में चर्चाएँ की गई हैं। उत्तराध्ययन चूर्णि में प्राकृत भाषा में अनेक शब्दों की नवीन व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं। अनुयोगद्वार

---

३१ निशीथ विशेष चूर्णि, उद्देशक १६,

३२ उत्तराध्ययन चूर्णि, गाथा, १,२,३।

३३ गुरुदिण्णं च गणित्तं महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेण।
तेण कयेसा चुण्णी विसेसणमा णिसीहस्स ॥
—निशीथ विशेष चूर्णि, श्लोक २

चूणि में आराम, उद्यान आदि शब्दों की व्याख्या की गई है। दशवैकालिक चूणि में अपने विषय की बढ़िया सामग्री दी गई है। नन्दीचूणि में माथुरी आगम बाचना का इतिहास उट्टंकित है। आवश्यक चूणि और निशीथ चूणि ये दोनों चूणियाँ काफी विस्तृत हैं। विषय सामग्री, भाषा प्रवाह और रचना शैली को देखकर ऐसा लगता है कि ये व्याख्या ग्रन्थ न होकर स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। आवश्यक चूणि में भगवान ऋषभदेव का और भगवान महावीर आदि का विस्तार से जीवन वृत्त है। उनकी विहार यात्रा का भी निरूपण है। वज्र स्वामी, आर्यरक्षित, वज्रसेन प्रभृति अनेक प्रभावशाली आचार्यों के जीवन प्रसंग हैं। चेटक और कूणिक के महाशिला संग्राम आदि का भी वर्णन है। सप्त निन्हवों के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री भी इनमें उपलब्ध है। लौकिक कथाओं का पर्याप्त मात्रा में उपयोग हुआ है। निशीथ चूणि में उत्सर्ग और अपवाद मार्ग की विस्तार से चर्चा है। इस प्रकार चूणि साहित्य में सांस्कृतिक, राजनैतिक और सामाजिक सामग्री पर्याप्त परिमाण में उपलब्ध है। इनका वीर निर्वाण की १२वीं शताब्दी और विक्रम की आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का समय निश्चित होता है।

आर्य हरिभद्र

हरिभद्र नाम के कई आचार्य हुए हैं। पुरातत्ववेत्ता जिनविजयजी, डॉ० हरमन जेकोबी ने याकिनी महत्तरा सूनु हरिभद्र को प्रथम हरिभद्र माना है। आप चित्तौड़ के निवासी थे। जाति से ब्राह्मण थे। आपके पिता का नाम शंकर भट्ट और माता का नाम गंगा था। चित्तौड़नरेश जितारि के राजदरबार में आप राजपुरोहित के पद पर प्रतिष्ठित थे। प्रतिदिन राज दरबार से घर तक शिविका में जाते। आप में अपने पाण्डित्य का अत्यधिक अभिमान था। कहीं ज्ञान से उदर फट न जाए इस भय से पेट पर स्वर्ण पट्ट बाँधे रहते थे। प्रतिद्वन्द्वी को धरती का उत्खनन कर निकालने के लिए कुदाल, जल में से निकालने के लिए जाल और आकाश से धरती पर उतारने के लिए निसरणी अपने कन्धे पर रखते थे। जम्बूद्वीप में मेरे सदृश कोई विद्वान नहीं है यह बताने के लिए जम्बूवृक्ष की शाखा को रखते थे। उन्होंने गर्व से यह प्रतिज्ञा की थी कि जिस किसी की भी बात मेरी समझ में नहीं आएगी मैं उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लूँगा।

हाथी के पागल हो जाने से वे जैन उपाश्रय के बाहर अपने-आप को बचाने के लिए खड़े हुए थे। उनके कर्ण-कुहरों में यह गाथा गिरी—

> चक्कि दुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
> केसव चक्की केसव, दुचक्की केसीय चक्कीया॥

उन्होंने चिन्तन किया किन्तु अर्थ समझ में नहीं आया अतः वे प्रतिज्ञा के अनुसार शिष्य बनने के लिए तत्पर हो गए और साध्वी महत्तरा की आज्ञा से वे आचार्य जिनभट के शिष्य हुए। प्रभावक चरित्र के अनुसार जिनभट उनके गच्छपति गुरु थे।[३४] जिनदत्त दीक्षागुरु थे। याकिनी महत्तरा धर्म-जननी थी। उनका कुल विद्याधर था। गच्छ एवं सम्प्रदाय श्वेताम्बर था।

गृहस्थाश्रम में हरिभद्र वैदिक दर्शन के पारगामी विद्वान थे। जैन श्रमण बनने पर उन्होंने जैन दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा को देखकर गुरु ने उन्हें आचार्य पद प्रदान किया। जब आचार्य हरिभद्र आहार करते तब लल्लिग शंख बजाता था। शंख की ध्वनि को सुनकर याचक गण वहाँ पर आते। भोजन कर जाते समय आचार्य हरिभद्र को नमस्कार करते। आचार्य हरिभद्र उन्हें आशीर्वाद प्रदान करते हुए कहते—'भवविरह में प्रयत्नशील बनो।' इस कारण उनका नाम 'भवविरह सूरि' भी हुआ।

आचार्य हरिभद्र के भगिनी-पुत्र हंस और परमहंस दीक्षित हुए। उन्होंने प्रमाणशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया। बौद्ध प्रमाण शास्त्र के अध्ययन के लिए बौद्ध विद्यापीठ में जाने की इच्छा व्यक्त की। आचार्य हरिभद्र ने ज्योतिष शास्त्र को आधार से उन्हें बतलाया कि वहाँ पर अध्ययन करने न जाओ चूंकि अनिष्ट होने की संभावना है। किन्तु गुरु के आदेश की अवहेलना कर वे वहाँ से प्रस्थित हुए। वेश परिवर्तित कर बौद्ध विद्यापीठ में प्रविष्ट हुए। अन्य छात्रों की अपेक्षा वे अधिक प्रतिभासम्पन्न थे। बौद्ध प्रमाण शास्त्र पढ़कर जब वे अपने स्थान पर आते तो उसकी तुलना जैन दर्शन के साथ करते और बौद्ध प्रमाण शास्त्र का खण्डन भी करते। एक बार आँधी में पन्ने उड़ गए और वे पन्ने बौद्ध प्राध्यापक को मिले। बौद्ध प्राध्यापक ने उनको पढ़ने के पश्चात् मरवाने का निर्णय लिया पर वे वहाँ से पलायन कर गये। हंस का प्राणान्त रास्ते में हुआ और परमहंस की मृत्यु आचार्य के उपाश्रय में प्रवेश करते समय हुई। बौद्धों द्वारा दोनों भगिनी-पुत्रों को मारने के कारण उनका कोप भड़क उठा और उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं को मारने का निर्णय लिया। क्रुद्ध

---

३४ दिवसगणमनर्थकं स पूर्वस्वकमभिमानकदर्थ्यमानमूर्तिः।
अगनुतः स ततश्च मण्डपस्थं जिनभटसूरिमुनीश्वरं ददर्श ॥
—प्रभावक चरित्र, पत्रांक ६४, श्लोक ३७

हरिभद्र को प्रतिबोध देने के लिए याकिनी महत्तरा पहुंची और उसने कहा—मुझे प्रायश्चित्त दीजिए। आचार्य हरिभद्र ने कहा—मैं इस समय आवश्यक कार्य में व्यस्त हूं। बाद में प्रायश्चित्त ले लेना। महत्तरा ने आग्रहपूर्वक निवेदन किया—जीवन का कोई भरोसा नहीं है। यदि बिना दोषों का प्रायश्चित्त लिए सांस रुक गया, मैंने दोषों का प्रायश्चित्त नहीं किया और आयुष्य पूरा हो गया तो विराधक बन जाऊंगी।

याकिनी महत्तरा के प्रति हरिभद्र के मन में अपूर्व निष्ठा थी। उन्होंने द्वार खोला। साध्वी महत्तरा ने कहा—असावधानी से मेरे पैर से एक मेंढक की हत्या हो गई है। आचार्य हरिभद्र ने दोष की विशुद्धि के लिए पांच उपवास प्रायश्चित्त के रूप में प्रदान किये। साध्वी महत्तरा ने कहा—मेंढक की हत्या के प्रायश्चित्तस्वरूप ये पांच उपवास मुझे मिले हैं पर आप जो बौद्ध श्रमणों को मारने की हिंसा करने जा रहे हैं, उसका दण्ड आपको क्या मिलेगा? आचार्य हरिभद्र महत्तरा के एक वाक्य से ही संभल गए। डूबती नैया किनारे लग गई। छूटती पतवार हाथ में थम गई।

पुरातन प्रबन्ध संग्रह में आचार्य जिनदत्त कोपाविष्ट हरिभद्र के पास एक श्रावक को प्रेषित करते हैं और वह श्रावक आचार्य हरिभद्र से निवेदन करता है कि मेरे से एक पञ्चेन्द्रिय जीव की विराधना हो गई है जिससे मेरा मन अत्यन्त खिन्न है। मुझे प्रायश्चित्त प्रदान कर मेरा शुद्धिकरण करें। आचार्य हरिभद्र ने कहा—तुम्हें प्रायश्चित्त ग्रहण करना होगा, इसके लिए तुम तैयार हो जाओ। श्रावक ने पुनः निवेदन कर कहा—भगवन! फिर आपको इस हिंसात्मक कार्य के लिए कितना प्रायश्चित्त ग्रहण करना पड़ेगा? आचार्य हरिभद्र ने सोचा—गुरुदेव ने मुझे प्रतिबुद्ध करने के लिए ही यह उपक्रम किया है। श्रावक ने कहा—गुरुदेव ने फरमाया है कि आपने समरादित्य चरित्र पढ़ा या नहीं? वैर का कटु परिणाम जन्म-जन्मान्तर तक भोगना पड़ता है। आप व्यर्थ ही रोष में आकर इतना भीषण अकृत्य करने जा रहे हैं। आचार्य हरिभद्र का अन्तर्विवेक जागृत हो उठा। आचार्य जिनदत्त द्वारा प्रेषित श्लोकों के आधार पर प्राकृत भाषा में समरादित्य कथा की रचना की[३५]।

भद्रेश्वर सूरि ने कहावली में प्रस्तुत प्रसंग को अन्य रूप से लिखा है। उन्होंने लिखा है कि आचार्य हरिभद्र के जिनभद्र और वीरभद्र ये दो शिष्य थे। आचार्य हरिभद्र के बढ़ते हुए प्रभाव को सहन न कर पाने के कारण कुछ ईर्ष्यालुओं ने उन दोनों शिष्यों को कत्ल करवा दिया। आचार्य हरिभद्र को

---

३५. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृष्ठ १०५।

भारी आघात लगा। उन्होंने अनशन करने का निश्चय किया। संघ ने निवेदन किया कि- आप अनशन ग्रहण न करें। संघ की प्रार्थना पर उन्होंने अनशन ग्रहण नहीं किया और निश्चय किया कि मैं शिष्य-सन्तति के स्थान पर ज्ञान-सन्तति पर अधिक बल दूंगा। वे ग्रन्थों का सृजन करने लगे। विरह-वेदना को व्यक्त करने हेतु प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त में 'विरह' शब्द का प्रयोग किया [३६]। आज भी उनके ग्रन्थों की पहचान "विरह" शब्द से होती है।

आचार्य हरिभद्र महान प्रतिभासम्पन्न थे। उनकी कृतियाँ जैन शासन का शृंगार हैं। उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं में लिखा। आगम साहित्य के वे सर्वप्रथम टीकाकार हैं। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना, प्रज्ञप्ति, जीवाभिगम प्रभृति आगमों पर टीकाएं लिखीं। उनकी टीकाओं की यह महान विशेषता है कि वे विविध विषयों पर चिन्तन देती हैं। आवश्यकवृत्ति, आवश्यकनिर्युक्ति पर आधृत है। सामायिक आदि सभी पदों पर बहुत ही विस्तार के साथ विवेचन किया है। यह टीका २२,००० श्लोक प्रमाण है। दशवैकालिक वृत्ति का आधार दशवैकालिक निर्युक्ति है। इस वृत्ति को शिष्यबोधनी वृत्ति और बृहद्वृत्ति दोनों कहते हैं। वृत्ति में आचार्य शय्यम्भव का पूरा परिचय दिया है। निर्जरा का सांगोपांग विवेचन है। पञ्चाचार, अठारह सहस्र शीलांग का प्रतिपादन किया गया है। श्रमण धर्म की दुर्लभता, भाषा विवेक, व्रतषटक, कायषटक, अठारह स्थानक, आचार प्रणिधि, समाधि के प्रकार, रति-अरति आदि विविध विषयों पर टीका में प्रकाश डाला गया है। टीकाकार ने अपना परिचय महत्तरा धर्मपुत्र के रूप में दिया है।[३७] नन्दी और अनुयोगद्वार की टीकाएँ चूर्णियों की शैली पर लिखी गई हैं। नन्दी की टीका २३३६ श्लोक परिमाण है। केवलज्ञान, केवलदर्शन के प्रश्न को लेकर विचार-चर्चा की गई है। अनुयोगद्वार वृत्ति नन्दी वृत्ति के बाद में लिखी हुई है। प्रमाण को समझाने के लिए अंगुलियों का स्वरूप प्रत्यक्ष अनुमान, आगम, ज्ञाननय, क्रियानय आदि की दृष्टि से चिन्तन किया गया है। प्रज्ञापना की टीका प्रज्ञापना के

---

३६. प्रभावक चरित्र, श्लोक २०६, पत्र २७४

३७. महत्तरायाकिन्या धर्मपुत्रेण चिन्तिता।
आचार्य हरिभद्रेण, टीकेयंशिष्यबोधिनी ॥

—दशवै० हारिभद्रीया वृत्ति प्रश० श्लोक १

पदों पर है। टीका में सर्वप्रथम जिनप्रवचन की महिमा गाई गई है। भव्य और अभव्य की भी चर्चा की गई है। जीव और अजीव की चर्चा करते हुए अनेक सैद्धान्तिक विषयों पर प्रकाश डाला है। अष्टम पद की व्याख्या में संज्ञा के स्वरूप पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन किया गया है। ग्यारहवें पद में स्त्री, पुरुष और नपुंसक के स्वभावगत लक्षणों का सुन्दर विवेचन किया गया है। जीवाभिगम पर लघु वृत्ति है। पर उसमें तत्त्वज्ञान सम्बन्धी खासी अच्छी सामग्री है। आगमों के अतिरिक्त अन्य आगमेतर ग्रन्थों पर भी उन्होंने टीकाएं लिखी हैं। तत्त्वार्थलघु वृत्ति, पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति, क्षेत्र समास वृत्ति, कर्मस्तव वृत्ति, ध्यान शतक वृत्ति, लघु क्षेत्र समास वृत्ति, ललितविस्तरा वृत्ति, श्रावकधर्म-समास वृत्ति, श्रावक प्रज्ञप्ति टीका, सर्वज्ञसिद्धि टीका, नयावतारवृत्ति आदि अनेक वृत्तियां हैं। जिनमें उनकी प्रतिभा मुखरित हुई है। स्वयं के द्वारा लिखित योगदृष्टि समुच्चय पर भी उन्होंने वृत्ति लिखी है। धर्म-संग्रहणी वृत्ति में ज्ञान के पञ्च भेदों पर चिन्तन कर चार्वाक दर्शन का युक्ति पुरस्सर खण्डन किया गया है। "श्रावक धम्म" और "श्रावक धम्मसमास" इन दोनों ग्रन्थों में श्रावक धर्म का विवेचन है। शास्त्रवार्ता समुच्चय टीका में भारतीय दर्शन को समझने की पर्याप्त सामग्री दी गई है। जैन साहित्य पर ही नहीं जैनेतर साहित्य पर भी उन्होंने टीकाएं लिखी हैं। बौद्ध विद्वान दिङ्नाग के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ न्याय प्रवेश पर भी आपने टीका लिखी है जिसमें आपका अगाध ज्ञान झलक रहा है।

जिस तरह से हरिभद्र ने टीका साहित्य का निर्माण कर अपनी निर्मल मेधा का परिचय दिया है उसी तरह योग पर भी व्यापक दृष्टि से चिन्तन किया गया है। योग दृष्टि समुच्चय, योग बिन्दु, योग विंशिका, योग शतक—ये चारों ग्रन्थ योग पर अपनी दृष्टि से लिखे हुए ग्रन्थ हैं जिनमें उन्होंने योग की नई परिभाषाएँ और वैज्ञानिक पद्धतियां प्रस्तुत की हैं। मित्रा, तारा, बला, क्षिप्रा, आदि आठ यौगिक दृष्टियों का जो प्रतिपादन किया है वह उनकी अपनी मौलिक देन है। उन्होंने द्रव्यानुयोग की दृष्टि से धर्म संग्रह, गणितानुयोग की दृष्टि से क्षेत्रसमास वृत्ति, चरणानुयोग की दृष्टि से धर्मबिन्दु, उपदेशपद और धर्मकथानुयोग की दृष्टि से धूर्ताख्यान 'समराइच्च कहा' लिखी है जो उनकी सरस कृतियाँ हैं।

अनेकान्त दृष्टि को समझाने के लिए अनेकान्त जयपताका, अनेकान्त प्रवेश' आदि विशिष्ट ग्रन्थ लिखे हैं। भारत में फैले हुए छहों दर्शनों के महत्व को बताने के लिए 'षट्दर्शन समुच्चय' नामक ग्रन्थ लिखा है जो आपकी

मौलिक कृति है। लोक तत्त्व निर्णय, श्रावक प्रज्ञप्ति, अष्टक प्रकरण, पञ्चाशक, पञ्च वस्तु प्रकरण आदि भी आपकी विशिष्ट रचनाएँ हैं। सम्बोध प्रकरण ग्रन्थ में शिथिलाचार निवारण हेतु आपने जागरूक होकर उस पर तीव्र प्रहार किया है। उनका सम्पूर्ण साहित्य वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि उन्होंने १४४४ ग्रन्थों की रचना की थी। पर आज जो भी साहित्य उपलब्ध है, वह शोधार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी है।

जिनविजय के प्रवन्धकोष के अनुसार आचार्य हरिभद्र ने १४४० ग्रन्थों की रचना की थी।[38] पुरातन प्रबन्धसंग्रह के अनुसार उन्होने १४०० ग्रन्थों की रचना की थी।[39] पर अभी तक ७३ ग्रन्थ ही उपलब्ध हो सके हैं। आचार्य हरिभद्र की यह महान विशेषता रही है कि उन्होंने जितनी सफलता के साथ जैन दर्शन पर लिखा, उतनी ही सफलता के साथ उन्होंने बौद्ध और वैदिक साहित्य पर भी लिखा। साम्प्रदायिक अभिनिवेश का उनमें अभाव था। खण्डन-मण्डन के समय में भी वे मधुर भाषा का प्रयोग करते हैं। उमास्वाति, सिद्धसेन-दिवाकर, जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने जिस प्रकरणात्मक पद्धति का प्रचलन किया था, उन प्रकरणों की रचनाओं को आचार्य हरिभद्र ने व्यवस्थित रूप दिया।

हरिभद्र प्रबुद्ध साधक थे। जीवन की संध्या में उन्होंने अनशन व्रत कर समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण किया। प्राचीन विज्ञों के अनुसार उनका समय वीर निर्वाण १००० से १०५५ विक्रम ५३० से ५८५ था, पुरातत्ववेत्ता जिनविजयजी ने उनका समय वि० सं० ७५७ से ८२७ माना है। इस दृष्टि से प्राचीन समय विक्रम की छठी शताब्दी और वर्तमान समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है।

आर्य बप्पभट्टि

आचार्य बप्पभट्टि का जन्म वीर निर्वाण १२७० (विक्रम ८००) भाद्रपद तृतीया रविवार को हुआ।[40] इनका गृहस्थाश्रम में नाम सूरपाल था। एक बार मोढ़गच्छ के आचार्य सिद्धसेन मोढ़ेर नगर में विराज रहे थे। उन्होंने स्वप्न में केसरी-शावक को छलांग भरते हुए देखा।[41] प्रातःकाल

---

३८. प्रबन्ध कोष, पृष्ठ २६।

३९. पुरातन प्रबन्ध संग्रह सं० १०४।

४०. प्रभावक चरित्र, श्लोक ७३६, पृष्ठ १०९।

४१. प्रबन्ध कोष, पत्र २६।

उनकी दृष्टि एक छः वर्ष के बालक पर गिरी। उस बालक का व्यक्तित्व लुभावना था। आचार्य ने पूछा—तुम कौन हो ? और कहाँ के रहने वाले हो ? बालक ने निर्भीक स्वर में कहा—मेरा नाम सूरपाल है। मेरी माँ का नाम भट्टी है और पिता का नाम बप्प है। जो पाञ्चाल देश के हैं।[४२] जब मैंने राजद्रोह करते हुए शत्रुओं को देखा तो मेरा खून खौल उठा। मैंने युद्ध करने की भावना व्यक्त की पर पिता ने मुझे रोक दिया। मुझे लगा पिता में जोश नहीं है। निरुत्साही पिता के पास रहना मैंने उचित नहीं समझा। मैं बिना माता-पिता को सूचित किए वहाँ से प्रस्थित हो गया।

तेजस्वी बालक को देखकर आचार्य सिद्धसेन ने सोचा—यह बालक बहुत ही तेजस्वी है। तेजस्विता से वय का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः उन्होंने बालक से कहा—वत्स ! तुम हमारे पास रहो। घर की अपेक्षा तुम्हें यहाँ अधिक सुख मिलेगा। बालक ने रहने की स्वीकृति दी। बालक को अन्य सन्तों ने भी देखा और वे भी उसकी भव्य आकृति पर मुग्ध हो गए। आचार्य ने उसे अध्ययन कराना प्रारम्भ किया। उसकी बुद्धि अत्यन्त विलक्षण थी। एक बार सुनकर वह स्मरण कर लेता था। एक दिन में एक हजार श्लोक कण्ठस्थ कर सभी को विस्मय से विमुग्ध बना दिया[४३]। आचार्य ने सोचा—ऐसा मेधावी तेजस्वी बालक मिलना कठिन है। अतः आचार्य सूरपाल के माता-पिता के पास पहुंचे और उन्हें प्रतिबोध दिया तथा बालक की सुदृढ़ भावना को देखकर माता-पिता ने दीक्षा की अनुमति दी। छह वर्ष की उम्र में वीर निर्वाण १२७७ में (विक्रम संवत् ८०७ में) वैशाख शुक्ला तृतीया गुरुवार को आर्हती दीक्षा ग्रहण की। माता-पिता के नाम की स्मृति के लिए बालमुनि का नाम बप्पभट्टि रख गया।

एक बार बप्पभट्टि शौचार्थ बहिर्भूमि में पधारे। अतिवृष्टि के कारण उन्हें देवालय में रुकना पड़ा। उन्होंने देखा एक तेजस्वी व्यक्ति वहाँ पर बैठा है। उसने बप्पभट्टि से काव्य सुना। उनकी विद्वत्ता से वह प्रभावित हुआ। वह उनके साथ उपाश्रय में आया। आचार्य सिद्धसेन ने उस युवक से पूछा—तुम्हारा परिचय क्या है ? युवक ने कहा—कान्यकुब्ज देश के अन्तर्गत

---

४२ पंचालदेश्य—बप्पाख्यपुत्रोहं भट्टिदेहभूः ॥

—प्रभावकचरित्र, पृ. ८०, श्लो० १७

४३ एकान्हेन श्लोकसहस्रमध्यगीष्ट।

—प्रबन्ध कोष, पत्र २६

गोपालगिरि नगर के राजा यशोवर्मा का मैं पुत्र हूं। मेरी मां का नाम सुयशा था। युवावस्था में कुसंगति में पड़ने के कारण मैंने विपुल धन का अपव्यय किया। मेरे पिता ने मुझे उपालम्भ देते हुए कहा- वत्स ! मितव्ययी बन। पिता की बात मुझे पसन्द नहीं आई और मैं घर से निकल गया। इधर-उधर परिभ्रमण करते हुए मैं यहां पर पहुंचा हूं। आचार्य सिद्धसेन ने उसका नाम पूछा—उसने खड़िया से लिखकर 'आम' बताया। आचार्य को लगा—यह कोई विशिष्ट पुरुष है। आम को आचार्य ने आदेश दिया—तुम बप्पभट्टि से अध्ययन करो। बप्पभट्टि ने आम को बहत्तर कलाओं का अध्ययन कराया[४४]। लक्षण और तर्कशास्त्र का भी गंभीर अध्ययन कराया। आम और बप्पभट्टि में परस्पर प्रीति का आधिक्य हो गया।

कुछ समय के बाद जब राजा यशोवर्मा रुग्ण हो गया तो उसने अपने अनुचर आम की खोज में प्रेषित किए। अनुचरों ने आम से निवेदन किया कि आपको राज्याभिषेक के लिए पिताश्री बुला रहे हैं। इच्छा न होते हुए भी आम को जाना पड़ा। राजा यशोवर्मा ने आम का राज्याभिषेक किया और स्वयं ने अनशनपूर्वक समाधि के साथ आयु पूर्ण किया। आम राजा बन गया किन्तु मुनि बप्पभट्टि के बिना उसका मन नहीं लग रहा था। उसने अपने राज्याधिकारियों को आचार्य सिद्धसेन के पास भेजा और उनसे निवेदन किया कि आप बप्पभट्टि मुनि को प्रस्थित करें। आचार्य की आज्ञा लेकर बप्पभट्टि मुनि अन्य गीतार्थ मुनियों के साथ गोपालगिरि पहुंचे। राजकीय सम्मान के साथ उनका नगर में प्रवेश हुआ। राजा आम ने चरणों में गिर कर निवेदन किया आर्य ! आप आधा राज्य स्वीकार करें।

मुनि ने कहा—श्रमणों के लिए पापमूलक राज्य वर्ज्य है। बप्पभट्टि की अनासक्ति को देखकर वह और भी अधिक प्रभावित हुआ। राज्य सभा में बैठने के लिए बप्पभट्टि मुनि के लिए बढ़िया सिंहासन की व्यवस्था की। बप्पभट्टि मुनि ने कहा—सिंहासन पर बैठने का अधिकारी आचार्य होता है। बप्पभट्टि सिंहासन पर नहीं बैठे। राजा को विचार आया कि मैं कैसा शिष्य हूं जो अपने विद्यागुरु को आचार्य नहीं बना पाया। उसने प्रधान सचिवों को आचार्य सिद्धसेन के पास विज्ञप्ति देकर भेजा। उसमें लिखा—

योग्यं सुतं शिष्यं च नयन्ति गुरवः श्रियम्।

---

४४ प्रभावक चरित्र, पत्र ८१-८२, श्लोक ६१,७३

योग्य पुत्र और शिष्य को गुरुजन श्री प्रदान कर उनका बहुमान करते हैं अतः आप भी बप्पभट्टि मुनि को आचार्य पद प्रदान करें। आचार्य सिद्धसेन ने वीर निर्वाण १२८१ में (विक्रम ८११ में) ११ वर्ष की उम्र में बप्पभट्टि को आचार्य पद प्रदान किया। आचार्य ने शिष्य को शिक्षा देते हुए कहा—वत्स ! अब तुम्हारा विशेष राज्य सत्कार होगा। विविध प्रकार की सुख-सुविधाएं प्राप्त होंगी पर तुम उनमें मुग्ध मत बनना। इन्द्रियजय की साधना बहुत ही कठिन है। बप्पभट्ट ने गुरु के संदेश को शिरोधार्य किया। राजा आम उनके कल्याणकारी उपदेश को सुनकर बहुत हो प्रभावित होता था। बप्पभट्टि के काव्य पर तो वह पहले ही मुग्ध था। तत्काल समस्याओं का समाधान सुनकर उसके हर्ष का पारावार नहीं रहता।

एक बार आम ने आचार्य के ब्रह्मचर्य की परीक्षा लेने के लिए नगर-वधू को पुरुष का वेश पहनाकर बप्पभट्टि के शयन कक्ष में भेजा। वह शयन कक्ष में पहुंचकर उनके चरणों पर मर्दन करने लगी। कोमल स्पर्श होते ही आचार्य उठकर बैठ गये और उन्होंने कहा—पवन से घास को उड़ाया जा सकता है किन्तु पर्वतों को नहीं। तुम जिस मार्ग से आई हो पुनः उसी मार्ग से चली जाओ। तुम्हें यहाँ सफलता प्राप्त नहीं होगी। उसने हाव-भाव और कटाक्ष से आचार्य को स्खलित करने का प्रयास किया पर किंचित् भी प्रभाव न होता देख वह पुनः लौट गई और राजा से सारी बात कही। बप्पभट्टि के दृढ़ मनोबल को देखकर राजा अत्यधिक प्रभावित हुआ। राजा आम सोचने लगा—अब मैं किस प्रकार अपना मुँह आचार्य को दिखाऊँ ? बप्पभट्टि राज्य सभा में पहुंचे और राजा से कहा – तुम राजा हो इसलिये तुम्हें अधिकार है कि जिस किसी की परीक्षा ले सकते हो। तुमने मेरी परीक्षा ली है, यह परीक्षा तुम्हारे और मेरे लिए लाभप्रद ही रही।

एक बार बप्पभट्टि बंगाल की राजधानी लक्षणावती पधारे। वहाँ का राजा धर्मदास था। उसका आम राजा के साथ वैर था। अतः उसने बप्पभट्टि आचार्य को शास्त्रार्थ के लिए निमन्त्रण दिया। वर्द्धनकुञ्जन नामक विज्ञ के साथ छह महीने तक शास्त्रार्थ चला और अन्त में विजय हुई। राजा धर्मदास ने उन्हें वादी कुञ्जर केसरी उपाधि प्रदान की। आम राजा और धर्म राजा में परस्पर में जो वैर था, वह भी आपके प्रयासों से मिट गया।

एक बार राजा आम ने बप्पभट्टि से कहा कि मथुरा में वाग्पति नामक एक महान मन्त्रवादी है। यदि आप उसे प्रतिबोध देकर श्रावक बनाएँ तो मैं समझूँगा कि आप वस्तुतः महान ज्ञानी हैं। बप्पभट्टि मथुरा पहुंचे और ध्यानस्थ

वाग्पति के सामने उन्होंने कई श्लोक बोले। वाग्पति ने ध्यान से निवृत्त होकर बप्पभट्टि से शास्त्रार्थ किया। बप्पभट्टि ने जिनेश्वरदेव का स्वरूप समझाकर उसे आर्हती दीक्षा प्रदान की।

बप्पभट्टि सूरि ने ५२ ग्रन्थों का निर्माण किया पर वर्तमान में चतुर्विंशति—जिनस्तवन और सरस्वती स्तोत्र ये दो ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। वीर निर्वाण १३६५ में उनका ६५ वर्ष की उम्र में स्वर्गवास हुआ[45]।

आचार्य रत्नप्रभ जिन्होंने ओसिया नगरी के निवासियों को चमत्कार दिखाकर क्षत्रिय परिवारों को ओसवाल बनाए। कुछ ऐतिहासिक विज्ञों का मन्तव्य है कि ओसवाल जाति का अभ्युदय वीर निर्वाण १३०० (विक्रम ८३०) में हुआ। आचार्य बप्पभट्टि का स्वर्ग-गमन इससे कुछ पूर्व हो गया था।

आर्य उद्योतन सूरि

आचार्य उद्योतन सूरि दाक्षिण्यांक के नाम से विश्रुत थे। इनके गुरु का नाम यक्षदत्त था। आपने वीरभद्र सूरि से सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त किया था और आचार्य हरिभद्र से तर्कशास्त्र का अध्ययन किया था। कुवलयमाला आपकी श्रेष्ठतम कृति है। यह कथा चम्पूशैली में निर्मित है। गद्य-पद्य मिश्रित महाराष्ट्री प्राकृत की यह प्रसाद गुण युक्त रचना है। पैशाची, अपभ्रंश और संस्कृत भाषा के प्रयोग कथा में रोचकता पैदा करते हैं। इस ग्रन्थ में विविध अलंकार हैं। सुभाषित, मार्मिक प्रश्नोत्तर के कारण कथा के प्रारम्भ से लेकर प्रान्त तक रस रहा हुआ है। क्रोध-मान-माया-लोभ आदि के दुःखद परिणाम बताने के लिए लेखक ने यत्र-तत्र लघु कथाओं का प्रयोग किया है। इस ग्रन्थ का प्रणयन जबालिपुर (जालौर) में हुआ। वीर निर्वाण १३०६ (वि० ८३६) में इस ग्रन्थ की रचना हुई। वीर निर्वाण की १३वीं शताब्दी और विक्रम की नौवीं शताब्दी के ये प्रभावशाली आचार्य रहे हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि बड़ गच्छ के संस्थापक उद्योतन सूरि से ये उद्योतन सूरि पृथक हैं। ये उनसे १०० वर्ष पहले हुए हैं।

आर्य सिद्धर्षि

सिद्धर्षि गुजरात के श्रीमालपुर के निवासी थे। इनके पिता का नाम शुभंकर और माता का नाम लक्ष्मी था। इनके दादा का नाम

---

४५ शर-नन्द सिद्धिवर्षे (८९५) नभः शुद्धाष्टमीदिने।
स्वातिभेऽजनि पंचत्वमामराजगुरोरिह॥
—प्रभावक चरित, श्लोक ७४१, पृ० १०९

सुप्रभदेव था। सुप्रभदेव गुजरात के श्री वर्मलात नामक राजा के अमात्य थे। अमात्य सुप्रभदेव के दंत और शुभंकर ये दो पुत्र थे। गीर्वाण-गिरा का यशस्वी कवि माघ दंत का पुत्र था[४६] और शुभंकर का पुत्र सिद्धर्षि था। सिद्धर्षि ने निवृत्ति गच्छ के सुराचार्य के शिष्य गर्गर्षि के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। श्रमण बनने पर उन्होंने जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया।

उन्हें दीक्षा की प्रेरणा माँ से प्राप्त हुई थी। वह प्रसंग इस प्रकार है—

सिद्धर्षि जब गृहस्थाश्रम में थे तो उन्हें द्यूत खेलने का बड़ा शौक था। परिजनों ने उनको प्रेरणा दी किन्तु वे द्यूत-क्रीड़ा न छोड़ सके। द्यूत-क्रीड़ा का व्यसन बढ़ता ही चला गया। वे प्रायः अर्ध-रात्रि के पश्चात अपने निवास पर लौटते। उनकी पत्नी को उनकी प्रतीक्षा में रात्रि जागरण करना पड़ता। पति की प्रस्तुत आदत से पत्नी खिन्न थी। उसका चेहरा मुर्झाया हुआ रहता था। एक दिन सास ने वधू से पूछा—तुम्हारी उदासी का कारण क्या है? लज्जा से नत वधू ने कहा—आपके पुत्र द्यूत-क्रीड़ा में इतने अधिक तल्लीन हो जाते हैं कि वे प्रायः रात्रि के चतुर्थ प्रहर में घर आते हैं। तब तक मैं पलक पाँवड़े बिछाकर उनकी प्रतीक्षा करती रहती हूँ। रात्रि-जागरण के कारण मेरा स्वास्थ्य शिथिल हो रहा है। सास ने कहा—तुम्हें मुझे कहना चाहिए था। मैं पुत्र को कड़वे और मीठे उपालम्भ देकर समझाती और सही रास्ते पर लाती। उस दिन सास के कहने से वधू सो गई। माता लक्ष्मी पुत्र की प्रतीक्षा के लिए द्वार पर बैठ गई। रात्रि के चतुर्थ प्रहर में पुत्र ने द्वार खटखटाया। माता लक्ष्मी ने क्रुद्ध होकर कहा—रात्रि में इधर-उधर भटकने वाला कौन है? जो मर्यादा का अतिक्रमण करता है उसके लिए मेरे घर में स्थान नहीं है। जहाँ तुम्हें खुले द्वार मिलें वहाँ चले जाओ। सिद्धर्षि उल्टे पैरों लौट गया। उन्होंने देखा एक धर्म-स्थान का द्वार खुला था। वे अन्दर पहुंचे। अन्दर मुनिगण विविध ध्यान मुद्राओं में बैठे हुए थे। कितने ही मुनि एकाग्रचित्त होकर स्वाध्याय कर रहे थे। उनकी सौम्य मुख-मुद्रा को निहार कर सिद्धर्षि सोचने लगा कि ये मुनि कितने महान हैं और मैं कितना अधम हूँ जो व्यसनों में मशगूल हो जीवन जी रहा हूँ। माँ ने रुष्ट होकर मेरे पर महान उपकार

---

४६ श्रीमाघोऽस्ताघधीः श्लाघ्यः प्रशस्यः कस्य नाभवत्।
चित्रं जाड्यहरा यस्य काव्यगङ्गोर्मिविप्रुषः॥
—प्रभावक चरित्र, श्लोक १७, पृष्ठ १२१

किया है। यदि माँ रुष्ट न होती तो मुझे इन मुनियों के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। गर्मागर्म दूध का पान पित्त को नष्ट करता है वैसे ही माँ का प्रकोप मेरे लिए वरदानस्वरूप रहा है। उसने भक्ति-भाव से विभोर होकर आचार्यदेव को नमन किया। आचार्य ने सिद्धर्षि से पूछा– तुम्हारा परिचय क्या है ? सिद्धर्षि ने अपना परिचय देते हुए कहा—मेरा अतीत अन्धकारमय रहा है। अब मैं आपकी शरण में आ चुका हूँ। आचार्य ने सिद्धर्षि को अच्छी तरह से देखा, उसके शारीरिक लक्षणों को देखकर समझ लिया कि यह युवक जैन शासन की प्रभावना करने वाला बनेगा। आचार्य ने मुनिधर्म की कठिनता प्रतिपादित करते हुए कहा—मुनि-धर्म तलवार की धार पर चलने की तरह कठिन है। मुनि को आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना होता है। भिक्षावृत्ति से जीवन यापन करना होता है। विविध प्रकार के तपों की भी आराधना करनी होती है। फिर तुम्हारे जैसे स्वेच्छाचारी व्यक्ति किस प्रकार साधना कर सकते हैं ?

सिद्धर्षि ने कहा—व्यसनयुक्त जीवन शान्तिप्रद नहीं है। मैं श्रमण बनूँगा। आचार्य ने कहा—श्रमण बनने के लिए माता-पिता की आज्ञा अपेक्षित है। प्रातः हो चुका था। जब सिद्धर्षि घर पर लौटकर नहीं आया तो पिता स्वयं उसकी अन्वेषणा के लिये चल दिए। वे पुत्र को ढूँढ़ते हुए उसी धर्मस्थान पर पहुँच गए, जहाँ आचार्य की सेवा में सिद्धर्षि बैठा हुआ था। पिता को देखते ही सिद्धर्षि ने कहा– पूज्यवर ! मुझे दीक्षा की अनुमति दें। पिता ने विविध प्रकार से पुत्र को समझाते हुए कहा— तेरी माता और पत्नी आँसू बहा रही हैं। माँ ने जो तुझे उपालम्भ दिया है, उसे तू भूल जा। जोश और रोष में किया गया निर्णय सही नहीं होता। पुत्र के दृढ़ संकल्प को देखकर पिता ने दीक्षा की अनुमति प्रदान की और गर्गर्षि के पास उसने श्रमण धर्म स्वीकार किया।

पुरातन प्रबन्ध संग्रह में उनके जीवन का यह प्रसंग अन्यरूप से आया है। श्रीमालपुर के दत्त और शुभंकर ये दो भ्राता थे। दत्त के पुत्र का नाम माघ था और शुभंकर के पुत्र का नाम सीधाक था। सीधाक बाल्य-काल से ही द्यूतव्यसनी बन चुका था। द्यूत में हार जाने से वह घर पर ही चोरी करता। चोरी करने के कारण पारिवारिक गण उससे रुष्ट रहते। एक बार उसने कहा– यदि मैं जूए में हार गया तो ५०० द्रमक दूँगा नहीं तो अपना सिर दे दूँगा[४७]। इस प्रकार वचनबद्ध होकर उसने जूआ खेलना

४७. अन्यदा रममाणेनोक्तम्—द्रम्म ५०० यावत् क्रीड़यध्वम्। द्रम्मान् ददामि, शिरो वा ददामि। —पुरातन प्रबन्ध संग्रह पृ० १०५

प्रारम्भ किया किन्तु दुर्भाग्य से वह हार गया। उसके पास एक भी द्रमक नहीं था। वह चिन्तित हो गया कि प्रातः होने पर उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। रात को साथियों के साथ सोया पर उसे नींद नहीं आ रही थी। जब सभी सो गये तो वह उठ बैठा। द्वार पर ताला लगा हुआ था। मौत सिर पर नाच रही थी। वह दीवार पर चढ़कर बाहर कूद गया। पर जिस मकान की छत पर गिरा, वह उपाश्रय था। मुनिगण सोये हुए थे। वे धमाके की तीव्र ध्वनि से उठ बैठे। उन्होंने आगन्तुक से पूछा—वत्स! तुम कौन हो? सीधाक ने अपना नाम बताया और कहा— क्या आप मुझे दीक्षा प्रदान कर सकते हैं? आचार्य ज्योतिष विद्या के निष्णात थे। उन्होंने निमित्त ज्ञान से देखा कि यह युवक महान प्रभावक मुनि बनेगा। अतः उन्होंने दीक्षा प्रदान कर दी। प्रातः होने पर मुनि परस्पर कहने लगे—आचार्यश्री को शिष्यों का बहुत लोभ है। बिना योग्यता देखे ही दीक्षा दे देते हैं। संघ में जब साधु समुदाय विस्तृत है फिर आचार्य हर किसी को क्यों मूंड़ते हैं? किन्तु आचार्य मौन रहे।

आचार्य ने सीधाक को "उपदेश माला" ग्रन्थ पढ़ने के लिए दे दिया। उसने शीघ्र ही मुख्य-मुख्य स्थल कण्ठस्थ कर लिए। जिन्हें सुनकर आचार्य प्रसन्न हुए।

कुछ समय के बाद सीधाक को खोजते हुए द्यूतकार धर्मस्थानक में पहुंचे और श्रमणों से कहा—आप इसे छोड़ दें क्योंकि हम इससे ५०० द्रमक मांगते हैं। आचार्य श्री के पास बैठे हुए एक श्रावक ने ५०० द्रमक चुका देने के लिए कहा। द्यूतकारों ने कहा— आप लोगों ने इस पर कैसे विश्वास कर लिया? इसने हमें धोखा दिया है, आपको भी धोखा दे सकता है। श्रावक ने कहा—५०० द्रमक तुम्हें दे देने से यदि यह व्यक्ति व्यसन से मुक्त हो सकता है तो इससे बढ़कर और क्या उपलब्धि हो सकती है? द्यूतकारों को श्रावक की बात समझ में आ गई और वे बिना द्रमक लिए ही वहां से चल दिये।

प्रबन्धकोष में सिद्धर्षि की जीवन घटना अन्य रूप से मिलती है। श्रीमालपुर के एक धनी श्रेष्ठी ने सिद्धार्थ को ऋण चुकाकर द्यूत मण्डली से मुक्त किया था। श्रेष्ठी ने उसे अध्ययन करवाया और योग्य कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण भी करवाया। श्रेष्ठी ने उसे विपुल सम्पत्ति भी प्रदान की। उसके घर पर माता और पत्नी ये दो प्राणी थे। श्रेष्ठी के उपकार से मुक्त होने के लिए वह श्रेष्ठी का हिसाब-किताब का कार्य करता था।

रात्रि में जब वह घर लौटता तब बहुत समय हो जाता था। पत्नी और माता दोनों ही उससे अप्रसन्न रहतीं। एक दिन वह बहुत देर से लौटा। माता और पत्नी ने द्वार नहीं खोला। एक दुकान में आचार्य हरिभद्र ठहरे हुए थे। वह उनके पास गया। आचार्य ने उसे प्रतिबोध दिया। उसने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। इस ग्रन्थ के अनुसार सिद्धर्षि के गुरु आचार्य हरिभद्र हैं। सिद्धर्षि ने आचार्य हरिभद्र से प्रार्थना की थी कि मैं बौद्ध दर्शन का गम्भीर अध्ययन करना चाहता हूँ। आचार्य हरिभद्र जानते थे कि यह बौद्ध विद्यालय में अध्ययन करने के लिए जाएगा और इसकी श्रद्धा विचलित हो जाएगी। अतः आचार्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा—वत्स! वहाँ जाने से कुछ भी लाभ नहीं है। तुम श्रद्धा से भ्रष्ट हो जाओगे। सिद्धर्षि ने बहुत ही दृढ़ता के साथ कहा—गुरुवर्य! आपने जो कहा है, वह युगान्त में भी सम्भव नहीं है।

आचार्य हरिभद्र ने कहा—वत्स! यदि तुम्हारा मन जैन दर्शन के प्रति शंका से भर जाए और तुम्हारी इच्छा बौद्ध धर्म ग्रहण करने की हो तो एक बार मुझ से आकर अवश्य मिलना। सिद्धर्षि गुरु को वचन देकर चल दिये। बौद्ध आश्रम में पहुँच कर उन्होंने बौद्ध दर्शन का गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ किया। बौद्ध आश्रम के अधिपति स्वर्गस्थ हो गए अतः वहां के अधिकारियों ने उनसे कहा—आप आचार्य पद ग्रहण कीजिए। आचार्य हरिभद्र से वचनबद्ध होने से सिद्धर्षि आचार्य हरिभद्र के पास पहुंचे। आचार्य हरिभद्र ने उनसे शास्त्रार्थ किया और शास्त्रार्थ में पराजित किया। सिद्धर्षि ने जैन धर्म स्वीकार किया। सिद्धर्षि पुनः बौद्ध आश्रम में गए और वहां फिर से बौद्ध बन गए। इस प्रकार इक्कीस बार उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार किया और छोड़ा[४८]।

बाईसवीं बार आचार्य हरिभद्र ने सोचा कि यह पुनः-पुनः मिथ्यात्व को ग्रहण करता है, यह कहीं मिथ्यात्व में ही आयु पूर्ण कर गया तो इसका भव-भ्रमण बढ़ जायेगा। अतः आचार्य ने ललित-विस्तर नामक ग्रन्थ सिद्धर्षि को पढ़ने के लिए दिया और स्वयं किसी कार्य के लिए अन्यत्र चले गये। ग्रन्थ को पढ़कर सिद्धर्षि को विशिष्ट बोध हुआ। उसके पश्चात् वे कभी भी दिग्भ्रान्त नहीं हुए। सिद्धर्षि ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है—

नमोस्तु हरिभद्राय तस्मै प्रवरसूरये।
मदर्थं निर्मिता येन वृत्तिर्ललितविस्तरा॥

---

४८. एवं वेषद्वयप्रदानेन एहिरेयाहिराः २१ कृताः। —प्रबन्ध कोष, पृष्ठ २५-२६

प्रभावक चरित्र की दृष्टि से सिद्धर्षि के गुरु गर्गर्षि थे। उन्होंने सिद्धर्षि को समझाने के लिए बार-बार प्रयास नहीं किया किन्तु जब बौद्ध भिक्षु बनकर सिद्धर्षि गर्गर्षि के सम्मुख उपस्थित हुए तो आचार्य ने कहा—कुछ समय तक यहाँ रुको, मैं अभी बाहर जाकर आता हूं। और उन्होंने सिद्धर्षि के हाथ में ललित विस्तर ग्रन्थ देते हुए कहा कि इस ग्रन्थ को पढ़ो, मैं शीघ्र ही पुनः आ रहा हूँ। ग्रन्थ को पढ़ते ही सिद्धर्षि के विचार बदल गये। आचार्य के आने पर उन्हें नमस्कार कर कहा—मैंने भयंकर भूल की है, मैं हरिभद्र को नमस्कार करता हूं जिनकी कृति ने मेरे अन्तर्मानस की कालिमा को धो दिया है। यह ग्रन्थ ललित (ललित विस्तरा वृत्ति) मेरे लिए सूर्य की तरह पथ-प्रदर्शक सिद्ध हुआ। सिद्धर्षि के विचारों में परिवर्तन देखकर गर्गर्षि को बहुत ही प्रसन्नता हुई। उन्होंने उसी समय उन्हें आर्हती दीक्षा दी और आचार्य बना दिया। सिद्धर्षि ने हरिभद्र के प्रति अपनी भावना व्यक्त की है कि उन्होंने मेरे पर महान उपकार किया है। आचार्य बनने के बाद गुजरात के विभिन्न क्षेत्रों में विचरण कर उन्होंने धर्म की प्रबल प्रभावना की।

सिद्धर्षि सिद्धहस्त लेखक थे। वे संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने श्री सिद्धसेन दिवाकर के न्यायावतरण पर और धर्मकीर्ति की उपदेश माला पर श्रेष्ठ टीकाएं लिखीं। 'उपमितिभवप्रपंच कथा' उनकी श्रेष्ठतम रचना है। इस ग्रन्थ की रचना की प्रेरणा उन्हें अपने गुरुभ्राता आचार्य उद्योतन सूरि से प्राप्त हुई थी। एक दिन उन्होंने कहा—आचार्य हरिभद्र की अद्भुत कृति समराइच्च कहा समरस भाव से परिपूर्ण है। उस ग्रन्थ की कीर्ति सर्वत्र प्रसारित हो चुकी है। तुम विद्वान हो। तुम्हें भी इस प्रकार की कृति लिखनी चाहिए। सिद्धर्षि ने निराशा के स्वर में कहा—सूर्य के दिव्य प्रकाश के सामने खद्योत के प्रकाश की क्या गणना ? कहाँ गम्भीर विद्वान, प्रतिभासम्पन्न हरिभद्र और कहाँ मंदमति मैं ! किन्तु गुरुभ्राता के प्रेरणाप्रद वचनों से उनके मानस में यह विचार आया कि मुझे कुछ न कुछ लिखना है। उन्होंने रूपकात्मक शैली में धर्म-कथा लिखने का निश्चय किया। उपमिति-भवप्रपञ्च कथा विज्ञों के लिए प्रेरणादायी और उपशम भाव समुत्पन्न करने वाली थी। जब उन्होंने यह कथा संघ के सामने प्रस्तुत की तो संघ ने प्रसन्न होकर उन्हें सिद्ध व्याख्याता की उपाधि से अलंकृत किया। यह कथा भारतीय रूपक प्रथाओं में सर्वश्रेष्ठ कथा है। प्रस्तुत कथा की भाषा प्रवाहपूर्ण है, शैली चित्ताकर्षक है। इसे पढ़ते-पढ़ते पाठक झूमने लगता है। डॉ. हरमन जेकोबी ने प्रस्तुत ग्रन्थ पर प्रस्तावना लिखते हुए कहा है—

"I did find something still more important. The great literary value of the U Katha and the fact that it is the first allegorical work in Indian Literature."

—मैंने कुछ अधिक महत्वपूर्ण प्राप्त किया है। वह है—'उपमितिभव प्रपंच कथा' जो अपना महान साहित्यिक मूल्य रखती है तथा यह तथ्य है कि भारतीय साहित्य में यह पहला रूपकात्मक कार्य हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन राजस्थान के भीनमाल नगर में सम्पन्न हुआ। सम्पन्न होने का समय है—ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी गुरुवार वीर निर्वाण १४३२ विक्रम सं ९६२)। सिद्धर्षि गणी के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि वे वचनसिद्ध थे। उनके मुखारविन्द से जो भी बात निकलती वह पूर्ण रूप से सत्य सिद्ध होती थी। इसलिए उनका सिद्ध नाम सार्थक था। आचार्य सिद्धर्षि का समय वीर निर्वाण १५वीं और विक्रम की दसवीं शताब्दी है।

आर्य शीलाङ्क

आचार्य शीलाङ्क निवृत्ति गच्छ के एक मूर्धन्य मनीषी थे। उनका अपर नाम शीलाचार्य, विमलमति और तत्त्वादित्य भी था। वे मानदेव सूरि के शिष्य थे। संस्कृत और प्राकृत इन दोनों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। "चउप्पन्न महापुरिस चरियं" इनकी प्राकृत भाषा की श्रेष्ठ रचना है। इसमें ५४ उत्तम पुरुषों के जीवन अंकित हैं। जैन परम्परा में ६३ शलाका पुरुष विश्रुत रहे हैं किन्तु आचार्य ने नौ प्रतिवासुदेवों को ग्रन्थ में स्थान न देकर ५४ पुरुषों का ही जीवन अंकित किया है। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने त्रिषष्टि शलाका पुरुष की जब रचना की तो उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ का उपयोग किया क्योंकि इस ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् ९२५ में सम्पन्न हुई थी। प्राकृत भाषा में लिखी गई यह कृति अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

आचार्य शीलाङ्क की प्रकृष्ट प्रतिभा का संदर्शन उनके द्वारा निर्मित टीकाओं में सहज रूप से होता है। उन्होंने ग्यारह अंगों पर टीकाएं लिखीं पर वर्तमान में आचारांग और सूत्रकृतांग इन दो पर ही टीकाएं उपलब्ध हैं। आचारांग की टीका १२००० श्लोक परिमाण है तो सूत्रकृतांग की टीका १२८५० श्लोक परिमाण है। टीकाकार ने प्रत्येक विषय को विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। मूल आगम के रहस्यों को सरलता के साथ व्यक्त किया गया है और साथ ही निर्युक्ति की गाथाओं के अर्थ को भी अच्छी तरह से समझाने का प्रयास किया गया है। टीकाओं के अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि आचार्य शीलाङ्क के सामने आचारांग और सूत्रकृतांग की टीका लिखते

समय इन दोनों आगमों पर गन्धहस्तीसूरि की टीकाएं विद्यमान थीं और उन्हें वाहरिगणी का सहयोग भी टीका लिखते समय मिला था। ये दोनों आगम-टीकाएं शक संवत ७७२ के लगभग सम्पन्न हुई हैं। इस प्रकार आचार्य शीलाङ्क का समय वीर निर्वाण की १४वीं सदी का उत्तरार्ध है।

आचार्य सूर

सूराचार्य की जन्मस्थली गुजरात की अणहिल्लपुर थी। इनके पिता का नाम संग्रामसिह था। अणहिल्लपुर के राजा भीम के वे मामा थे। द्रोणाचार्य और संग्रमासिह दोनों सहोदर थे। सूराचार्य का गृहस्थाश्रम में नाम महिपाल था। उन्होने माता की प्रेरणा से द्रोणाचार्य के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। द्रोणाचार्य ने उनको जमकर अध्ययन कराया। अध्ययन सम्पन्न होने पर गुरु ने उन्हें आचार्य पद दिया।

सूराचार्य ने श्रमण विद्यार्थियों को पढ़ाना प्रारम्भ किया। वे पढ़ाते समय कर्कश स्वर में शिष्यों को तर्जना देते और कई बार छड़ी से विद्यार्थी मुनियों को पीटते भी थे। द्रोणाचार्य ने जब यह सुना तो उन्होंने सूराचार्य को उपालम्भ दिया कि इस प्रकार कठोर अनुशासन करना उचित नहीं है। सूराचार्य ने स्पष्टीकरण करते हुए कहा—मैं इन शिष्यों को वाद-विद्या में कुशल बनाना चाहता हूं। इसीलिए इन्हें ताड़ना और तर्जना देता हूं। द्रोणाचार्य ने कहा—तुम स्वयं पहले राजा भोज की सभा में विजय-वैजयन्ती फहरा कर आओ, उसके बाद शिष्यों को वाद-कला में निष्णात बनाना।[49]

द्रोणाचार्य की बात सूराचार्य के मन में चुभ गई। उन्होंने उसी समय यह प्रतिज्ञा ग्रहण की कि मैं जब तक राजा भोज की सभा में विजय-पताका न फहरा दूं तब तक दूध-दही, घी-तेल और मिष्ठान आदि विकृतियों से युक्त आहार ग्रहण नहीं करूंगा।[50]

एक दिन राजा भीम की सभा में राजा भोज का एक सचिव उपस्थित हुआ। उसने राजा भोज के द्वारा प्रेषित एक श्लोक राजा भीम को दिया।

---

४९ गुरवः प्राहुरुत्तानमत्ते बालेषु का कथा।
किमागच्छसि लग्नस्त्वं कृतभोजसभाजयः ॥
—प्रभावक चरित्र, पत्रांक १५४, श्लोक ६१

५० श्रुत्वेत्याह स चादेशः प्रमाणं प्रभुसंमितः।
आदास्ये विकृतीः सर्वा. कृत्वादेशममुं प्रभोः ॥
—प्रभावक चरित्र, पत्रांक १५४, श्लोक ६२

सूराचार्य ने उसी समय उस श्लोक के प्रतिवाद में नया श्लोक बनाया और राजा भीम को दिया। भीम ने वह श्लोक भोज को प्रेषित किया। राजा भीम के द्वारा प्रेषित श्लोक को पढ़कर राजा भोज बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने सूराचार्य को अपनी सभा में आने के लिए निमंत्रण प्रेषित किया। द्रोणाचार्य का आशीर्वाद लेकर सूराचार्य ने धारा नगरी की ओर प्रस्थान किया। राजा भोज ने ससम्मान उन्हें नगर में प्रविष्ट करवाया। प्रभावक चरित्र के अनुसार धारा नगरी में प्रवेश करते समय सूराचार्य ने गजवाहन का उपयोग किया था।[51] इससे यह स्पष्ट है कि सूराचार्य के समय शिथिलाचार का प्राधान्य हो गया था। सूराचार्य की रचनाओं से राजा भोज पहले ही प्रभावित हो चुका था; शास्त्रार्थ में उनकी प्रतिभा को देखकर वह विस्मय से विमुग्ध हो गया।

एक बार राजा भोज ने धर्मगुरुओं से निवेदन किया कि आप लोगों ने पृथक-पृथक सम्प्रदाय क्यों स्थापित कर रखी हैं? सभी एक हो जाएं। जब तक आप एक न होंगे तब तक कारागृह में बन्द रहिए। सभी धर्मगुरुओं को कारागृह में बन्द कर दिया गया।

सूराचार्य राजा भोज की सभा में पहुँचे और कहा—मैंने धारा नगरी को अच्छी तरह से देखा है। मुझे धारा नगरी पसन्द आई पर एक बात मुझे अच्छी नहीं लगी। इसलिए मैं आपसे निवेदन कर रहा हूं कि यहाँ की जितनी भी दुकानें हैं वे एक हो जाएं जिससे कि ग्राहकों को माल लेने में सहूलियत हो। एक-एक वस्तु के लिए भिन्न-भिन्न दुकानों पर जाना ग्राहकों के लिए कितना कष्टकर है?

राजा भोज ने कहा—मुनिप्रवर! सभी दुकानें एक हो जायें यह सम्भव नहीं है। एक स्थान पर माल खरीदने वालों की भीड़ इकट्ठी हो जायगी जिससे क्रय और विक्रय में अधिक बाधा उपस्थित होगी।

सूराचार्य ने कहा—राजन्! विभिन्न चिन्तनों पर आधृत ये दर्शन और सम्प्रदाय एक कैसे हो सकेंगे? क्योंकि जैन दर्शन में दया की प्रधानता है तो कौल दर्शन (चार्वाक दर्शन) में रस की प्रधानता है और वैदिक दर्शन व्यवहार प्रधान है। कितने ही साकारोपासना में विश्वास करते हैं तो कितने

---

५१ राजामात्योपरोधेन व्रताचारव्यतिक्रमे ।
प्रायश्चित्तं विनिश्चत्य सूरिरारूढवान् गजम् ॥
—प्रभावक चरित्र, पत्रांक १५५, श्लोक ६२

ही निराकारोपासना में। तो आप ही जरा सोचिए इन सभी में एकमत कैसे हो सकेगा ?[५२]

राजा भोज सूराचार्य की बात सुनकर विचारों के सागर में डुबकी लगाने लगे। उन्हें लगा कि सूराचार्य की बात में वजन है। उन्होंने उसी समय सभी सम्प्रदाय के धर्मगुरुओं को कारागृह से मुक्त कर दिया।

एक बार सूराचार्य ने राजा भोज के द्वारा रचित व्याकरण में अशुद्धि निकाली और राजा भोज की सभा के अन्य विद्वानों का भी उन्होंने उपहास किया। उपहास से राजा भोज अत्यधिक क्रुद्ध हुए। यदि उस समय धनपाल कवि न होते तो सूराचार्य को उसका भयंकर परिणाम भोगना पड़ता। कवि धनपाल ने उनको प्रच्छन्न रूप से वहाँ से विदा कर दिया।

सूराचार्य अध्ययन कराने में कुशल थे। उन्होंने अपने शिष्यों को वाद-कला में निपुण बनाया। द्रोणाचार्य के स्वर्गस्थ होने पर उन्होंने गण का उत्तरदायित्व कुशलता-पूर्वक निभाया। जीवन की सांध्या बेला सन्निकट समझ कर उन्होंने अपने योग्य शिष्य को उत्तरदायित्व दिया और स्वयं ने ३५ दिन का अनशन कर स्वर्ग की ओर प्रयाण किया।[५३] सूराचार्य राजा भोज और कवि धनपाल के समकालीन थे। इसलिए वे वीर निर्वाण १५वीं और विक्रम की ११वीं शताब्दी के प्रभावशाली आचार्य थे।

आर्य शान्ति

वादिवेताल शान्त्याचार्य एक श्रेष्ठ टीकाकार थे। वे राधनपुर के पार्श्ववर्ती उन्नातायु ग्राम के निवासी थे। उनके पिता का नाम धनदेव तथा माता का नाम धनश्री था। उनका गृहस्थाश्रम में नाम भीम था। वे चान्द्र-कुल थारापद गच्छ के आचार्य विजयसिंह सूरि के शिष्य थे। उनका दीक्षा-नाम शान्ति था। आचार्य सर्वदेव और अभयदेव से उन्होंने अध्ययन किया। आचार्य विजयसिंह ने अपना उत्तराधिकार आपको प्रदान किया। आपने पाटन के महाराजा भीम की सभा में अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य का परि-

---

५२ दयार्थी जैनमास्थेयाद् रसार्थी कौलदर्शनम् ।
वेदांश्च व्यवहारार्थी मुक्त्यर्थी च निरंजनम् ॥

—प्रभावक चरित्र, पत्रांक १५६, श्लोक १३९

५३ योग्यं सूरिपदे न्यस्य भारमत्र निवेश्य च ।
प्रायोपवेशनं पंचत्रिंशद्दिनमितं दधौ ॥

—प्रभावक चरित, पत्रांक १६०, श्लोक २५८

चय दिया। जिससे राजा भीम ने कवीन्द्र तथा वादी चक्रवर्ती आदि उपाधियाँ प्रदान कीं। राजा भोज की सभा में ८४ विद्वानों को उन्होंने पराजित कर विजय वैजयन्ती फहराई। राजा भोज ने उन्हें वादि-वेताल की उपाधि प्रदान की। क्योंकि वे वादी जनों के लिए वेताल के तुल्य थे।[54] शान्त्याचार्य अपने ३२ शिष्यों को प्रमाण शास्त्र का अध्ययन करवाते थे। उनके अध्ययन करवाने की पद्धति बहुत ही सुन्दर थी। जिससे प्रभावित होकर आचार्य मुनिचन्द्र भी आपके विद्यार्थी बने। मुनिचन्द्र प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार ग्रन्थ के रचयिता वादिदेव के गुरु थे।

शान्त्याचार्य ने सुप्रसिद्ध जैन कवि धनपाल की तिलकमञ्जरी पर समीक्षा के साथ टिप्पणी भी लिखी। उनके द्वारा रचित उत्तराध्ययन पर शिष्यहिता टीका अत्यधिक लोकप्रिय हुई है। प्राकृत कथानकों की अधिकता होने के कारण इस टीका को पाइय टीका भी कहते हैं। इस टीका में जो कथाएं दी गई हैं, वे बहुत ही संक्षिप्त हैं। इस टीका का श्लोक परिमाण १८००० है। ५५७ गाथाएं निर्युक्ति की हैं। विशेषावश्यकभाष्य और दशवैकालिक की गाथाओं का भी यत्र-यत्र प्रयोग हुआ है। भर्तृहरि के श्लोक भी टीका में उद्धृत हैं। उत्तराध्ययन पर जितनी टीकाएं हैं, उनमें यह टीका शीर्षस्थ है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रभावक चरित्र में इस टीका को वादीरूपी नागेन्द्रों के लिए नागदमनी के समान बताया है। जीवन के अन्त समय में वे गिरनार पर्वत पर पधारे और पच्चीस दिन का अनशन कर वीर निर्वाण १५६६ में स्वर्गस्थ हुए।

आर्य अभयदेव

आचार्य अभयदेव का जन्म वीर निर्वाण १५४२ (विक्रम १०७२) में हुआ था। प्रभावक चरित्र के अनुसार इनकी धर्मस्थली धारानगरी थी। वर्ण की दृष्टि से वे वैश्य थे। इनके पिता का नाम महिधर और माता का नाम धनदेवी था। जिनेश्वर सूरि के उपदेश को श्रवण कर इन्होंने दीक्षा ग्रहण की। आगमों का गंभीर अध्ययन किया। वे एक बार ध्यान मुद्रा में बैठे थे। आगमों पर टीका लिखने का विचार अन्तर्मानस में उद्बुद्ध हुआ। प्रभावक चरित्र में लिखा है कि शासनदेवी ने प्रकट होकर अभयदेव से कहा—मुनि

---

५४ वादिवेतालविरुदं तदैषां प्रददे नृपः।

—प्रभावक चरित, पत्रांक १३४, श्लोक ५९

प्रवर ! आचार्य शीलाङ्क और कोट्याचार्य द्वारा रचित टीका साहित्य में आचारांग और सूत्रकृतांग की टीका विद्यमान हैं। किन्तु अन्य टीकाएं काल के दुष्प्रभाव से नष्ट हो गई हैं। अतः आप संघहित के लिए आगमों पर टीकाएं लिखें।

आचार्य प्रवर ने कहा—देवी ! मैं तो जड़मति हूं। गणधर सुधर्मा द्वारा सूत्रबद्ध किए हुए आगमों को समझना मेरे लिए कठिन है। यदि कहीं प्रमाद और अज्ञानवश उत्सूत्र प्ररूपणा हो गई तो उत्कृष्ट कर्मबन्धन होगा तथा संसार की वृद्धि हो जाएगी। पर आपके वचनों का उल्लंघन करना भी तो उचित नहीं है अतः मैं निर्णय नहीं कर पा रहा हूं।

शासन देवी ने कहा—मुनिप्रवर ! आपको सर्वथा योग्य समझकर ही मैंने यह प्रार्थना की है। जहां कहीं आगमों के पाठों में आपको सन्देह प्रतीत हो, मुझे स्मरण करें। मैं सीमन्धर स्वामी से पूछकर आपकी जिज्ञासाओं का सही समाधान करूंगी। आचार्य अभयदेव को हार्दिक सन्तोष हुआ। आगम जैसे महान कार्य को सम्पन्न करने के लिए निरन्तर आचाम्ल व्रत (आयबिल) के साथ टीका लिखने का कार्य प्रारम्भ किया।[55] एकाग्र होकर कार्य में लगे रहे। उन्होंने अपनी टीकाओं में बिन्दु में सिन्धु भरने का प्रयास किया है। उनकी पांडित्यपूर्ण विवेचना शक्ति सचमुच ही प्रेक्षणीय है। उन्होंने आगम रहस्य को जिस सरलता और सुगमता से अभिव्यक्त किया है, वह उनके उच्च कोटि के सैद्धान्तिक ज्ञान का ज्वलन्त प्रमाण है। आचार्य अभयदेव के सामने वृत्ति लिखते समय अनेक कठिनाइयां थीं—

(१) सत् सम्प्रदाय का अभाव—अर्थबोध की सम्यक् गुरु परम्परा उपलब्ध नहीं है।
(२) सदूऊह—अर्थ की आलोचनात्मक स्थिति प्राप्त नहीं है।
(३) आगम की अनेक वाचनाएं अर्थात् अध्यापन पद्धतियां हैं।
(४) जो पुस्तकें उपलब्ध हैं, वे अशुद्ध हैं।
(५) कृतियां सूत्रात्मक होने के कारण अत्यधिक गंभीर हैं।
(६) अर्थ विषयक विविध भेद हैं।

---

५५ श्रुत्वेत्यङ्गीचकाराथ कार्यं दुष्करमप्यदः।
आचाम्लानि चारब्ध ग्रन्थसंपूर्णतावधिः॥

—प्रभावक चरित, पत्रांक १६४, श्लोक ११२

इन सारी कठिनाइयों के बावजूद उन्होंने अपना प्रयास नहीं छोड़ा और जमकर टीकाएं लिखीं तथा नौ अंगों की टीकाओं का कार्य सम्पन्न किया। आगम के गहन रहस्यों को समझने के लिए आचार्य अभयदेव की ये टीकाएं कुंजी के समान मानी गई हैं[५६]। ये टीकाएं संक्षिप्त और शब्दार्थ प्रधान हैं। जहाँ कहीं उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ, वहाँ विवेचन भी किया है। सैद्धान्तिक तत्त्वों की अभिव्यक्तियाँ, दार्शनिक पहलुओं पर चिन्तन, राजनैतिक व सामाजिक विषयों की चर्चाएं भी यत्र-तत्र हुई हैं।

आचार्य अभयदेव का टीका साहित्य बहुत ही विशाल है। कई टीकाओं के अन्त में टीका का लेखन काल भी दिया है। स्थानांगवृत्ति का समापन आचार्य अजितसिंह के शिष्य यशोदेव गणी की सहायता से विक्रम संवत् ११२० में पाटन में हुआ था। इस टीका का श्लोक परिमाण १४२५० है। समवायांग-वृत्ति का समापन विक्रम सं ११२० में हुआ। इस वृत्ति का श्लोक परिमाण ३५७५ है। व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका विक्रम संवत् ११२८ में सम्पन्न हुई। इस वृत्ति का श्लोक परिमाण १८६१६ है। ज्ञाताधर्मकथावृत्ति का समापन वि० सं० ११२० में हुआ। इस वृत्ति का श्लोक परिमाण ३८०० है। यह वृत्ति सूत्रस्पर्शी, शब्दार्थ प्रधान है। उपासकदशांगवृत्ति १८१२ श्लोक परिमाण है। अन्तकृत्दशावृत्ति ८९९ श्लोक परिमाण है। प्रश्नव्याकरणवृत्ति ४६०० श्लोक परिमाण है। विपाकवृत्ति ९०० श्लोक परिमाण है। उन्होंने अंगों के साथ औपपातिक उपांग पर भी एक वृत्ति लिखी जिसका श्लोक परिमाण ३१२५ है।

इन वृत्तियों के अतिरिक्त प्रज्ञापना, पंचाशक सूत्र वृत्ति, जयतिहुअण स्तोत्र, पंचनिर्ग्रन्थी, षष्ठ कर्म ग्रन्थसप्तति पर भी इन्होंने भाष्य लिखा है। इस प्रकार इन ग्रन्थों में आचार्य अभयदेव का साहित्यिक जीवन और सांस्कृतिक व्यक्तित्व निखरा है। ६०,००० के लगभग मौलिक श्लोकों का निर्माण कर उन्होंने जो जैन वाङ्मय की वृद्धि की है वह इस वैज्ञानिक युग में भी अनुकरणीय है।

प्रभावक चरित्र के अनुसार टीका साहित्य की प्रतिलिपियों को तैयार कराने का कार्य ताम्रलिप्ति आशापल्ली धवलक नगरी के चौरासी तत्त्वज्ञ

---

५६. प्रावर्त्तन्त नवाङ्गानामेवं तत्कृतवृत्तयः ।
श्री सुधर्मोपदिष्टेष्टतत्त्वतालककुञ्चिकाः ॥
—प्रभावक चरित, पत्रांक १६५, श्लोक १२८

श्रावकों ने किया[57]। इस कार्य में तीन लाख द्रमक मुद्रा विशेष उसमें व्यय हुआ और उस द्रव्य की व्यवस्था राजा भीम ने की थी।

निरन्तर आचाम्ल तप की साधना करने से और रात्रि जागरण से उन्हें कुष्ठ रोग होगया। विरोधी व्यक्तियों ने यह प्रचार प्रारम्भ किया कि इन्होंने उत्सूत्र प्ररूपणा की जिसका प्रतिफल यह कुष्ठ रोग है। आचार्य अभयदेव ने जब लोकापवाद सुना तो उनका धैर्य भी डगमगाने लगा। उन्होंने रात्रि के समय धरणेन्द्र का स्मरण किया। धरणेन्द्र आया और निद्राधीन आचार्य के शरीर को जिह्वा से चाटकर सदा के लिए उन्हें पूर्ण स्वस्थ बना दिया। एक बार आचार्य अभयदेव को स्वप्न में यह अनुभूति हुई कि मेरा आयुष्य अब बहुत ही स्वल्प रहा है। जागृत होने पर उन्होंने अनशन कर गुजरात के कपडगंज ग्राम में वीर निर्वाण १६०५ (वि० ११३५) में समाधि-पूर्वक मृत्यु का वरण किया। इस प्रकार आचार्य अभयदेव आगम के प्रशस्त टीकाकार रहे हैं।

आर्य जिनवल्लभ

ये विक्रम की १२वीं शताब्दी के एक प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। इनकी जन्मस्थली आशिका नगरी थी। बाल्यकाल में ही इनके पिता का देहान्त हो गया। माँ ने इनका लालन-पालन किया। चैत्यवासी जिनेश्वर सूरि के सम्पर्क में आने पर मन में वैराग्य भाव पैदा हुआ, दीक्षा ग्रहण की और अध्ययन के लिए नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव के पास वे गुरु के आदेश रहे। तीक्ष्ण बुद्धि के धनी जिनवल्लभ को आगमों का गम्भीर अध्ययन करवाया गया साथ ही ज्योतिष शास्त्र का भी अध्ययन करवाया गया जिससे वे आगम और ज्योतिष दोनों में निष्णात हुए। अध्ययन परिसमाप्त कर जिनवल्लभ अपने दीक्षागुरु जिनेश्वर सूरि के पास पहुंचे। पर उनके पहुंचने के पूर्व ही जिनेश्वर सूरि का स्वर्गवास हो गया था। उन्हें लगा कि चैत्यवासी परम्परा अनागमिक है। अतः उस परम्परा का उन्होंने परित्याग किया और आचार्य अभयदेव के पास आर्हती दीक्षा (नवीन) ग्रहण की। आचार्य अभयदेव ने उन्हें योग्य समझकर वाचनाचार्य के पद पर नियुक्त किया तथा स्वतन्त्र विचरने का आदेश दिया। वे पाटन के आस-पास परिभ्रमण करते रहे।

एक बार वे विहार करते हुए चित्तौड़ पधारे। विरोधी तत्त्वों ने पहले उनका विरोध किया पर बाद में वे उनके दिव्य प्रभाव से प्रभावित हुए।

---

५७ प्रभावक चरित्र, पत्रांक १६५, श्लोक १२६, १२७

आचार्य जिनवल्लभ एक बार धारा नगरी पधारे। उस समय वहाँ का राजा नरवर्मदेव था। जिनवल्लभ की प्रतिभा से वह बहुत ही प्रभावित हुआ। वीर निर्वाण १६३७ (विक्रम ११६७) आषाढ़ शुक्ला सप्तमी को पाटन में भद्राचार्य ने जिनवल्लभ को आचार्य अभयदेव का उत्तराधिकारी पद प्रदान किया।

जिनवल्लभ एक श्रेष्ठ साहित्यकार थे। उनकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध हैं—

१. आगमिक वस्तु विचार सार
२. श्रृंगार शतक
३. प्रश्नषष्टि शतक
४. पिंड विशुद्धि प्रकरण
५. गणधर सार्ध शतक
६. पौषध विविध प्रकरण
७. संघपट्टक प्रतिक्रमण समाचारी
८. धर्म शिक्षा
९. धर्मोपदेशमय द्वादश मूलक रूप प्रकरण
१०. प्रश्नोत्तर शतक
११. स्वप्नाष्टक विचार
१२. चित्र काव्य
१३ अजित शान्ति स्तवन
१४. भवारिवारण स्तोत्र
१५. जिनकल्याण स्तोत्र
१६. जिन चरित्रमय जिन स्तोत्र
१७. महावीर चरित्रमय वीर स्तव

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे थे पर आज वे अनुपलब्ध हैं।

वे आचार्य पद पर केवल चार माह ही रहे। वीर निर्वाण १६३७ (विक्रम ११६७) कार्तिक कृष्णा द्वादशी के दिन दो दिन के अनशन के बाद वे ध्यानमुद्रा में बैठे हुए स्वर्गस्थ हुए।

आर्य अभयदेव मलधारी

इनके जन्म, जन्मस्थली और दीक्षा तिथि आदि के सम्बन्ध में इतिहास के पृष्ठ मौन हैं। ये जयसिंह सूरि के शिष्य थे जो हर्षपुरी गच्छ के

आचार्य थे। इस गच्छ का सम्बन्ध कोटि गण की मध्यम शाखा के साथ था। अभयदेव की तेजस्वी प्रतिभा ने अनेक राजाओं को प्रभावित किया था। अजमेर के अधिपति जयसिंह ने आपके उपदेश से प्रभावित होकर अपने सम्पूर्ण राज्य में अष्टमी, चतुर्दशी और शुक्ला पंचमी के दिन अमारि की घोषणा की थी। गुजरात के अधिपति सिद्धराज ने आपको मल्लधारी की उपाधि से अलंकृत किया था। कुछ इतिहासविज्ञों का मत है कि उपाधि प्रदान करने वाला गुर्जरनरेश कर्ण था। शाकम्भरी के महाराजा पृथ्वीराज और सौराष्ट्र के अधिनायक खेंगार भी आपके उपदेश से प्रभावित हुए थे। इन्होंने अपने अपूर्व प्रभाव से सहस्रों व्यक्तियों को श्रावक धर्म में दीक्षित किया।

वीर निर्वाण १६३८ (विक्रम ११६८) में उन्होंने अजमेर में अनशन किया। अनशन के समाचार सुनकर गुजरात के नरेश सिद्धराज उनके दर्शन हेतु अजमेर आए। ४७ दिन तक उनका अनशन चला। स्वर्गवास होने पर उनकी शवयात्रा प्रातःकाल प्रारम्भ हुई। उस शवयात्रा में महाराजा जयसिंह अपने मंत्रियों के साथ थे। देह-संस्कार सम्पन्न होने पर लोगों ने सोचा मल्लधारी की राख रोग-निवारण में समर्थ है इसलिए उस राख को सभी प्रसाद रूप में ग्रहण करने लगे। राख समाप्त होने पर लोग वहाँ की मिट्टी भी प्रसाद समझकर ग्रहण करने लगे। इससे यह स्पष्ट है कि मल्लधारी अपने युग के एक प्रभावशाली आचार्य थे।

आर्य नेमिचन्द्र

नेमिचन्द्र की जन्मस्थली, माता-पिता का परिचय प्राप्त नहीं है। उत्तराध्ययन की सुखबोधा वृत्ति में उनके गुरु का नाम आम्रदेव दिया गया है जो बृहद्गच्छीय उद्योतन सूरि के शिष्य थे। आचार्य बनने के पूर्व इनका नाम देवेन्द्रगणी था। इनके गुरु-भ्राता का नाम मुनिचन्द्र था। संस्कृत और प्राकृत इन दोनों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। उन्होंने श्रमण भगवान महावीर के पवित्र चरित्र को प्राकृत भाषा में निबद्ध किया था। इस चरित ग्रन्थ का रचना काल विक्रम संवत् ११४१ माना जाता है। इसमें भगवान महावीर के पूर्वभव और आवश्यकचूर्णि में आए हुए जीवन प्रसंग भी उल्लिखित हैं। यह चरित ग्रन्थ बहुत ही रोचक है। कथावस्तु की सजीवता के लिए वातावरण का मार्मिक चित्रण किया गया है। भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण है। इस ग्रन्थ की परिसमाप्ति पाटन में हुई थी। आपकी दूसरी रचना उत्तराध्ययनसूत्र पर सुखबोधा टीका है। यह टीका अर्थान्तर और पाठान्तरों से मुक्त है इसलिए इस टीका का नाम सुखबोधा दिया गया है।

पाश्चात्य विचारक सर्पेन्टियर इस टीका से बहुत ही प्रभावित हुआ। उसने इस टीका के आधार से उत्तराध्ययन के पाठ भी निर्धारित किये और उस पर उसने टिप्पण भी लिखे हैं। उत्तराध्ययन पर शान्त्याचार्य की शिष्यहिता टीका में बहुत ही संक्षेप में कथाएँ दी हैं, पर प्रस्तुत टीका में उन कथाओं को विस्तार के साथ दिया गया है। उन कथाओं के साथ अन्य रोचक सामग्री भी दी गई है जिससे वे कथाएं प्रबुद्ध पाठकों के दिल को भी लुभाती हैं। डॉ. हर्मन जेकोबी ने प्रस्तुत टीका में प्रयुक्त कथाओं का स्वतंत्र संग्रह भी संकलित किया था जो मुनि जिनविजयजी के द्वारा प्राकृत कथा संग्रह के नाम से प्रकाशित हुआ। सन् १९०९ में जे०जे० बेयर ने इन कथाओं का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया। ल्यूमेन ने आचार्य नेमिचन्द्र के द्वारा प्रयुक्त कथा प्रसग के पूर्व प्रबन्ध में "पूर्व" शब्द को दृष्टिवाद का सूचक माना है। ये कथाएं वैराग्य रस से आप्लावित हैं। यह सत्य है कि प्रथम अध्ययनों की टीका बहुत ही विस्तार के साथ की गई है किन्तु बाद के अध्ययनों की टीका उतनी विस्तार के साथ नहीं हुई है। अन्तिम १२-१३ अध्ययनों की टीका बहुत ही संक्षिप्त हो गई है। उनमें कथाओं का भी अभाव है और अन्य उद्धरणों का भी। शान्त्याचार्य की टीका की अपेक्षा इनकी टीका में जो कथाएं आई हैं, वे शैली की मौलिकता के कारण नवीन सी प्रतीत होती हैं। टीका की प्रशस्ति के आधार से यह साधिकार कहा जा सकता है कि वीर निर्वाण १६वीं–१७वीं सदी के ये मूर्धन्य मनीषी थे।

आर्य हेमचन्द्र मल्लधारी

मल्लधारी हेमचन्द्र का गृहस्थ आश्रम में नाम प्रद्युम्न था। वे राज-मन्त्री थे। उनकी चार पत्नियाँ थीं। उन्होंने प्रश्नवाहन कुल की मध्यम शाखा में हर्षपुरीय गच्छ के मल्लधारी आचार्य अभयदेव का शिष्यत्व स्वीकार किया था। श्रमणधर्म स्वीकार करने के पश्चात् वे श्रुतसागर में अवगाहन करने लगे। आगम ही नहीं न्याय, व्याकरण, प्रमाणशास्त्र आदि का भी गहराई से अध्ययन किया। उनकी तेजस्वी प्रतिभा शब्दमयी परतों को चीरकर अर्थ की गहराई तक पहुंचती थी।

वे श्रेष्ठ वक्ता थे। जब वे सिंह की तरह गम्भीर गर्जना करते तो श्रोता झूम उठते। उनके स्वर में मधु से भी अधिक माधुर्य था। एक बार आचार्य सिद्धर्षिगणी द्वारा रचित उपमितिभवप्रपंच कथा पर उन्होंने प्रवचन देना प्रारम्भ किया तो तीन वर्ष तक वे उस कथा पर ही प्रवचन करते रहे। वैराग्य रस से आप्लावित प्रवचनों को सुनकर अनेक व्यक्तियों में वैराग्य-

भावना उद्बुद्ध हुई। अजमेर के राजा जयसिंह उनके प्रवचनों पर मुग्ध थे। शाकम्भरी का राजा पृथ्वीराज उनके प्रवचनों को सुनकर जैन धर्मावलम्बी बना था। भुवनपाल राजा भी उनका परम भक्त था।

मल्लधारी हेमचन्द्र ने दस ग्रन्थों की रचना की है। ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

१. आवश्यक टिप्पण	२. शतक विवरण
३. अनुयोगद्वारवृत्ति	४. उपदेशमाला सूत्र
५. उपदेशमाला वृत्ति	६. जीवसमास विवरण
७. भवभावना सूत्र	८. भवभावना विवरण
९. नन्दिटिप्पण	१०. विशेषावश्यकभाष्य बृहद्वृत्ति

मल्लधारीजी की अधिक विश्रुति टीकाकार के रूप में रही है। उन्होंने अनुयोगद्वार पर जो वृत्ति लिखी, वह छह हजार श्लोक परिमाण है। तो विशेषावश्यकभाष्य पर वृत्ति २८,००० श्लोक परिमाण है। ये वृत्तियां बहुत ही सरल और सुबोध हैं। विशेषावश्यकभाष्य पर जो वृत्ति है, वह शिष्यहितावृत्ति के नाम से भी विश्रुत है। इसमें दार्शनिक विषयों पर गंभीरता से चिन्तन किया गया है। प्रश्नोत्तर शैली होने के कारण पाठक पढ़ते-पढ़ते ऊबता नहीं। यत्र-तत्र संस्कृत कथाओं का भी प्रयोग हुआ है जिससे और अधिक सरसता बढ़ गई है। जीवन के अन्तिम समय में सात दिन का अनशन कर उन्होंने आयु पूर्ण किया। राजा सिद्धराज स्वयं उनकी शवयात्रा में उपस्थित हुए थे। आचार्य हेमचन्द्र मल्लधारी के विजयसिंह, श्रीचन्द्र और विबुधचन्द्र—ये तीन मनीषी शिष्य थे। इन तीनों में श्रीचन्द्र एक जाने-माने हुए साहित्यकार थे। उन्होंने साहित्य साधना कर अपने गुरु के नाम को अधिक रोशन किया। आचार्य हेमचन्द्र वीर निर्वाण की १६वीं शताब्दी के एक विशिष्ट आचार्य थे।

आर्य वादिदेव

वादिदेव गुजरात के मदाहृत (मड्डहृत) ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम वीरनाग और माता का नाम जिनदेवी था। ये जाति से पोरवाल थे। एक बार जिनदेवी ने स्वप्न निहारा कि उसके मुँह में चन्द्रमा ने प्रवेश किया है। स्वप्न को देखकर जिनदेवी उठ बैठी। प्रातःकाल उसने आचार्य मुनिचन्द्र से पूछा—भगवन् ! इस स्वप्न का फल क्या होगा ? आचार्य मुनिचन्द्र ने कहा—चन्द्र के समान तुम्हारा पुत्र विश्व को आलोक प्रदान करेगा। जिनदेवी आचार्य की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुई। जन्म लेने पर

बालक का नाम पूर्णचन्द्र रखा गया[५८]। नौ वर्ष की अवस्था में पूर्णचन्द्र ने आचार्य मुनिचन्द्र के पास दीक्षा ग्रहण की। उनका दीक्षा-नाम रामचन्द्र रखा गया। मुनि रामचन्द्र ने न्याय और दर्शन का गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ किया। न्याय के साथ ही अन्य वैदिक और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों का भी अनुशीलन किया। वे वादकला में निपुण थे। उन्होंने अनेक बार शास्त्रार्थ कर विरोधियों पर विजय-पताका फहराई थी। वीर निर्वाण १६४४ (विक्रम संवत् ११७४) में वे आचार्य बने। आचार्य बनने पर उनका नाम रामचन्द्र मुनि के स्थान पर देव रखा गया[५९]। वीर निर्वाण १६५१ में आप पाटन में विराज रहे थे, उस समय सिद्धराज की अध्यक्षता में दिगम्बर मुनि कुमुद चन्द्र के साथ आपका शास्त्रार्थ हुआ[६०]। उस सुनहरे अवसर पर केशव आदि तीन मनीषीगण प्रतिवादी कुमुदचन्द्र के पक्षधर थे तो श्रीपाल और भानु ये दो विज्ञगण आचार्य के समर्थक थे। महर्षि उत्साह, सागर और राम ये तीन महामनीषी उस सभा के सदस्य गण थे। शास्त्रार्थ में दिगम्बर विज्ञ कुमुदचन्द्र पराजित हुए। सिद्धराज ने आचार्य देव को वादी की उपाधि से समलंकृत किया। तब से वे वादिदेव के नाम से विश्रुत हुए।

वादिदेव सफल साहित्यकार भी थे। उन्होंने प्रमाणनय-तत्त्वलोकालंकार जैसे मूर्धन्य ग्रन्थ की रचना की। प्रस्तुत ग्रन्थ में ३७४ सूत्र और आठ परिच्छेद हैं। जैन न्याय विषयक यह अद्भुत ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ पर 'स्याद्वाद रत्नाकर' नामक उनकी सोपज्ञ टीका है। इस टीका को लिखते समय मुनि भद्रेश्वर और मुनि रत्नपुत्र ने उनको विशेष सहयोग दिया। वीर निर्वाण १६९६ (विक्रम १२२६) में श्रावण कृष्णा सप्तमी के दिन आयु पूर्ण कर वे तिरासी (८३) वर्ष की अवस्था में स्वर्गस्थ हुए।

आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र कलिकालसर्वज्ञ के रूप में विश्रुत रहे हैं। वीर निर्वाण १६१५ (विक्रम ११४५) में उनका जन्म हुआ। जब शिशु हेमचन्द्र गर्भ में आया तब माता पाहिनी ने स्वप्न देखा कि वह चिन्तामणि रत्न को

---

५८. हृदयानन्दने तत्र वर्धमाने च नन्दने।
चन्द्रस्वप्नात् पूर्णचन्द्र इत्याख्यां तत्पिता व्यधात्॥
—प्रभावक चरित, पत्रांक १७१, श्लोक १४

५९. प्रभावक चरित, पत्रांक १७२, श्लोक ४५।

६०. प्रभावक चरित, पत्रांक १७८, श्लोक १९३।

गुरुदेव के चरणों में समर्पित कर रही है। पाहिनी ने वह स्वप्न आचार्य देवचन्द्र से निवेदन किया। आचार्य ने कहा—कौस्तुभ मणि की भाँति तुम्हारा पुत्र परम तेजस्वी होगा।[61] पुत्र जन्म होने पर पिता चाचिग ने पुत्र का नाम चंगदेव रखा। एक दिन पुनः आचार्य का धन्धुका गाँव में पदार्पण हुआ। पाहिनी पुत्र चंगदेव के साथ दर्शनार्थ उपस्थित हुई। आचार्य देव ने धर्म संघ के अभ्युदय के लिए बालक की मांग की। स्वप्न का स्मरण कर अपने इकलौते पुत्र को आचार्य को समर्पित किया। खम्भात के राजा उदयन ने दीक्षा-महोत्सव मनाया और चंगदेव के स्थान पर उनका नाम सोमचन्द्र रखा गया।[62]

सोमचन्द्र ने तर्कशास्त्र, लक्षणशास्त्र, व्याकरण प्रभृति अनेक साहित्य विधाओं का गहराई से अध्ययन किया और प्रतिभा की तेजस्विता के कारण २१ वर्ष की उम्र में वे आचार्य पद पर आसीन हुए। उनका नाम हेमचन्द्र रखा गया। उनकी माता पाहिनी ने भी दीक्षा ग्रहण की और उन्हें प्रवर्तिनी पद प्रदान किया गया।[63]

गुजरात के अधिपति जयसिंह सिद्धराज मालव पर विजय-पताका फहराकर पुनः अपनी राजधानी में लौटे। वे मालव प्रान्त से विराट सम्पत्ति लेकर आये थे और साथ ही विपुल साहित्य भी। जयसिंह सिद्धराज को लगा कि हमारे पास न कोई व्याकरण है और न कोई काव्य साहित्य ही है। इस महान कमी को पूर्ण करने के लिए उन्होंने विद्वानों का आह्वान किया। सभी विद्वानों में मुकुट मणि के तुल्य आचर्य हेमचन्द्र प्रतीत हुए। अतः राजा ने निवेदन किया कि मुनिप्रवर! आप नवीन व्याकरण तैयार करो जिससे आपकी कीर्ति भी बढ़ेगी और साथ ही मेरी भी। राजा के आग्रह को सम्मान देकर आचार्य हेमचन्द्र ने साहित्य लेखन का कार्य प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम उन्होंने व्याकरण की रचना की। व्याकरण को निहार कर राजा बहुत ही प्रसन्न हुआ। हाथी के हौदे पर रखकर व्याकरण को राज्य में प्रवेश कराया गया। तीन सौ विद्वानों को व्याकरण की प्रतिलिपियाँ करने को

---

६१. जैनशासनपाथोधिकौस्तुभः संभवीसुतः।
तव स्तवकृतो यस्य देवा अपि सुवृत्ततः॥

—प्रभावक चरित, पृ० १८३, श्लोक १६

६२. प्रभावक चरित पृ० १८४, श्लोक ३२, ३३, ३४

६३. प्रभावक चरित, पृष्ठ १८४-१८५, श्लोक ६१, ६२

बिठाया गया[64] और काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक उनकी व्याकरण की प्रतियां पुस्तकालयों में भेजी गयीं। सभी स्थानों पर व्याकरण को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। गुजरात के पाठ्यक्रम में इस व्याकरण को रखा गया। उसके अध्यापन के लिए विशेष विद्वानों की नियुक्ति की गई। इस व्याकरण में ३५६६ सूत्र हैं। जो स्थान व्याकरण में पाणिनी और शाकटायन को मिला था, वही स्थान आचार्य हेमचन्द्र को मिला। पर इस व्याकरण की खास विशेषता यह थी कि उसके सात अध्याय संस्कृत में थे और आठवां अध्याय प्राकृत में था। आचार्य हेमचन्द्र की व्याकरण सम्बन्धी दिव्य प्रतिभा को देखकर दिग्गज विद्वान भी नत हो गए।

दार्शनिक क्षेत्र में आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण-मीमांसा, अन्ययोग-व्यवच्छेदिका और अयोगव्यवच्छेदिका ये दो द्वात्रिंशिकाएं रचकर अपनी उत्कृष्ट मनीषा का परिचय दिया है। त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र नामक ग्रन्थ भारतीय भण्डार के लिए उनकी एक अपूर्व देन है। उस युग की सांस्कृतिक चेतना और सभ्यता का उत्कर्ष, धर्म-दर्शन और अध्यात्म जैसे गम्भीर विषयों की चर्चा भी यत्र-तत्र हुई है। महाभारतकार व्यास के लिए यह उक्ति प्रसिद्ध है—"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।" यह उक्ति त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र के लिए भी पूर्ण चरितार्थ होती है। अभिधान चिन्तामणि, हेमचन्द्र अनेकार्थ संग्रह देशी नाम माला यह ग्रन्थ भी आपकी प्रतिभा की तेजस्विता को द्योतित करता है। अभिधान चिन्तामणि पर आपकी सोपज्ञवृत्ति भी है। काव्यानुशासन और छन्दानुशासन उनकी अपनी मौलिक रचना है। काव्यानुशासन में काव्य के उच्चतम लक्ष्य पर भी प्रकाश डाला गया है। जो मम्मट के द्वारा काव्य की परिभाषा है, उससे यह परिभाषा पृथक है। संस्कृत द्वयाश्रय महाकाव्य और प्राकृत द्वयाश्रय महाकाव्य में चौलुक्य वंश का पूरा इतिहास दिया गया है। इतिहास के साथ काव्य का मणिकांचन संयोग प्रेक्षणीय है। योगशास्त्र आपकी एक अनूठी और अद्भुत कृति है। इसे पढ़ते समय आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव की सहज स्मृति हो आती है। इसी प्रकार अर्हन्नीति, वीतराग स्तोत्र, नाभेयनेमि-द्विसन्धान, द्विज वचन चपेटा, परिशिष्ट पर्व आदि ग्रन्थ भी उनकी प्रतिभा की प्रभा को दर्शाते हैं।

वे स्वयं तो साहित्यकार थे ही; साथ ही उन्होंने अपनी शिष्य-मण्डली को भी योग्य साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित किया था। यह भी कहा

---

६४. प्रभावक चरित, पृष्ठ १८६, श्लोक १०४, १०५

जाता है कि उनके तत्त्वावधान में चौरासी कलमें एक साथ चलती थी। आचार्य हेमचन्द्र भविष्यवक्ता भी थे। उन्होंने सिद्धराज के रहते हुए यह कहा था कि कुमारपाल आपका उत्तराधिकारी होगा। कुमारपाल को मृत्यु के भयंकर चंगुल से बचाकर उसे पूर्ण प्रभावित किया था। आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज प्रायः समान वय के थे। अन्तिम समय तक उनकी एक-दूसरे के साथ मैत्री रही। सिद्धराज के स्वर्गस्थ होने पर कुमारपाल पाटण का शासक बना। कुमारपाल की आचार्य हेमचन्द्र पर अपूर्व निष्ठा थी। कुछ ईर्ष्यालु व्यक्तियों ने सोचा कि इनकी प्रीति को भंग किया जाये। उन्होंने कुमारपाल को कहा—राजन् ! देवी बलि चाहती है। यदि आपने बलि नहीं दी तो आपको उसके कोप का भाजन बनना पड़ेगा। कुमारपाल ने आचार्य हेमचन्द्र से देवी के कोप की बात कही। आचार्य हेमचन्द्र के परामर्श से देवी के सामने जीवित पशु छोड़ दिये गये। रात्रि पूर्ण हुई। सभी पशु सानन्द खड़े थे। कुमारपाल के मन में अहिंसा के प्रति गहरी निष्ठा पैदा हुई और उसने कहा कि यदि देवी को बलि की चाह होती तो वह स्वयं ले लेती। बलि की चाह देवी को नहीं, मांसलोलुपी व्यक्तियों को है।

आचार्य हेमचन्द्र अलौकिक प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने साहित्य की सभी विधाओं में जमकर लिखा है। सा े तीन करोड़ से भी अधिक श्लोकों की रचना कर साहित्य जगत में एक कीर्तिमान स्थापित किया। आचार्य हेमचन्द्र की प्रतिभा को प्रसारित करने में राजा कुमारपाल का अपूर्व योगदान भी रहा है। वीर निर्वाण संवत् १६९९ (विक्रम १२२९) में चौरासी वर्ष की अवस्था में वे स्वर्गस्थ हुए।[65] आचार्य हेमचन्द्र का युग जैन शासन की दृष्टि से एक महान प्रभावकयुग रहा है।

आचार्य मलयगिरि

मलयगिरि आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे। उनकी प्रतिभा स्फटिक की तरह निर्मल थी। उनकी भाषा प्रांजल थी। उन्होंने पच्चीस ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखीं, जिनमें से उन्नीस टीकाएँ वर्तमान में उपलब्ध हैं। उपलब्ध टीकाओं का श्लोक परिमाण १ लाख ९६ हजार ६१२ है। व्यवहारसूत्र वृत्ति की श्लोक संख्या ३४००० है। भगवतीसूत्र-द्वितीय शतकवृत्ति में ३७५०, राजप्रश्नीयोपांगटीका में ३७००, जीवाभिगमोपाङ्गटीका में १६००, प्रज्ञापनोपांगटीका में १६०००, चन्द्रप्रज्ञप्तिउपांगटीका में ९५००, सूर्यप्रज्ञप्तिउपाङ्गटीका

---

६५. प्रभावक चरित, पृ० ११२, श्लोक ८५०, ८५१

में ६५००, नन्दीसूत्र टीका में ७७३२, बृहत्कल्पपीठिकावृत्ति (अपूर्ण) में ४६००, आवश्यकवृत्ति (अपूर्ण) में १८०००, पिण्डनिर्युक्तिटीका में ६७००, ज्योतिष्करण्डक टीका में ५०००, धर्मसंग्रहणी वृत्ति में १००००, कर्मप्रकृति वृत्ति में ८०००, पंचसंग्रहवृत्ति में १८८५०, षडशीतिका वृत्ति में २०००, सप्ततिका वृत्ति में ३७८०, बृहत्संग्रहणीवृत्ति में ५०००, बृहत्क्षेत्र समास वृत्ति में ६५०० तथा मलयगिरि शब्दानुशासन ग्रन्थ में ५००० श्लोक संख्या है। उन्होंने आगम ग्रन्थों पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी हैं। उन टीकाओं में उनका प्रकाण्ड पाण्डित्य स्पष्ट रूप से झलकता है। विषय की गहनता, भाषा की प्रांजलता, शैली का लालित्य एवं विश्लेषण की स्पष्टता उनकी विशेषताएँ हैं। वे जैनागम साहित्य के गम्भीर ज्ञाता और पारंगत विद्वान तो थे ही गणितशास्त्र, दर्शनशास्त्र और कर्म सिद्धान्त में भी निष्णात थे। उन्होंने मलयगिरि शब्दानुशासन नामक व्याकरण की भी रचना की थी।

१५वीं शताब्दी के जिनमण्डनगणी ने कुमारपाल प्रबन्ध में आचार्य हेमचन्द्र की विद्योपसाना प्रसंग में आचार्य मलयगिरि के सम्बन्ध में कुछ बातों पर प्रकाश डाला है। इससे स्पष्ट है कि वे आचार्य हेमचन्द्र के सहचारी थे। उनके प्रति उनके अन्तर्मानस में पूज्य भाव था। आवश्यकवृत्ति में आचार्य हेमचन्द्र विरचित द्वात्रिंशिका का उद्धरण देते हुए 'चाहुः स्तुतिषु गुरवः' का उल्लेख किया है। आचार्य मलयगिरि ने स्वयं के प्रति आचार्य शब्द का प्रयोग किया है—'एवं कृतमङ्गल रक्षाविधानः परिपूर्णमल्पग्रन्थ लघूपाय आचार्य मलयगिरिः शब्दानुशासनमारभते'। इससे यह स्पष्ट है कि वे दीक्षा पर्याय की दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र से छोटे थे और वय की दृष्टि से बड़े थे। एतदर्थ ही उन्होंने हेमचन्द्र के लिए गुरुवर शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार मलयगिरि का समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है।

आर्य रामचन्द्र

ये आचार्य हेमचन्द्र के उत्तराधिकारी थे। आचार्य हेमचन्द्र के शिष्यों में वे अग्रणी थे और श्रेष्ठ साहित्यकार भी थे। जब राजा कुमारपाल ने सुना कि आचार्य हेमचन्द्र का स्वर्गवास हो गया तो उसके हृदय को भारी आघात लगा। उस संकट बेला में मुनि रामचन्द्र ने महाराज कुमारपाल को बहुत ही सान्त्वना दी। मुनि रामचन्द्र बेजोड़ शब्दशिल्पी थे। उनकी स्फुरणशील मनीषा गंगा की निर्मल धारा की तरह प्रवाहित होती थी। एक बार भीष्म ग्रीष्म में राजा जयसिंह सिद्धराज उद्यान में क्रीड़ा करने जा रहे थे। आचार्य

रामचन्द्र का मार्ग में मिलन हो गया। राजा ने आचार्य रामचन्द्र से पूछा—कथं ग्रीष्मे दिवसा गुरुतरा: ? (ग्रीष्म ऋतु के दिन बड़े क्यों होते हैं ?) आचार्य ने उसी क्षण समस्या का समाधान करते हुए कहा—

देव ! श्री गिरिदुर्गमल्लभवतो दिग्जैत्रयात्रोत्सवे,
धावद्वीरतुरंगनिष्ठुरखुरक्षुण्णक्षमामण्डलात् ।
वातोद्धूतरजोमिलत्सुरसरित्सञ्जातपंकस्थली,
दूर्वाचुम्बनचञ्चुरा रविहयास्तेनैव वृद्धं दिनम् ॥

अर्थात् पर्वतमालाओं और दुर्लध्य दुर्गों पर दिग्वजय—यात्रा के महोत्सव प्रसंग पर वेगवान अश्वों की दौड़ के कारण उनके खुरों से उठी हुई रज से आकाश गंगा का जल मिल जाने से उसमें दूब लहलहाने लगी है। उस दूब को सूर्य के घोड़े चरने लगे हैं और उनकी गति मन्द हो गई है अत: दिन लम्बे हो गये हैं।

समस्या की पूर्ति सुनकर राजा सिद्धराज बहुत ही प्रसन्न हुआ और उसने कवि कतारमल्ल की उपाधि से उन्हें विभूषित किया। मुनि रामचन्द्र की साहित्य-साधना आचार्य हेमचन्द्र की तरह ही गतिशील थी। रघुविलास, मल्लविलास, यदुविलास प्रभृति ग्यारह नाटक और सुधाकलश नामक सुभाषित कोश भी उन्होंने लिखा। वे मुख्य रूप से नाट्यकार रहे हैं। उनके लिए प्रबन्धशतकर्तृक विशेषण प्रयुक्त हुआ है। जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने सौ ग्रन्थों की रचना की थी। रामचन्द्र मुनि के गृहस्थ जीवन के प्रति विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। पण्डित लालचन्द के अभिमतानुसार उनका जन्म वीरनिर्वाण १६१५ (विक्रम संवत ११४५) में हुआ था। सूरि पद विभूषित हुए वीर निर्वाण १६३६ (विक्रम संवत ११६६) में तथा वीर निर्वाण १६९९ (विक्रम संवत् १२२९) में आचार्य पद पर आसीन हुए थे। उनका स्वर्गारोहण वीर निर्वाण १७०० (विक्रम संवत १२३०) में हुआ। उनके स्वर्गवास का प्रसंग बहुत ही दारुण है।

वे जब आचार्य हेमचन्द्र के उत्तराधिकारी बने। उनकी तेजस्वी प्रतिभा से उनके लघु गुरुभ्राता पं. मुनि बालचन्द ईर्ष्या से जल उठे। महाराजा कुमारपाल का भी आचार्य हेमचन्द्र के स्वर्गवास के ३२ दिन बाद स्वर्गवास हो गया। कुमारपाल के सिंहासन पर अजपाल आसीन हुआ। अजपाल जैनधर्म का कट्टर विरोधी था। मुनि बालचन्द की मित्रता अजपाल के साथ थी। उसने मुनि रामचन्द्र के विरोध में अजपाल के कान भरने प्रारम्भ किये। अजपाल ने मुनि रामचन्द्र को कहा—तुम्हें मेरे गुण-गान

करने चाहिए। तुम्हारी लेखनी मेरे गुणों का उत्कीर्तन करे। किन्तु मुनि रामचन्द्र उसके लिए तैयार नहीं हुए। वे स्वतन्त्र प्रकृति के धनी थे। अतः अजपाल ने कठोर दण्ड देते हुए कहा—यह मुनि अपने आप को जगत् का राजा मानता है इसलिए तप्त तवे के सिंहासन पर इसे आसीन करो। खौलते हुए तेल से अभिषेक करो और लोहे का गरम किया हुआ मुकुट इसके सिर पर धारण कराओ।

राजाज्ञा को सुनकर क्रूर हृदय जल्लादों के हृदय भी कांप उठे। दण्ड दिया जा रहा था और कवि रामचन्द्र समभाव में लीन थे। वह सोच रहे थे कि मेरे कर्मों के बन्धन शिथिल हो रहे हैं। उन्होंने शुभभाव से नश्वर शरीर का त्याग किया।

आर्य रत्नप्रभ

ये संस्कृत भाषा के उद्‌भट विद्वान थे। न्याय और दर्शन के तलस्पर्शी विज्ञ थे। उन्होंने अपने गुरु द्वारा रचित प्रमाणनयतत्त्वालोक ग्रन्थ की व्याख्या लिखी जो चौरासी हजार श्लोक परिमाण है। स्याद्वाद रत्नाकर नामक यह टीका बहुत ही गूढ़ है। समासों की दीर्घता और शब्दों के कठिन प्रयोग से टीका को प्रत्येक व्यक्ति समझ नहीं पाता है। स्वयं कवि ने भी इस सत्य-तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखा है कि दर्शनान्तरीय मन्तव्यों का निरसन और अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करने वाली यह टीका बहुत ही क्लिष्ट है। जो व्यक्ति तर्क की भाषा को नहीं जानते और जो अकुशल पाठक हैं वे अकुशल तैराक की तरह इसमें प्रवेश नहीं पा सकेंगे। उनकी सुगमता के लिए मैंने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। टीका में लेखक ने अपने गुरु वादिदेव के लिए अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है जिससे स्पष्ट है कि उनके अन्तर्मानस में गुरु के प्रति अपार निष्ठा थी। स्याद्वाद सिद्धान्त सुमेरु पर्वत की भांति उन्नत है। उस उच्चतम शिखर पर पहुंचने के लिए यह ग्रन्थ सोपान की तरह उपयोगी है। आपने धर्मदासकृत उपदेशमाला पर दोघट्टीवृत्ति लिखी जो विशेषवृत्ति के नाम से भी विश्रुत है। इस वृत्ति का श्लोक परिमाण ११५० है। उन्होंने नेमिनाथ चरित्र पर भी लिखा है। यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखा गया है। आपका प्राकृत और संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार था। ग्रन्थों की प्रशस्ति के आधार से आचार्य रत्नप्रभ का समय वीर निर्वाण १६वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और १७वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

आर्य रत्नाकर

आचार्य रत्नाकर के अन्तर्मानस में वैराग्य का पयोधि उछालें मार रहा था। उन्होंने रत्नाकर पच्चीसी नामक एक अद्भुत कृति की रचना की। उसके प्रत्येक श्लोक में कवि का हृदय स्पष्ट रूप से झलक रहा है। कवि ने अपना हृदय खोलकर इस काव्य में रख दिया है। वह कहता है—हे भगवन्! मेरे पर जो वैराग्य का रंग दिखलायी दे रहा है, वह दूसरों को ठगने के लिए है। मेरा उपदेश जनरंजन के लिए है। मेरा अध्ययन विवाद के लिए है। ये सब मेरी वृत्तियां कितनी उपहासास्पद हैं। हे भगवन! मैं अपने सम्बन्ध में क्या बताऊँ? कैसे बताऊँ[६६]? पच्चीसी के सारे श्लोक बहुत ही प्रेरणाप्रद हैं। कृति के आधार से आप वीरनिर्वाण की १८वीं शताब्दी और विक्रम संवत् की १४वीं शताब्दी के विशिष्ट विद्वान थे।

आर्य देवेन्द्र

आपके गुरु जगच्चन्द्र सूरि थे। आपने लघुवय में दीक्षा ग्रहण की और तत्त्वों का गम्भीर अध्ययन किया। आपकी प्रवचनशैली चित्ताकर्षक थी। वाणी के माधुर्य और विषय-प्रतिपादन की कला से श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। आपके त्याग और वैराग्य से छलछलाते हुए प्रवचनों को सुनकर अनेक व्यक्तियों ने संयम-साधना स्वीकार की। आप साहित्यकार थे पर आपका साहित्य सिद्धान्त पर आधृत था। आपने पांच कर्म ग्रन्थों की रचना की। प्राचीन कर्म साहित्य के आधार पर कर्मों का स्वरूप उसके परिणाम, गुणस्थान आदि पर गम्भीरता से चिन्तन किया है। कर्मग्रन्थों पर आपने सोपज्ञ विवरण भी लिखा है।

सिद्ध पञ्चाशिका सूत्र वृत्ति, धर्मरत्न वृत्ति, श्रावक दिनकृत्य सूत्र, सुदर्शन चरित्र आपकी गौरवपूर्ण कृतियां हैं। उन्होंने दार्शनिक साहित्य के अतिरिक्त दान आदि कुलक की भी रचनाएं की हैं जिसमें उनका कवि हृदय मुखरित हुआ है। मुख्य रूप से आपका विचरण क्षेत्र मालव प्रान्त रहा। वीर निर्वाण १७९७ (विक्रम संवत् १३२७) में आप स्वर्गस्थ हुए।

आर्य मल्लिषेण

आचार्य मल्लिषेण प्रकाण्ड मेधा के धनी थे। उन्होंने न्याय, दर्शन, व्याकरण और साहित्य पर पूर्ण अधिकार प्राप्त किया था। विभिन्न दर्शनों के अध्ययन से उनकी चिन्तन शक्ति दर्पण की तरह निर्मल हो चुकी थी। आचार्य

---

६६. वैराग्यरंगः परवंचनाय, धर्मोपदेशो जनरञ्जनाय।

वादाय विद्याध्ययनं च मे भूत, कियद्ब्रुवे हास्यकरं स्वमीश!

हेमचन्द्र की अन्ययोगव्यवच्छेदिका पर उन्होंने एक टीका लिखी जो स्याद्-वाद मंजरी के नाम से विश्रुत है। यह टीका रत्नप्रभ सूरि के स्याद्वाद रत्नाकरावतारिका की अपेक्षा बहुत ही सरल है, सुगम है। विविध दर्शनों का जो उन्होंने मर्मस्पर्शी विवेचन किया, वह उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचायक है। स्याद्वाद मंजरी के अतिरिक्त उनकी अन्य कोई रचना उपलब्ध नहीं है। सर्वदर्शन संग्रह में माधवाचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ का संकेत किया है तो उपाध्याय यशोविजय जी ने स्याद्वाद मंजूषा नामक, इस पर व्याख्या लिखी है। इससे यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ कितना लोकप्रिय हुआ। स्याद्वाद् मंजरी की रचना करते समय आचार्य मल्लिषेण को जिनप्रभ सूरि का विशेष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ था। वीर निर्वाण १८२० (विक्रम १३५०) में दीपावली के दिन स्याद्वाद मंजरी का लेखन सम्पन्न हुआ था। अतः मल्लिषेण का भी यह समय निश्चित होता है।

इस प्रकार श्वेताम्बर जैन परम्परा में प्रबल प्रतिभा के धनी अनेक मूर्धन्य आचार्य हुए हैं जिन्होंने विपुल साहित्य का सृजन कर सरस्वती के भण्डार को भरा है। अपनी विद्या, प्रभाव तथा संपूर्ण मनोयोग के साथ उन्होंने सत्य-शोधन की कुञ्जी रूप अनेकान्त दर्शन, जिनभाषित तत्त्वज्ञान तथा जिनशासन की प्रभावना की और व्यक्तिगत पद-प्रतिष्ठा लाभ को गौण करके जिनशासन को ही सर्वोपरि महत्त्व दिया। आज उन प्रभावक आचार्यों की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक निधि जैन शासन की गरिमा में चार चाँद लगा रही है।

यद्यपि यह गणना तो अनन्त आकाश मंडल में कुछ महत्वपूर्ण ग्रह नक्षत्रों की गणना की तुल्य ही है, इनके अतिरिक्त अगणित सत्पुरुषों, प्रज्ञा-धनों एवं चारित्रनिष्ठ श्रमणों ने जिनशासन को उज्ज्वल आभा को प्रदीप्त किया है किंतु विस्तार भय से यहाँ उन सब का परिचय नहीं दिया जा सकता।

□□

जैन जगत के तपोनिष्ठ, विद्वान् एवं प्रभावक
आचार्यों की परम्परा का संक्षिप्त परिचय
प्रस्तुत प्रथम प्रकाश में दिया गया है।
धर्मक्रान्ति के उद्घोषक वीर लोकाशाह से
आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज की
प्रभावशाली श्रमण-परम्परा के
ज्योतिष्मान नक्षत्रों की जीवन आभा
पढ़िये
द्वितीय प्रकाश में....

१

श्रमण-परम्परा में क्रियोद्धार

क्रान्तिकारी वीर लोंकाशाह

भगवान महावीर द्वारा देशित धर्म--शासन-परम्परा चल रही थी। किन्तु दुष्काल आदि कारणों से श्रमणधर्म में शिथिलता आ गयी। जिनपूजा और जिनभक्ति के नाम पर बड़े-बड़े आडम्बर रचे जाने लगे। श्रमणवर्ग "**सज्झायज्झाणरए स भिक्खू**" के आदर्श को विस्मृत होकर लोकसंग्रह में जुट गया। 'अणगार' और 'अणिकेयचारी' कहलाने वाला श्रमण चैत्यवासी और उपाश्रय-उपाधिधारी बन गया। राजाओं, बादशाहों, ठाकुरों तथा श्रेष्ठियों को यंत्र-मंत्र और तंत्र का चमत्कार बताकर राजकीय सम्मान और अधिकार प्राप्त करने का पिपासु बन गया। इस प्रकार धर्मगंगा में विकृति की काफी शैवाल जम गयी, जिससे उसकी धारा शुष्क और क्षीण-सी होने लगी। श्रमणवर्ग की आचार शिथिलता एवं विचार व चिन्तन की विपरीतता के प्रतिकार स्वरूप एक महान् क्रांति का जन्म हुआ।

क्रांतिकारी लोंकाशाह के सम्बन्ध में जैसी प्रामाणिक सामग्री चाहिए वैसी उपलब्ध नहीं होती। यह पूर्ण सत्य है कि विरोधी लेखकों के द्वारा उनके जीवन को विकृत करने का अत्यधिक प्रयास किया गया है। मुनिश्री कल्याणविजयजी गणी के तथा मुनि कांतिसागरजी के संग्रह में मैंने ऐसी अनेक प्रतियाँ देखी थीं जिनमें उनके माता-पिता, जन्मस्थल, विचार, आदि के सम्बन्ध में विभिन्न उल्लेख हुए हैं। किन्तु यह सत्य है कि वे महान् क्रांतिकारी थे। वे केवल लिपिकार ही नहीं आगमों के मर्मज्ञ विद्वान् भी थे। "लुंकाना सद्दिया अने कर्या अट्ठावन बोल, लुंकानी हुण्डी तेंतीस बोल" नामक कृतियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उन्हें आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, दशाश्रुतस्कंध, भगवती, ज्ञाताधर्मकथांग, राजप्रश्नीय, अनुयोगद्वार, नन्दीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथांग की टीका, उत्तराध्ययन, औपपातिकसूत्र, जीवाभिगम, उपासकदशा, प्रश्नव्याकरण, दशवैकालिकसूत्र,

प्रज्ञापना, आचारांगनिर्युक्ति और आचारांगवृत्ति, विपाक, उत्तराध्ययन चूर्णि तथा वृत्ति, आवश्यकनिर्युक्ति, बृहत्कल्पवृत्ति तथा चूर्णि और निशीथ चूर्णि आदि का गंभीर ज्ञान था। उन्होंने उनके प्रमाण उपस्थित किये हैं जो उनके आगमों के गंभीर अध्ययन का स्पष्ट प्रतीक है। उन्हें आगमों का गहरा ज्ञान था और जब उन्होंने तत्कालीन साधु समाज की आगमविरुद्ध आचार-संहिता देखी तो वे चौंक पड़े। भगवान महावीर ने श्रमण के लिए जहाँ एक फूल की पंखुड़ी को भी छूने का भी निषेध किया, एक अन्न के कण के संग्रह को पाप बताया, वहाँ भक्ति और अर्चना के नाम पर पुष्पों का अनर्गल ढेर लगाना कहाँ तक उचित है? पूर्ण अकिंचन वीतराग की प्रतिमा पर बहुमूल्य आभूषण सजाना, सचित्त पदार्थों से उनकी अर्चना करना कहाँ तक योग्य है? आदि के कारण ही लोंकाशाह ने श्रमण-यति-वर्ग के विरुद्ध क्रांति की।

'लुंकाना सद्दिया अट्ठावन बोल, लुंकानी हुण्डी तेत्तीस बोल' के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि उनकी क्रान्ति मर्यादाहीन तथा उग्र नहीं थी। सत्यशोधक होने पर भी उनके अन्तर्मानस में हित-बुद्धि और मृदुता थी। उन्होंने यतिवर्ग को विनम्र शब्दों में कहा - "जो बुद्धिमान हैं वे मेरी बातों पर विचार करें। विवेकी लोग मेरी बातों को समझें, इस तरह विरोधियों को भी अपनी बातों पर चिन्तन करने के लिए वे प्रार्थना करते हैं और सत्य को समझने के लिए कहते हैं जिससे उनके चित्त की शान्ति का और उत्तर देने की मधुर शैली का स्पष्ट ज्ञान होता है। जहाँ परस्पर विचारों में संघर्ष की स्थिति होती है वहाँ पर कटुता आना स्वाभाविक है। किन्तु लोंकाशाह में कुछ भी कटुता नहीं आयी है। यही कारण है कुछ ही समय में एक अपूर्व प्रभाव छा जाता है, लखमसी जो पाटन का महान् धनाढ्य व्यापारी था, वह लोंकाशाह का समर्थक बन जाता है और शनैः-शनैः जन-मानस में विचार-क्रान्ति की ऐसी लहर लहराने लगती है कि पुरानी परम्परा के सिंहासन डगमगाने लगते हैं। उस समय की स्थिति का चित्रण करते हुए लोंकाशाह के समकालीन प्रसिद्ध विद्वान् कमलसंयम ने लिखा है—

"डगमगपडिउं, सघलउ लोक, पोसालइ पणि आवइ थोक।
लुंकइ वात प्रकासी इसी, तेहनुं शिष्य हुओ लखमसी॥"

विज्ञों का यह मन्तव्य है कि प्रारम्भ में लोंकाशाह ने केवल श्रमणवर्ग के शिथिलाचार के विरुद्ध ही आवाज उठायी थी, पर जब वह विरोध प्रबल हो गया तो उसमें मूर्तिपूजा विरोध, वेश-परिवर्तन प्रभृति अनेक बातें

सम्मिलित हो गयीं। लखमसी आदि के साथ विचार चर्चा करते हुए अनेक बाते सामने आयीं। उस पर उन्होंने चिन्तन किया और मतभेद की बातें विस्तृत होती चली गयीं।

लोंकाशाह के तेजस्वी और निष्ठावान् व्यक्तित्व से हजारों व्यक्ति प्रभावित हो रहे थे। आगम स्वाध्याय व चिन्तन से उन्होंने जो ज्योति प्राप्त की थी, उग्र विरोध होने पर भी वे भय से कतराये नहीं। किन्तु विरोध को विनोद मानकर निरन्तर आगे बढ़ते रहे। उनकी धर्म-क्रान्ति से सहस्रों व्यक्तियों को प्रकाश मिला; क्योंकि वह युग ही धर्म-क्रान्ति का युग था। यूरोप में उन दिनों पोप के विरोध में जन-मानस जाग्रत हो रहा था। मार्टिन लूथर (जर्मन) जैसे उग्रवादी नेता उसका संचालन कर रहे थे। भारत के विविध अंचलों में भी धर्म, समाज और राजनीति में अभिनव क्रान्ति हो रही थी। पंजाब में गुरु नानकदेव, पूर्व भारत में कबीर, और दक्षिण में नामदेव आदि के तेजस्वी स्वर गूंज रहे थे। धार्मिक आडम्बर, बाह्याचार, मूर्तिपूजा आदि के विरोध में एक विचित्र सी लहर लहरा रही थी जो जन-मानस को शुद्ध धर्म-साधना की ओर आगे बढ़ने के लिए उत्प्रेरित कर रही थी। इस तरह लोंकाशाह ही नहीं किन्तु भारत का प्रबुद्ध वर्ग भी उस धार्मिक क्रान्ति से प्रभावित था। जीवन की सान्ध्य वेला में सुकरात की तरह उन्हें भी विरोधियों ने विष दिया। किन्तु जिस महापुरुष ने जीवनभर जन-जन को अमृत बांटा हो वह कभी विष से विचलित हो सकता है? वह सत्य-पथ पर जीवन के अन्तिम क्षण तक बढ़ता रहा। मर करके भी वह अमर हो गया। स्थानकवासी और तेरापन्थ परम्परा उस महापुरुष की सदा ऋणी रहेगी और वह प्रकाश-दीप की तरह अपने दिव्य और भव्य आलोक से आलोकित करता रहेगा।

(१) **भाणाजी**—ये सिरोही के निकट अरहटवाल-अटकवाड़ा के निवासी थे। जाति से पोरवाल थे। वि० सं० १५३१ में उन्होंने दीक्षा ली ऐसा स्वर्गीय मोहनलाल दलीचन्द देसाई का मत है; किन्तु तपागच्छीय पट्टावलियों में दीक्षा समय १५३३ उल्लिखित है। उपाध्याय रविवर्धन ने अपनी पट्टावली में उनका दीक्षाकाल १५३८ दिया है। किन्तु उनका यह कथन विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि कुंवरजी पक्षीय केशवजी रचित लोंकाशाह शिलोके में जिसकी रचना सं० १६८८ के लगभग हुई है उसमें भी १५३३ का समर्थन होता है। ये लोंकागच्छ के आद्यमुनि थे। इनके वैयक्तिक जीवन और विहार प्रदेश आदि के सम्बन्ध में इतिहास मौन है। कहा जाता है कि इन्होंने पैन्तालीस

व्यक्तियों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी[१] और ये दीक्षाएँ लोंकाशाह की प्रेरणा से हुई थीं। अतः उन्होंने अपने गच्छ का नाम लोंकागच्छ रखा। मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने भाणाजी का स्वर्गगमन १५३७ में सूचित किया है। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है। कारण कि कडुवामत पट्टावली में सं० १५४० में भाणाजी से नाडोलाई गांव में कडुवाशाह मिले थे और उनसे वार्तालाप भी हुआ था। अतः १५४० तक उनका अस्तित्व असंदिग्ध है।

(२) **भीदाजी** – ये सिरोही के ओसवाल थे, इनका गोत्र साथडिया था। इन्होंने सं. १५४० में अहमदाबाद में ४५ व्यक्तियों के साथ भाणाजी ऋषि के पास दीक्षा ग्रहण की। संघवी तोला आपका भाई था।

(३) **नूनाजी** – इन्होंने भीदाजी के पास सं. १५४५ या १५४६ में दीक्षा ग्रहण की थी। ये सिरोही के निवासी ओसवाल वंशीय थे।

(४) **भीमाजी**—इन्होंने सं. १५५० में दीक्षा ग्रहण की थी। ये पाली के निवासी लोढा गोत्रीय ओसवाल थे।

(५) **जगमालजी** – इन्होंने सं. १५५० में दीक्षा ग्रहण की और भीमाजी के पट्टधर बने। आप उत्तरार्धवासी सुराणा गोत्रीय ओसवाल थे। मणिलालजी महाराज ने आपको नागपुरा का निवासी बताया है।

(६) **सखाजी**—इन्होंने १५५४ में दीक्षा ग्रहण की ऐसा लोंकागच्छीय बड़े पक्ष की पट्टावली से ज्ञात होता है। ये दिल्ली के निवासी थे। जाति से ओसवाल थे। स्वर्गीय मणिलालजी महाराज ने लिखा है कि आप बादशाह के वजीर थे। जब आप श्रमण बनने के लिए उद्यत हुए तब बादशाह ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—तुम श्रमण क्यों बनते हो ? उत्तर में आपने कहा कि—इस विराट विश्व में जो भी जन्म लेता है वह एक दिन अवश्य ही मरता है, किन्तु मैं ऐसा मरण चाहता हूँ कि जिसमें पुनः पुनः मरना न पड़े। बादशाह के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। उन्होंने दीक्षा ली, बहुत वर्षों तक संयम की आराधना की और कहा जाता है कि एक माह के संथारे के पश्चात् आपका स्वर्गवास हुआ।

(७) **रूपजी**—ये अणहिलपुर पाटन के निवासी थे। ओसवाल वेद

---

१ "तन्मध्ये वेषधरास्तु वि. त्रयस्त्रिंशदधिकपंचदशशत १५३३ वर्षे जाता तत्र प्रथमो वेषधारी भाणाख्योऽभूदिति।" —**पट्टावली समुच्चय पृष्ठ ६७**

'शत पन्नर तेत्रीसनी सालइ, भाणजी ने दीक्ख आलइ।"

—**जैनगुर्जर कविओ**, भाग ३, पृष्ठ १०९४

गोत्रीय पिता देवा, माता मिरधाई, और जन्म संवत् १५४३। १५६८ माघ शुक्ला पूर्णिमा के दिन स्वयमेव दीक्षा ग्रहण की। लोंकागच्छ की बड़े पक्ष की पट्टावली में यह उल्लेख है कि रूपाशाह ने शत्रुंजय का संघ निकाला था, किन्तु बाद में सखाजी का अहमदाबाद में प्रवचन सुनकर ५०० व्यक्तियों के साथ प्रव्रजित हुए।[1] और सखाजी के पट्टधर हुए। इन्होंने पाटनगच्छ गुजराती लोंकागच्छ की स्थापना की। इनके समय में हीरागुरु नामक यतिप्रवर ने नागोरी लोंकागच्छ की स्थापना की। इसी समय उत्तरार्द्ध लोहारी लोंकागच्छ स्थापित हुआ। उसके सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। तथापि विज्ञों का मानना है कि जीवाजी महाराज की परम्परा के किसी सन्त ने इसकी स्थापना की थी। उत्तरार्द्ध गच्छानुयायी सखाजी के शिष्य अर्जुन के शिष्य दुर्गादास ने सं. १६२५ में खंदक चौपाई की रचना की थी।[2]

(८) **जीवाजी**—ये सूरत के देश-लहरा गोत्रीय तेजपाल की पत्नी कपूरा बाई के पुत्र थे। जन्म सं. १५५०। दीक्षा सं. १५७८ माघ शुक्ला दूज गुरुवार[3]। 'रूपऋषि भास' में लेखक ने जीवराजजी का दीक्षा संवत् १५७८ सूचित किया है। 'जीवराजजी भास' में वही कवि सं. १५६८ सूचित करता है। जबकि १५६८ में स्वयं रूपजी दीक्षा स्वीकार करते हैं। कहा जाता है कि दीक्षा ग्रहण करते समय आपकी उम्र लगभग २८ वर्ष की थी। संवत् १६१२ वैशाख शुक्ला छठ को बड़े वरसिंघजी को पद पर स्थापित किया था तथा स्वयं १६१३ ज्येष्ठ शुक्ला छठ सोमवार को पाँच दिन का अनशन लेकर ६३ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुए थे। इन्ही के नाम से गुजराती लोंकागच्छ प्रसिद्ध हुआ था।

जीवाजी ऋषि के अनेक शिष्य थे। उनमें से सं. १६१३ में वीरसिंह जी ऋषि को बड़ोदा में आचार्य पद प्रदान किया गया और दूसरी ओर बालापुर में कुँवरजी ऋषि को आचार्य पद दिया गया जिससे गुजराती लोंकागच्छ दो भागों में विभक्त हो गया। प्रथम पक्ष मोटीपक्ष और द्वितीय पक्ष न्हानीपक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनकी पट्टावली इस प्रकार है—

मोटीपक्ष की पट्टावली

९. वरसिंघजी ऋषि बड़े   १०. लघुवरसिंघजी

---

१ मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, प्र. अ. पृष्ठ २१६।

२ देखिए रूपऋषि भास।

३ देखिए जैन गुर्जर कविओ, भाग तीसरा, पृष्ठ ७४०।

११. जसवन्त ऋषि जी	२०. जगजीवनजी ऋषि
१२. रूपसिंह जी ऋषि	२१. मेघराजजी ऋषि
१३. दामोदरजी ऋषि	२२. सोमचन्द्रजी ऋषि
१४. कर्मसिंहजी ऋषि	२३. हरखचन्द्रजी ऋषि
१५. केशवजी ऋषि	२४. जयचन्द्रजी ऋषि
१६. तेजसिंहजी ऋषि	२५. कल्याणचन्द्रजी ऋषि
१७. कानजी ऋषि	२६. खूबचन्द सूरीश्वर
१८. तुलसीदासजी ऋषि	२७. न्यायचन्द्र सूरीश्वर
१९. जगरूप ऋषि जी	

न्हानीपक्ष की पट्टावली

९. कुँवरजी ऋषि	१६. श्री भागचन्द्रजी ऋषि
१०. श्रीमल्लजी ऋषि	१७. श्री बालचन्द्रजी ऋषि
११. श्री रत्नसिंहजी ऋषि	१८. श्री माणकचन्द्रजी ऋषि
१२. केशवजी ऋषि	१९. श्री मूलचन्द्रजी ऋषि (१८७६)
१३. श्री शिवजी ऋषि	२०. श्री जगतचन्द्रजी ऋषि
१४. श्री संघराजजी ऋषि	२१. श्री रत्नचन्द्रजी ऋषि
१५. सुखमल्लजी ऋषि	२२. श्री नृपचन्द्रजी ऋषि

(ये अन्तिम गादीधर थे, आगे गादीधर नहीं हुए)

जीवराजजी महाराज—यह हम पूर्व बता चुके हैं कि लोंकागच्छ में भी शिथिलता प्रारम्भ हो गयी। जिस उद्देश्य से लोंकाशाह ने क्रान्ति का बिगुल बजाया था, उसका स्वर मन्द हो गया। आचार-विचार की शिथिलता के कारण पुनः नव जागृति लाने के लिए सर्वप्रथम वि० सं० १६६६ में जीवराज जी महाराज ने क्रियोद्धार किया। जीवराजजी महाराज के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में इतिहास मौन है। कितने ही विज्ञ उनकी जन्मस्थली सूरत मानते हैं और माता का नाम केसर बहिन और पिता का नाम वीरजी मानते हैं। किन्तु पूर्ण सत्य-तथ्य क्या है यह प्राचीन साक्षी के अभाव में कहना कठिन है तथापि यह सत्य है कि वे गृहस्थाश्रम में किसी विशिष्ट परिवार के सदस्य रहे होंगे। क्योंकि उनकी प्रतिभा की तेजस्विता उनके कृतित्व से झलकती है। यह भी माना जाता है कि उनका पाणिग्रहण एक सरूपा बाला के साथ सम्पन्न हुआ था, किन्तु उनका मन गृहस्थाश्रम में न लग सका। वे भोग से योग को श्रेष्ठ समझते थे। अतः वे लोंकागच्छ के यति जो बहुत ही प्रसिद्ध ज्योतिर्विद थे, उनकी सेवा में पीपाड पहुँचे। यतिप्रवर के प्रभावपूर्ण

प्रवचनों से वे अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्हें लगा कि वस्तुतः संसार असार है, यह मानव का जीवन बहुत ही अनमोल है। विषय-वासना के दलदल में फँसकर यह जीवन कूकर और शूकर की तरह बरबाद करने के लिए नहीं है। इस जीवन को आबाद करने के लिए मुझे साधना के पथ पर बढ़ना चाहिए। अतः सं० १६५४ में यतिदीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के पश्चात् शिक्षा प्रारम्भ हुई। आगमों के गम्भीर रहस्य ज्यों-ज्यों पढ़ते गये त्यों-त्यों ज्ञात होते गये। उन्हें अनुभव हुआ कि आगमों में जो श्रमण जीवन की आचार-संहिता बतायी गयी है आज वह यतिवर्ग में दिखायी नहीं दे रही है। यह प्रवृत्ति आत्मवंचना है। अतः इसमें सुधार अपेक्षित है। उन्होंने सर्वप्रथम अपने गुरुजी से नम्र निवेदन किया कि आज हम किधर जा रहे हैं, धर्म के नाम पर मिथ्याडम्बरों में उलझे हुए हैं। अतः इसमें सुधार अपेक्षित है। किन्तु यतिजी गद्दी के मोह को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। वे सत्य पर आवरण डालना चाहते थे; किन्तु डाल नहीं सके। कुछ समय जीवराजजी यह प्रतीक्षा करते रहे कि अवश्य ही सुधार होगा। किन्तु जब उन्होंने देखा कि गुरुजी सत्ता व सम्पत्ति के मोह को नहीं छोड़ सकते हैं, तो वे वि० सं० १६६६ में अपने गुरुजी से पृथक् हो गये और उन्होंने अपने साथी अमीपालजी, महीपालजी, हीरोजी, गिरधरजी और हरजी इन पाँच व्यक्तियों के साथ लालभाटा के उपाश्रय का परित्याग कर पीपाड के बाहर बट वृक्ष के नीचे बैठकर अपने अतीत के जीवन की आलोचना की। अरिहन्त, सिद्ध की साक्षी से पंच महाव्रतों को ग्रहण किया। स्थानकवासी परम्परा के ये ही सर्वप्रथम क्रियोद्धारक हैं। यतिवर्ग ने जब देखा कि इनके तपः-तेज से जनमानस इनके प्रति आकर्षित हो रहा है तो उन्होंने उग्र विरोध करना प्रारम्भ किया, किन्तु विरोध के बावजूद भी आपका प्रभाव दूज के चाँद की तरह बढ़ता रहा। आपने सर्वप्रथम ग्यारह अंग, बारह उपांग, चार मूल, चार छेद और एक आवश्यक इन बत्तीस आगमों को प्रमाणभूत माना। साथ ही मुखवस्त्रिका को सदा मुख पर रखना आवश्यक समझा। मुखवस्त्रिका हाथ में रखने से प्रमादजन्य अनेक दोष लगने की सम्भावना है। अतः साधक को मुखवस्त्रिका मुख पर बाँधना आवश्यक है। मुखवस्त्रिका के साथ ही जीवों की रक्षा के लिए रजोहरण रखना भी आवश्यक माना। श्रमण जीवन की श्रेष्ठता व ज्येष्ठता के लिए श्रमण सामाचारी का भी निर्माण किया।

जीवराजजी महाराज के साथ जिन पाँच यतिप्रवरों ने क्रियोद्धार में सहयोग दिया था वे भी कष्टों को सहन करते हुए अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर आगे बढ़ते रहे। इन छः साधकों में जीवराजजी महाराज का शिष्य

परिवार अधिक विस्तृत था। वर्तमान में भी अनेक सम्प्रदाय आपको अपना मूलपुरुष मानते हैं।

जीवराजजी महाराज श्रेष्ठ वक्ता के साथ ही सुयोग्य कवि भी थे। यद्यपि उन्होंने किसी बृहदाकार कृति का सर्जन नहीं किया तथापि भक्तिमूलक चौबीसी की रचना की जिसमें स्तुतियों की प्रधानता है, जीवन के विविध अनुभवों का संचय है।

परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य उपाध्याय पुष्कर मुनिजी महाराज के पास जीवराजजी महाराज के पद्यों का संग्रह है जो बहुत ही जीर्ण-शीर्ण और खण्डित स्थिति में है। कई स्थानों पर अक्षर चले भी गये हैं। पत्र का व्यास आठ अंगुल और आयाम १२ अंगुल हैं। २६ से ३६ और १६ से पहले के पन्ने नहीं हैं। ४५वें पन्ने में चौबीसी पूर्ण होती है। लेखन-काल और लेखक का परिचय अन्त में नहीं दिया गया है, पर ऐसा लगता है कि यह रचना कुछ समय के पश्चात् ही किसी ने लिखी है।

इस चौबीसी की रचना जीवराजजी महाराज ने की है और अपने आपको सोमजी का शिष्य बताया है। कुछ पद्यों के प्रान्त में रचनाकाल और स्थल का भी निर्देश किया है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत रचना क्रमशः न कर जब भी कवि के अन्तर्मानस में भावलहरियाँ उद्बुद्ध हुईं तब उसने स्तुतियाँ निर्माण की हैं। इसके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कवि को प्रारम्भ में चौबीसी लिखने का विचार नहीं होगा। कुछ स्तवन बनाने के पश्चात् अवशिष्ट तीर्थंकरों के स्तवन उसमें सम्मिलित करके चौबीसी का रूप दिया होगा। यही कारण है कि भगवान महावीर की स्तुति १६७५ अषाढ़ सुदी १० को जेतपुर में की। एक वर्ष पश्चात् १६७६ के श्रावण सुदी ५ को बावेल चातुर्मास में आदिनाथ की स्तुति की। फिर वर्षभर बाद सं० १६७७ भाद्रपद शुक्ला अष्टमी को बालापुर में चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की स्तुति की। बीच के अन्य तीर्थंकरों की स्तुति सं० १६७९ विजयदशमी को बहादुरपुर में १७वें तीर्थंकर की स्तुति की है।

इस प्रकार प्रस्तुत चौबीसी स्तुति के पद विभिन्न क्षेत्रों में पाँच वर्ष के दीर्घकाल में पूर्ण किये गये हैं। इस चौबीसी की यह विशेषता है कि एक स्तवन कई ढालों में बनाया गया है जैसे ऋषभदेव का स्तवन ७५ गाथाओं में है। सर्वत्र तीर्थंकरों के गुणों का उत्कीर्तन किया गया है। आपने "ऋषि सोमजी का शिष्य जीवराज बोले दया तणा फल दाखिए" इसमें स्पष्ट रूप से अपने को सोमजी का शिष्य बताया है। आपका संयमकाल सत्रहवीं शती

का उत्तरार्द्ध सुनिश्चित है। पर प्रश्न है कि सोमजी किनके शिष्य थे और आपके पास उन्होंने कब प्रव्रज्या ग्रहण की थी, यह अन्वेषणीय है। चौवीसी के पश्चात् दो-तीन पन्नों में मारवाड़ी अक्षरों में सोमजीकृत बारहमासा है, पर इससे भी यह ज्ञात नहीं होता कि ये सोमजी कौन थे और किसकी परम्परा के थे। सोलहवीं शती के ऋषि जीवाजी के पश्चात् सत्रहवीं शती में ऋषि जीवराजजी हुए हैं और सम्भव है यही क्रियोद्धारक जीवराजजी महाराज हों।

उनकी कृतियों से यह भी ज्ञात होता है कि उनका विहार क्षेत्र कौनसा प्रदेश रहा था। जिन पदों में उनका रचनाकाल दिया गया है उनका ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व होने के कारण कुछ उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

संवत् सोल छिहोत्तरा वरषे श्रावण सुदि पंचमी सार ए।
बावेल चौमासि मन उल्लासि कर्‌यूं स्तवन रविवार ए।
जे भावे भणसई नित्य श्रुणसई सिद्ध थाय तस काज ए।
कर जोडी हरष कोडी गुण जपे ऋषि जीवराज ए॥

—आदिनाथस्तवन का अन्तिम भाग

संवत सोल पंचोत्तरा वरषे आषाढ़ सुद दसमी सार ए।
शुक्रवारे तवन रच्युं जेतपुर नगर मझार ए।
ऋषि सोमजी सदा सोभागी जेहनो जस अपार ए।
तास सेवक ऋषि जीवराज जंपे सकल संघ जयकार ए॥

—वीरस्तवन—अन्त भाग

संवत् सोल सित्योत्तरा भाद्रवा सुदि आठम सार ए।
मंगलवारे तवन कीधु बालापुर मझार ए।
गल्ल भाव आणी भगति जाणी, तवन भणई जे एकमना।
कर जोडी जीवराज बोलई काज सरसइ तेहना॥

—चन्द्रप्रभुस्तवन

सप्तमो जिनवर उदय दिनकर सोभागी महिमा निलो।
भगति वच्छल विरद जेहनें धन्य स्वामी त्रिभुवन तिलो॥
संवत सोल उगणासी वरषे विजयदशमी सोमवार ए।
बाहादरपुर मांहे तवन कीधुं भणतां सुणतां जयकार ए॥
सुबुद्धि आणी सहज वाणी जिन तणां गुण भाखी ए।
ऋषि सोमजी ना सीस जीवराज बोले दया तणां फल दाखी ए॥

—सप्तजिनस्तवन

कहा जाता है कि जीवराजजी महाराज ने अत्यधिक धर्म प्रचार

किया। जीवन की सान्ध्यबेला में समाधिभाव में अवस्थित रहने से उन्हें विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि हुई जिससे उन्होंने अपना अन्तिम समय सन्निकट समझकर संथारा सहित आयु पूर्ण किया।

यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जीवराजजी महाराज ने नया धर्म स्थापित नहीं किया, किन्तु पुरातन परम्परा में जो आचार-शैथिल्य हो चुका था उसका उचित संशोधन किया। शिथिलाचार के स्थान पर शुद्धाचार की संस्थापना की। श्रमण-जीवन में जो आडम्बरप्रियता, और जड़ता आ चुकी थी उसे दूर कर शुद्ध साधुचर्या का पथ प्रशस्त किया। प्रस्तुत क्रियोद्धार में किसी भी प्रकार का मनोमालिन्य व रागद्वेष की भावना नहीं थी; किन्तु विशुद्ध धर्म की पुनर्जागरणा थी।

स्थानकवासी परम्परा एक विशुद्ध आध्यात्मिक परम्परा है। उसका किसी भी जड़-पूजा में विश्वास नहीं है। किन्तु विशुद्ध चैतन्यतत्त्व की उपासना और साधना का ही संलक्ष्य है। वह बाह्य आडम्बर, विवेकशून्य क्रियाकाण्ड में विश्वास नहीं करती। उसका मन्तव्य है कि धर्म का आधार भौतिक नहीं, मानव की आन्तरिक आध्यात्मिक भावना है। त्याग, तप, संयम स्थानकवासी परम्परा के मूल स्वर रहे हैं जिसके कारण यह परम्परा शतशाखी की भाँति दिन-प्रतिदिन अभिवृद्धि को प्राप्त होती गयी।

जीवराजजी महाराज के पश्चात् लवजी ऋषि जी म०, धर्मसिंह जी म०, धर्मदास जी म०, श्री हरजी ऋषि जी महाराज आदि चार महापुरुषों ने भी क्रियोद्धार कर अभिनव जागृति का संचार किया। इन्हीं पाँचों क्रियोद्धारकों की परम्परा ही आज स्थानकवासी परम्परा के रूप में है। जीवराजजी महाराज के प्रधान शिष्य लालचन्दजी महाराज थे। उनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में भी इतिहास मौन है। किन्तु वे एक महान् प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य थे। उनके अनेक शिष्य थे जिनके नामों से पृथक्-पृथक् सम्प्रदाय हैं। विस्तार भय से मैं उन सभी की चर्चा यहाँ नहीं कर रहा हूँ। मैं यहाँ केवल जीवराजजी महाराज के शिष्य लालचन्दजी महाराज, आचार्य तुलसीदासजी महाराज, आ० सुजानमलजी म०, आ० जीतमलजी म०, आ० ज्ञानमलजी म०, आ० पूनमचन्दजी म०, आत्मार्थी ज्येष्ठमलजी म०, महास्थविर ताराचन्दजी म०, उपाध्याय पुष्कर मुनि जी महाराज का परिचय अगले अध्याय में दे रहा हूँ।

२

युगप्रवर्तक क्रांतिकारी

आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज :

व्यक्तित्व और कृतित्व

भारतीय संस्कृति विश्व की एक महान् संस्कृति है जो हजारों वर्षों से गंगा के विशाल प्रवाह की तरह जन-जन के अन्तर्मानस में प्रवाहित हो रही है; मन और मस्तिष्क का परिमार्जन कर रही है। यह संस्कृति मूलतः दो संस्कृतियों का समन्वित रूप है—एक वैदिक संस्कृति और दूसरी श्रमण संस्कृति। वैदिक संस्कृति में बाह्यशुचिता, सम्पन्नता एवं समृद्धि को प्रोत्साहन दिया गया है, तो श्रमण संस्कृति में अन्तरंग पवित्रता, आत्मगुणों का विकास एवं आत्मलीनता पर विशेष बल दिया गया है। वैदिक संकृति का मूल प्रकृति है, श्रमण संस्कृति का मूल स्वात्मा है। प्रथम बाह्य है तो दूसरी आन्तर है।

प्रकृति के विविध पहलुओं, घटनाओं को निहारकर समय-समय पर ऋषियों ने जो कल्पनाएँ कीं उनमें से ब्रह्म का स्वरूप प्रस्फुटित हुआ है किन्तु श्रमण संस्कृति का आत्मचेतना की ओर अधिक झुकाव रहा है। उसका स्पष्ट मन्तव्य है—प्रत्येक प्राणी में एक चिन्मय ज्योति छिपी हुई है चाहे कीड़ा हो, चाहे, कुंजर, पशु हो या मानव, नरक का जीव हो या स्वर्ग का अधीश्वर देवराज इन्द्र हो, सभी में वह अखण्ड ज्योति जगमगा रही है। किसी ने उस ज्योति का विकास किया है तो किसी में वह ज्योति राख से आच्छादित अग्नि के समान सुप्त है। वैदिक संस्कृति में परतन्त्रता, ईश्वरालम्बन और क्रियाकाण्ड की प्रमुखता रही तो श्रमण संस्कृति में स्वातन्त्र्य, स्वावलम्बन और विशुद्ध आत्मा की सर्वोच्च शक्ति पर विश्वास रहा।

श्रमण संस्कृति का मूल शब्द "समण" है जिसका संस्कृत रूपान्तर है श्रमण, शमन और समन।

श्रमण शब्द श्रम् धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है परिश्रम करना, उद्योग करना। इस संस्कृति में तथाकथित ईश्वर मुक्तिदाता नहीं है, वह सृष्टि का कर्ता-धर्ता और हर्ता नहीं है। इस संस्कृति की मान्यतानुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम और सत्कार्यों से ईश्वर बन सकता है। वह ईश्वर के प्रसाद पर निर्भर नहीं, किन्तु आत्म-विकास से स्वयं उस चरम स्थिति को प्राप्त कर सकता है।

शमन का अर्थ शान्त करना है। श्रमण अपनी चित्तप्रवृत्तियों के विकारभावों का शमन करता है। उसकी मूल साधना है आत्म-चिन्तन और भेद-विज्ञान। चारों वर्ण वाले समान रूप से आत्म-चिन्तन करने के अधिकारी हैं, मुक्ति को प्राप्त करने के भी। साधक शत्रु-मित्र, बन्धु-बान्धव, सुख-दुःख, प्रशंसा और निन्दा, जीवन और मरण जैसे विषयों में भी समत्व भावना रखता है।

समन शब्द का अर्थ समानता है। श्रमण संस्कृति में सभी जीव समान हैं, उसमें धन, जन, परिजन की दृष्टि से कोई श्रेष्ठ और कनिष्ठ नहीं है। आत्म-भाव में स्थिर रहकर साधना करना समानता है।

इस तरह श्रमण संस्कृति का मूल श्रम, शम और सम है। ये तीनों सिद्धान्त विशुद्ध मानवता पर आधारित हैं। इसमें वर्ग-भेद, वर्ण-भेद, उपनिवेशवाद आदि असमानता वाले तत्व नहीं हैं।

श्रमण संस्कृति ने आत्म-विकास का मार्ग प्रशस्त किया है। आत्मा की अन्तरंग पवित्रता, निर्मलता और उसके गुणों का विकास करने में श्रमण संस्कृति ने उदात्त चिन्तन प्रस्तुत किया है। आत्मा की अनन्त ज्ञान शक्तियाँ, अनन्त विभूतियाँ और अनन्त सुखमय स्वरूप दशा के विकास में जागरूक ही नहीं; प्रयत्नशील भी रही हैं। आत्म-गुणों का चरम विकास ही इस संस्कृति का मूल ध्येय रहा है। भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक असंख्य साधकों ने आत्म-साधना के महान पथ पर कदम बढ़ाये हैं, आत्म-जागरण और आत्म-विकास तथा आत्म-लक्ष्य तक पहुँचते रहे हैं।

इतिहासविज्ञों का अभिमत है कि भगवान महावीर का युग श्रमण संस्कृति का स्वर्ण-युग था। इस युग में श्रमण संस्कृति अपने चरम उत्कर्ष पर थी। हजारों-लाखों साधकों ने आत्म-कल्याण व जन-कल्याण किया। काल प्रवाह से उसमें कुछ विकृतियाँ आ गयी थीं, जिसे श्रमण भगवान महावीर ने प्रबल प्रभाव से दूर किया और नया चिन्तन, नया दर्शन देकर युग को परिवर्तित किया।

भगवान महावीर ने चिन्तन और दर्शन के क्षेत्र में जो क्रान्ति कर अवरुद्ध प्रवाह को मोड़ा था, परिस्थितिवश पुनः उस प्रवाह में मन्दता आ गयी, धार्मिक अन्धविश्वासों ने मानव के चिन्तन को अवरुद्ध कर दिया था। अतः क्रान्तिकारी ज्योतिर्धर आचार्यों ने पुनः क्रान्ति की।

सन्त परम्परा के समुज्ज्वल इतिहास में सोलहवीं शदी का विशेष महत्व है। इसी युग को वैचारिक क्रान्तिकारियों का युग कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। कबीर, नानक, सन्त रविदास, तरण-तारण स्वामी और लोंकाशाह आदि ने क्रान्ति की शंखध्वनि से भारतीय जनमानस को नवजागरण का दिव्य सन्देश दिया। धर्म के मौलिक तत्वों के नाम पर जो विकार, असंगतियाँ और कलह-मूलक धारणाएँ पनप रही थीं उनके प्रति तीव्र असन्तोष व्यक्त किया। उन क्रान्तिकारियों के उदय से स्थितिपालक समाज में एक हलचल उत्पन्न हो गयी और परिणामस्वरूप प्रतिक्रियावादी भावनाएँ उद्बुद्ध हुई। यह एक परखा हुआ ऐतिहासिक सत्य है कि मानव-संस्कृति का वास्तविक पल्लवन और संवर्धन संघर्ष की पृष्ठभूमि में ही होता है। शान्तिकाल में तो भौतिक समृद्धि और उसकी चकाचौंध पनप सकती है किन्तु क्रान्ति और नवसृजन संघर्ष की पृष्ठभूमि पर ही पनपते हैं। यही कारण है सन्त परम्परा का विकास विपरीत परिस्थितियों में हुआ है। वह विशाल और उदात्त भावनाओं को लेकर पाशविकता से लड़ी और सुदृढ़ सौन्दर्यसम्पन्न परम्पराएं डालीं जिन पर मानवता सदा गर्व करती रही।

श्रमण संस्कृति की एक क्रान्तिकारी परम्परा स्थानकवासी समाज के नाम से विश्रुत है जिसने साधना, भक्ति और उपासना के क्षेत्र में विस्तार किया। यह एक अध्यात्मप्रधान सम्प्रदाय है। इसमें यम, नियम और संयम की प्रधानता है। मानव-जीवन के मूल्य व महत्व का इसमें सही-सही अंकन किया गया है। इस परम्परा का उद्देश्य मानव को भोग से योग की ओर संग्रह से त्याग की ओर, राग से विराग की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर, असत्य से सत्य की ओर ले जाना है।

मरुधर धरा के उद्धारक श्रद्धेय युग-प्रवर्तक पूज्यश्री अमरसिंहजी महाराज इसी संस्कृति के सजग और सतेज सन्तरत्न थे। अपने युग के परम विद्वान्, विचारक और तत्ववेत्ता थे। आपके अगाध पाण्डित्य व विद्वत्ता की सुरभि दिग्-दिगन्त में फैल चुकी थी और आज भी वह मधुर सौरभ जन-जन के मानस को अनुप्रेरित व अनुप्राणित करती है। आपका

ज्ञान निर्मल था, सिद्धान्त अटल था और आप स्थानकवासी जैन परम्परा व श्रमण संस्कृति की एक विमल विभूति थे।

पूज्यश्री अमरसिंहजी महाराज का जन्म भारत की राजधानी दिल्ली में हुआ। दिल्ली की परिगणना भारत के प्रधान नगरों में की गयी है। यह वर्षों से भारत की राजधानी रही है। इस महानगरी का निर्माण किसने किस समय किया, इस सम्बन्ध में विज्ञों में एकमत नहीं है। दिल्ली राजावली, कवि किसनदास व कल्हण की एक महत्वपूर्ण कृति है। इसके अभिमतानुसार दिल्ली की संस्थापना संवत् ९०९ में हुई।[1] पट्टावली समुच्चय में संवत् ७०३ में अनंगपाल तुअर द्वारा बसाने का उल्लेख है।[2] कनिंघम[3] ने "दि आर्कियलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया" ग्रन्थ में सन् ७३६ में अनंगपाल प्रथम के द्वारा दिल्ली बसाने का निर्देश किया है। पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी[4] का मन्तव्य है तोमर वंशीय अनंगपाल प्रथम दिल्ली का मूल संस्थापक है। उसका राज्याभिषेक सन् ७३६ में हुआ और उसी ने सर्वप्रथम दिल्ली में राज्य किया। उसके पश्चात् उसके वंशज कन्नौज में चले गये और वे वहीं पर रहे। बहुत वर्षों के पश्चात् द्वितीय अनंगपाल दिल्ली में आया और उसने अपनी राजधानी दिल्ली बनाई। उसने नवीन नगर का निर्माण करवाया। नगर का कोट बनवाया। कुतुबमीनार के सन्निकट जो आज खण्डहरों का वैभव बिखरा पड़ा है उसे इतिहासकार द्वितीय अनंगपाल की राजधानी मानते हैं। उसके समय का शिलालेख भी मिलता है जिसमें संवत् ११०९ अनंगपाल वही का उल्लेख है। कुतुबमीनार के सन्निकट अनंगपाल के द्वारा बनाया गया एक मन्दिर है, उसके एक स्तम्भ पर अनंगपाल का नाम उत्कीर्ण किया

---

१ नृप अनंगपाल बावीसमां बत्तीस लक्षण तास।
संवत् जहाँ नो सई निडोत्तर (९०९) वर्ष मीत सुप्रकाश॥
गुरुवार दसमी दिवस उत्तम तह असाढ़े मास।
दिल्ली नगर करि गढ़ी किल्ली कहे कवि किसनदास॥
सो गड़के जब छखेडी उतपत्ति गड तह वेर।
सो वह हुई किल्ली वहाँ गाडी भई ढिल्ली फेर॥

२ संवत् सात सौ तीन दिल्ली तुअर बसाई अनंगपाल तुअर।
—पट्टावली समुच्चय, भाग १ पृष्ठ २०९

३ Cunnigham : The Archacological Survey of India, p. 140

४ दिल्ली अथवा इन्द्रप्रस्थ, पृ. ६।

हुआ है।[1] श्री जयचन्द्र विद्यालंकार[2] सन् १०५० में अनंगपाल नामक एक तोमर सरदार दिल्ली की स्थापना का उल्लेख करते हैं और श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[3] का अभिमत है कि द्वितीय अनंगपाल ने दिल्ली बसाई। यह अनंगपाल तोमरवंशीय क्षत्रिय था। संवत् १३८४ का एक शिलालेख[4] जो दिल्ली म्यूजियम में है, उसमें तोमरवंशियों के द्वारा दिल्ली बसाने का उल्लेख मिलता है। इसके पूर्व दिल्ली का नाम इन्द्रप्रस्थ था।

किसनदास ने अपनी कविता में दिल्ली नामकरण के सम्बन्ध में लिखा है कि जमीन में लोहे की एक कीली लगाई गई, किन्तु वह ढीली हो जाने से उसका नाम ढिल्ली हुआ।[5] फरिश्ता कहते हैं[6] कि यहाँ मिट्टी इतनी मुलायम है कि इसमें मुश्किल से किल्ली मजबूत रह सकती है। अतः इसका नाम ढिल्लिका रखा गया। इसके योगिनीपुर, दिल्ली, देहली आदि नामों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं।

गणधर सार्धशतक[7] उपदेशसार[8] खरतरगच्छ गुर्वावली[9] विविध तीर्थकल्प[10], तीर्थमाला[11] प्रभृति अनेक ग्रन्थों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि दिल्ली प्रारम्भ से ही जैनियों का प्रमुख केन्द्र रही है। यहाँ पर अनेक श्रेष्ठी लोग जैनधर्म के अनुयायी थे, श्रमण संस्कृति के उपासक थे।

देहली के ओसवाल वंशीय तातेर गोत्रीय सेठ देवीसिहजी अपने युग के प्रसिद्ध व्यापारी थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम कमलादेवी था। पति और पत्नी दोनों समान स्वभाव के थे, संतों की संगति में विशेष अभिरुचि

---

१ राजपूताने का इतिहास, प्रथम जिल्द, पृ० २३४।

२ इतिहास प्रवेश, भाग १, पृ. २२०।

३ टॉड—राजस्थान का इतिहास, पृ. २३०।

४ "देशोऽस्ति हरियानाख्यो पृथिव्यां स्वर्गसंनिभः।
दिल्लीकाख्या पुरी तत्र तोमरैरस्ति निर्मिता।"

५ नं० १ पृ० १४ पर देखिए।

६ जैन तीर्थ सर्व संग्रह, ले० अंबालाल, पृ. ३५२।

७ ले० वर्धमान सूरि।

८ उपदेशसार की टीका।

९ ले० जिनपाल उपाध्याय।

१० ले० जिनप्रभ सूरि, सं० जिनविजय, प्रकाशक सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

११ ले० विनयप्रभ उपाध्याय : प्रका० 'जैन सत्य प्रकाश' अन्तर्गत अहमदाबाद।

थी। जैन श्रमणों का जब कभी योग मिलता तो वे धर्मकथा श्रवण करने को पहुँचते थे, धर्मचर्चा में उन्हें विशेष रस था।

एक दिन कमलादेवी अपनी उच्च अट्टालिका में सानन्द सो रही थी। शीतल मन्द सुगन्ध समीर आ रहा था। प्रात:काल होने वाला ही था कि उसे एक स्वप्न आया कि आकाशमार्ग से एक अति सुन्दर और अमर भवन नीचे उतर रहा है और वह उसके मुँह में प्रवेश कर रहा है। स्वप्न को देखकर कमलादेवी उठकर बैठ गयी और उसने अपने पति देवीसिंहजी से स्वप्न की बात कही। देवीसिंहजी ने हर्षविभोर होकर कहा—सुभगे, तेरे भाग्यशाली पुत्र होगा। यथासमय आश्विन शुक्ला चतुर्दशी रविवार संवत् १७१६ में रात्रि के समय शुभ मुहूर्त और शुभ बेला में पुत्र का जन्म हुआ। पुत्र का नाम अमरसिंह रखा गया और वे इसी नाम से प्रसिद्ध हुए। शैशव-काल में यह नाम माता-पिता को तृप्ति प्रदान करता था। श्रमण बनने पर आचार्य लालचन्दजी महाराज को तृप्ति देने लगा। आचार्य-जीवन में वह लाखों श्रद्धालुओं के लिए श्रद्धा का केन्द्र बन गया। यह नाम स्थानकवासी परम्परा के गौरव का प्रतीक है।

शिशु का वर्ण गौर था, तेजस्वी आँखें थीं, मुस्कुराता हुआ सौम्य चेहरा था और शरीर सर्वांग सुन्दर था। जिसे देखकर दर्शक आनन्दविभोर हो जाता था। अमरसिंह के जन्म लेते ही अपार संपत्ति की वृद्धि होने से और सुख-समृद्धि बढ़ने से पारिवारिक जन अत्यन्त प्रसन्न थे। माता का वात्सल्य, पिता का स्नेह और पारिवारिक जनों का प्रेम उसे पर्याप्त रूप से मिला था। रूप और बुद्धि की तीक्ष्णता के कारण सभी उसकी प्रशंसा करते थे। अमर संस्कारी बालक था। उसमें विचारशीलता, मधुरवाणी, व्यवहार-कुशलता आदि सद्‌गुण अत्यधिक विकसित हुए थे। उसमें एक विशिष्ट गुण था, वह था चिन्तन करने का। वह अपने स्नेही-साथियों के साथ खेल-कूद भी करता था, नाचता-गाता भी था, हँसता-हँसाता भी था, रूठता-मचलता भी था, बाल-स्वभाव सुलभ यह सब कुछ होने पर भी उसकी प्रकृति की एक अनूठी विशेषता थी कि सदा चिन्तन मनन करते रहना। योग्य वय होने पर उसे कलाचार्य के सन्निकट अध्ययन के लिये प्रेषित किया, किन्तु अद्‌भुत प्रतिभा के कारण अल्प समय में ही उसने अरबी, फारसी, उर्दू, संस्कृत आदि भाषाओं का उच्चतम अध्ययन कर लिया। आपकी प्रकृष्ट प्रतिभा को देखकर कलाचार्य भी मुग्ध हो गया। संस्कारों का वैभव दिन प्रतिदिन समृद्ध हो रहा था।

एक बार ज्योतिर्धर जैनाचार्य लालचन्दजी महाराज देहली पधारे। उनके उपदेशों की पावन गंगा प्रवाहित होने लगी। अमरसिंह भी अपने माता-पिता के साथ आचार्यप्रवर के प्रवचन में पहुँचा। प्रवचन को सुनकर उसके मन में वैराग्य भावना अंगड़ाइयाँ लेने लगी। उसे लगा कि संसार असार है। माता-पिता ने उसकी भाव-भंगिमा को देखकर यह समझ लिया कि यह बालक कहीं साधना के मार्ग में प्रवेश न कर जाय। अतः उन्होंने देहली की एक सुप्रसिद्ध श्रेष्ठीपुत्री के साथ तेरह वर्ष की लघुवय में बालक अमर का पाणिग्रहण कर दिया। उस युग में बालविवाह की प्रथा थी। बाल्यकाल में ही बालक और बालिकाओं को विवाह के बन्धन में बाँध दिया जाता था; किन्तु उनका गार्हस्थिक सम्बन्ध तब तक नहीं होता था जब तक वे पूर्ण युवा नहीं हो जाते थे। विवाह होने के पश्चात् भी लड़की मायके में ही रहती थी। किशोर अमर को विवाह के बन्धन में बँधने पर भी उसके मन में किसी भी प्रकार का आकर्षण नहीं था। उसका अन्तर्मानस उस बन्धन से मुक्त होने के लिए छटपटा रहा था। किन्तु माता-पिता की अनुमति के बिना वे संयम साधना के महामार्ग पर नहीं बढ़ सकते थे। उन्होंने माता-पिता से निवेदन किया, किन्तु माता-पिता धर्म-प्रेमी होने पर भी पुत्र को मोह के कारण श्रामणी जीवन में देखना नहीं चाहते थे। उन्होंने कहा—पुत्र, कुछ समय तक तुम रुको। अतः माता-पिता के आग्रह को सम्मान देकर वे गृहस्थाश्रम में रहे। किन्तु उनका मन विषय-भोगों से उसी तरह उपरत था जैसे कीचड़ में कमल। इक्कीस वर्ष की पूर्ण युवावस्था में उन्होंने अपनी पत्नी को विषय-भोगों की निस्सारता और ब्रह्मचर्य की महत्ता समझाकर अ-ब्रह्मचर्य का त्याग करा दिया। वे अपने निश्चय पर चट्टान की तरह दृढ़ थे। माता की ममता, पिता का स्नेह और पत्नी का उफनता हुआ मादक प्यार उन्हें अपने ध्येय से नहीं डिगा सका। एक दिन अवसर पाकर अपने मन की बात आचार्यप्रवर लालचन्दजी महाराज से कही—गुरुदेव, क्या आप मुझे अपने श्रीचरणों में शिष्य रूप में स्वीकार कर सकते हैं? गुरु ने शिष्य की योग्यता देखकर कहा—वत्स! मैं तुम्हें स्वीकार कर सकता हूँ, किन्तु माता-पिता और पत्नी की आज्ञा प्राप्त करनी होगी। उनसे अनुमति प्राप्त करना तुम्हारा काम है। गुरु की स्वीकृति प्राप्त करके अमरसिंह बहुत प्रसन्न हुए।

राही को राह मिल ही जाती है, यह सम्भव है देर-सबेर हो सकती है, किन्तु राह न मिले यह कभी सम्भव नहीं। अमरसिंह ने माता-पिता और पत्नी से स्पष्ट शब्दों में कहा कि मैं अब संसार में नहीं रहूँगा। मुझे साधु बनना है। माता ने आँसू बहाकर उसके वैराग्य को भुलाना चाहा। पिता ने

भी कहा—पुत्र, तुम्हीं मेरी वृद्धावस्था के आधार हो, मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो ? पत्नी ने भी अपने मोह-पाश में बाँधने का प्रयास किया। किन्तु दृढ़ मनोबली अमरसिंह ने सभी को समझाकर आज्ञा प्राप्त कर ली और भरपूर युवावस्था में संवत् १७४१ में चैत्र कृष्णा दशमी को भागवती दीक्षा ग्रहण की। अब वे अमरसिंह से अमरसिंह मुनि हो गये।

अमरसिंह मुनि ने दीक्षा ग्रहण करते ही संयम और तप की साधना प्रारम्भ की। वे सदा जागरूक रहा करते थे, प्रतिपल-प्रतिक्षण संयम साधना का ध्यान रखते थे। विवेक से चलते, विवेक से उठते, विवेक से बैठते, विवेक से बोलते, प्रत्येक कार्य वे विवेक के प्रकाश में करते। संयम के साथ तप और जप की साधना करते, जैन आगम साहित्य का उन्होंने गहन अध्ययन किया। अपनी पैनी बुद्धि से, प्रखर प्रतिभा से और तर्कपूर्ण मेधाशक्ति से अल्प काल में ही आगम के साथ दर्शन, न्याय, व्याकरण, साहित्य का विशेष अध्ययन किया।

तप, संयम के साथ विशेष अध्ययन में परिपक्व होकर आचार्य श्री लालचन्दजी महाराज की आज्ञा से आपने धर्मप्रचार का कार्य आरम्भ किया। अपनी विमल-ज्ञान राशि को पंजाब और उत्तर प्रदेश के जन जीवन में महा-मेघ के समान हजार-हजार धाराओं में बरसाकर बिखेर दिया। अनेक स्थलों पर बलि-प्रथा के रूप में पशुहत्या प्रचलित थी, उसे बन्द करवाया। अन्ध-विश्वास और अज्ञानता के आधार पर फैले हुए वेश्यानृत्य, मृत्युभोज और जातिवाद का आपने दृढ़ता से उन्मूलन किया। श्रमणसंघ व श्रावकसंघ में आये हुए शिथिलाचार और भ्रष्टाचार पर आप केसरी सिंह की तरह झपटते थे। आपकी वाणी में ओज था, सत्य का तेज था और विवेक का विशुद्ध प्रकाश था। अतः जिस विषय पर आपश्री बोलते, साधिकार बोलते और सफलता देवी आपके चरण चूमने के लिए सदा लालायित रहती थी। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, उर्दू, अरबी, फारसी इन छह भाषाओं पर आपने पूर्ण अधि-कार प्राप्त कर लिया था और आप साधिकार छह भाषाओं में लेखन, भाषण कर सकते थे। आपने अनेक साधु-साध्वियों, श्रावक और श्राविकाओं को शास्त्रों का अध्यापन करवाया। आप मानवरूप में साक्षात् बहती हुई ज्ञान-गंगा थे। जिधर भी वह ज्ञानगंगा प्रवाहित हुई उधर अध्ययन, मनन-चिन्तन के सूखे और उजड़े हुए खेत हरे-भरे हो गये।

अमरसिंहजी महाराज का आगम और दर्शनशास्त्र का ज्ञान बहुत ही गम्भीर था। आपके सम्बन्ध में लिखी हुई अनेक अनुश्रुतियाँ मुझे प्राचीन पत्रों में मिली हैं। एक बार आपश्री जम्मू में विराज रहे थे। श्रावक समुदाय

आपके सन्निकट बैठा हुआ चर्चा कर रहा था। उस समय कुछ बहनें सुमधुर गीत गाती हुई जा रही थीं। अमरसिंहजी महाराज कुछ समय तक रुक गये। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने बताया गाने वाली बहनों में एक बहन जिसका स्वर इस प्रकार का था उसका रंग श्याम है उसकी उम्र पचीस वर्ष की है और वह एक आँख से कानी है। महाराजश्री ने उस बहन को देखा नहीं था और न वह पूर्व परिचिता ही थी। अन्य बहनों के सम्बन्ध में भी उन्होंने वय, रंग और उम्र बतायी। लोगों को बहुत ही आश्चर्य हुआ। उन्होंने शीघ्र ही जाकर जाँच की तो उन्हें सत्य तथ्य का परिज्ञान हो गया। श्रावकों ने पूछा—गुरुदेव, आपको कैसे पता लगा ? आपश्री ने फरमाया स्थानाङ्ग, अनुयोगद्वार आदि आगम साहित्य में स्वरों का निरूपण है, उसी के आधार पर मैंने कहा है। उन्होंने केवल शास्त्र पढ़े ही नहीं थे किन्तु उन शास्त्रों को हृदयंगम भी किया था।

एक बार आपश्री लुधियाना विराज रहे थे। उस समय एक सज्जन घबराते हुए आये कि गुरुदेव शीघ्र ही मांगलिक फरमा दीजिये। मुझे आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाना है। विलम्ब हो गया है। मुनि अमरसिंहजी ने कहा—क्यों शीघ्रता करते हो, एक सामायिक कर लो। किन्तु श्रावक के मन में दृढ़ता कहाँ थी ? उसने आपश्री के कथन की उपेक्षा की और बिना मांगलिक सुने ही चल दिया। मार्ग में सिपाहियों ने उसे पकड़ लिया और हथकड़ियाँ डालकर कारागृह में बन्द कर दिया। जब वह न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया गया तब न्यायाधीश ने कहा—मैंने इन सेठजी को नहीं किन्तु इनका नामराशि जो स्वर्णकार है उसे बुलाया था। तुमने व्यर्थ ही सेठजी को परेशान किया। क्षमायाचना कर सेठजी को विदा किया गया। तब सेठजी को ध्यान आया कि महाराजश्री की आज्ञा की अवहेलना करने का क्या परिणाम होता है।

एक बार आपश्री पटियाला विराज रहे थे। पटियाला सिखों का प्रमुख केन्द्र था। आपके प्रवचन में कुछ सिख सरदार प्रतिदिन आया करते थे। मध्याह्न के समय एक सिख सरदार आया। उसकी आँखों से आँसू टपक रहे थे। चेहरा उदास था। आपश्री ने उसकी उदासी का कारण पूछा। उसने कहा—गुरुजी ! मेरे एक ही लड़का है। रात को वह बिल्कुल ठीक सोया था, पता नहीं उसकी नेत्र ज्योति कैसे गायब हो गयी। उसे कुछ भी नहीं दीखता है। अभी तो वह बच्चा ही है। मैंने हकीमों और वैद्यों को आँख बतायी। उन्होंने कहा कि अब रोशनी नहीं आ सकती। यह कहकर उसकी आँखें डबडबा गयीं, गला भर आया। महाराजश्री ने कहा—बताओ,

तुम्हारा लड़का कहाँ है ? सरदार ने कहा—गुरुदेव ! मैं अभी जाकर उसे ले के आता हूँ। गुरुदेवश्री ने बच्चे को मंगल पाठ सुनाया कि लड़का पहले से भी अधिक स्पष्ट रूप से देखने लगा। सरदार जी चरणों में गिर पड़े, और उनकी हृत्तन्त्री के तार झनझना उठे—अमरसिंहजी महाराज देवता ही नहीं, साक्षात् भगवान हैं।

एक बार अमरसिंहजी महाराज रोहतक विराज रहे थे। उस समय एक युवक आया। वह पारिवारिक संक्लेशों से संत्रस्त था। वह आत्महत्या करने का संकल्प लेकर ही घर से चला था। किन्तु आपश्री के मधुर वार्तालाप से वह इतना अधिक प्रभावित हुआ कि सदा के लिए उसने क्रोध का परित्याग कर दिया। उसका पारिवारिक जीवन जो विषम था, जिसमें रात-दिन क्रोध की चिनगारियाँ उछलती रहती थीं, आपश्री के सत्संग से उस परिवार में स्नेह की सरस सरिता प्रवाहित होने लगी। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ आपके पंजाब प्रवास के समय की मिलती हैं जो विस्तारभय से यहाँ नहीं लिखी जा रही हैं।

अमरसिंहजी महाराज प्रकाण्ड पण्डित, प्रभावक, प्रवचनकार और यशस्वी साधक थे। आपश्री को जैन-अजैन जनता में सर्वत्र एक दिव्य महापुरुष जैसा सत्कार, सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त होती थी तथापि आपश्री के अन्तर्मानस में गुरुवर्य के प्रति अटूट श्रद्धा व भक्ति थी। उनके लिए आचार्य लालचन्दजी महाराज एक व्यक्ति नहीं किन्तु आदर्श थे। वे उनके प्रति समर्पित थे। समर्पण विनिमय के लिए नहीं होता, किन्तु जहाँ पर समर्पण होता है वहाँ विनिमय स्वतः ही हो जाता है। आचार्य लालचन्दजी महाराज के मन में अमरसिंह मुनिजी के प्रति पूर्ण विश्वास था। एक दिन किसी सन्त ने आचार्य लालचन्दजी महाराज से कहा कि अमरसिंहजी प्रतिलेखना सम्यक् प्रकार से नहीं करते हैं। आचार्य लालचन्दजी महाराज ने बिना अमरसिंहजी को पूछे ही दृढ़ता के साथ कहा कि वह तुम्हारे से श्रेष्ठ करता है। विश्वास उसी का नाम है जिसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं होता।

अमरसिंहजी मुनि प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, स्वाध्याय, आदि आचार्य लालचन्दजी महाराज के पास बैठ करके ही करते थे, अतः वे अमरसिंह मुनि की चर्या से पर्याप्त रूप से परिचित थे। उनके प्रति उनका आत्मीय भाव दिन प्रतिदिन बढ़ रहा था। उनकी कृपा उन पर अत्यधिक थी।

मुनि अमरसिंहजी जितने महान् थे उतने ही विनम्र भी थे। आप पुष्पित फलित विराट वृक्ष के समान ज्यों-ज्यों यशस्वी, महान् और प्रख्यात

हुए त्यों-त्यों अधिक विनम्र होते गये। गुरुजनों के प्रति ही नहीं, लघुजनों के प्रति भी आपके हृदय में अपार प्रेम था। जब कभी भी लघु श्रमण भी रुग्ण होते तब आपश्री उनकी स्नेह से सेवा करते थे। अहंकार और ममकार के दुर्गुणों से आप कोसों दूर थे। आपश्री सद्गुरुदेव के साथ ही पंजाब के विविध अंचलों में परिभ्रमण कर धर्म की प्रबल प्रभावना करते रहे। हजारों व्यक्ति आपके उपदेशों से प्रभावित होकर श्रावक बने और सम्यक्त्वरत्न को प्राप्त किया। बीस व्यक्तियों ने आर्हती दीक्षा ग्रहण कर आपका शिष्यत्व स्वीकार किया।

संवत् १७६१ में आचार्य श्री लालचन्दजी महाराज का चातुर्मास अमृतसर में था। आचार्यश्री का स्वास्थ्य अस्वस्थ रहने लगा। उनके मन में स्वास्थ्य पूर्ण रूप से ठीक होने की सम्भावना क्षीण हो गई। उन्होंने उसी समय चतुर्विध संघ को बुलाकर उल्लास के क्षणों में अमरसिंह मुनि को युवाचार्य पद प्रदान किया। सभी ने आचार्यश्री की अनूठी सूझ-बूझ की प्रशंसा की। आचार्यश्री ने आलोचना व संथारा ग्रहण किया।

जैन साधना में समाधिपूर्ण जीवन का जितना महत्व है उससे भी अधिक महत्व समाधिपूर्ण मृत्यु का है। समाधिपूर्ण मृत्यु को वरण करने वाले साधक को पूर्ण शान्ति और समाधि प्राप्त करनी होती है। आचार्यश्री ने सभी के साथ खमत-खामणा किये और कातिक कृष्णा अमावस्या के दिन पन्द्रह दिन के संथारे के पश्चात् स्वर्गवासी हुए।

संघ ने युवाचार्य श्री अमरसिंहजी महाराज से सनम्र प्रार्थना की कि आपश्री आचार्य पद पर आसीन होकर हमें सनाथ करें। स्थान-स्थान से शिष्ट मण्डल अमृतसर पहुँचे और सभी ने अपने यहाँ आचार्य पद महोत्सव मनाने की प्रार्थना की। अन्त में देहली संघ की प्रार्थना को स्वीकार किया गया और आपश्री शिष्य समुदाय व सन्तों को लेकर देहली पधारे। संवत् १७६२ में चैत्र शुक्ला पंचमी के दिन देहली में आचार्य पद महोत्सव मनाया गया। 'आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज की जय' के सुमधुर घोष से वायुमण्डल गूंज उठा। समूचा संघ हर्ष से पुलकित हो उठा। आपश्री जैसे अनासक्त कर्मठ आचार्य को पाकर संघ धन्य हो गया।

आचार्यश्री अमरसिंहजी ने देहली संघ की प्रार्थना को सम्मान देकर देहली में इस वर्ष वर्षावास सम्पन्न किया, धर्म की अत्यधिक प्रभावना हुई। उसके पश्चात् पुनः आपश्री पंजाब संघ की प्रार्थना को संलक्ष्य में रखकर पंजाब पधारे और चार चातुर्मास पंजाब में करके पुनः संवत् १७६७ में देहली

में चातुर्मासार्थ पधारे। पूज्यश्री का तेज प्रतिदिन बढ़ रहा था। उनके प्रवचनों में चम्बकीय आकर्षण था।

चीनी भाषा के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ ताओ उपनिषद् में लिखा है कि हृदय से निकले हुए शब्द लच्छेदार नहीं होते और लच्छेदार शब्द कभी विश्वास योग्य नहीं होते। जो वाणी हृदय की गहराई से निकलती है उसमें स्वाभाविकता होती है और सहजता होती है। जैसे कुएँ की गहराई से निकलने वाला पानी शीतल, निर्मल और ताजा होता है वैसे ही सहज वाणी भी प्रभावशाली होती है। जो उपदेश आत्मा से प्रस्फुटित होता है वह आत्मा का स्पर्श करता है, किन्तु जो जीभ से निकलता है उसमें चिन्तन, भावना और आचार का बल न होने से वह हृदय को स्पर्श नहीं कर सकता। हृदय से निकली हुई बात में बकवास नहीं होता किन्तु तीर-सी वेधकता होती है। आचार्य संघदासगणी ने अपने बृहत्कल्पभाष्य में लिखा है कि गुणवान व्यक्ति का वचन घृतसिंचित अग्नि की तरह तेजस्वी और पथ-प्रदर्शक होता है, किन्तु गुणहीन व्यक्ति का वचन स्नेहरहित दीपक की तरह निस्तेज और अन्धकार से परिपूर्ण होता है। आचार्यश्री अमरसिंह जी महाराज के प्रवचनों में जीवन का गहरा चिन्तन था, मनन था, साथ ही अनुभवों का सुदृढ़ पृष्ठबल था। नदी की निर्मल धारा की तरह उसमें गति थी, प्रगति थी और जाज्वल्यमान अग्नि की तरह उसमें आचार और विचार का तेज था। उनके प्रवचनों में बासीपन नहीं, किन्तु विचारों, भावों और भाषा में ताजगी थी। यही कारण है कि जातिवाद, पंथवाद और सम्प्रदायवाद को भूलकर हजारों की संख्या में हिन्दु-मुसलमान, सिख और जैनी प्रवचन-सभाओं में उपस्थित होते थे और आचार्यश्री के पावन प्रवचनों को सुनकर झूमने लगते थे। आचार्यश्री के प्रवचनों की धूम से देहली गूंज रही थी।

उस समय हिन्दुस्तान के बादशाह थे शाहनशाह बहादुरशाह।[1] वे दक्षिण से अजमेर आये थे। बादशाह से किसी विशिष्ट कार्य के लिए मिलने हेतु जोधपुर के महामन्त्री खींवसी जी भण्डारी अजमेर आये और शहजादा अजीम के मारफत सन् १७६७ में बादशाह से मुलाकात की। बादशाह भण्डारी जी को लेकर अजमेर से लाहौर होते हुए देहली पहुँचे। उस समय

---

१ बहादुरशाह (१७०७-१२) औरंगजेब की मृत्यु के बाद उसका पुत्र बहादुरशाह गद्दी पर बैठा। बूढ़ा बहादुरशाह उदार हृदय और क्षमाशील मनुष्य था। इसलिए कभी-कभी इतिहासकार उसे शाह ए-बेखबर कहा करते हैं।

—भारतवर्ष का इतिहास

आचार्यप्रवर अमरसिंहजी महाराज के प्रवचन-कला की प्रशंसा भण्डारी खींवसी जी ने सुनी। वे पूज्यश्री के प्रवचन श्रवण हेतु पहुँचे। पूज्यश्री के प्रभावोत्पादक प्रवचनों को सुनकर खींवसी जी अत्यधिक प्रभावित हुए।[1] उन्होंने श्रावक धर्म ग्रहण किया। वे प्रतिदिन नियमित रूप से प्रवचन श्रवण करने के लिए उपस्थित होते। विविध विषयों पर आचार्यप्रवर से विचार-चर्चा भी करते।

बादशाह बहादुरशाह की अनेक लड़कियां थीं। एक कन्या जो अविवाहिता थी, वह गर्भवती हो गयी। जब बादशाह को यह सूचना प्राप्त हुई तब वे क्रोध से आग-बबूला हो उठे। उनकी आँखें क्रोध से अंगारे की तरह लाल हो गयीं। उन्होंने कहा—यह लड़की कुल को कलंक लगाने वाली है। शाही कुल में इस प्रकार की लड़कियों की आवश्यकता नहीं, मैं ऐसी लड़कियों का मुँह देखना भी पाप समझता हूँ। अतः इसे नंगी तलवार के झटके से खतम कर दो ताकि अन्य को भी ज्ञात हो सके कि दुराचार का सेवन कितना भयावह है। भण्डारी खींवसी ने जब बादशाह की यह आज्ञा सुनी तो वे काँप उठे। उन्होंने बादशाह से निवेदन किया—हुजूर, पहले

---

१ जिन व्यक्तियों से मारवाड़ का इतिहास गौरवान्वित हुआ है उन व्यक्तियों में भण्डारी खींवसी जी का स्थान मूर्धन्य है। वे सफल राजनीतिज्ञ थे। तत्कालीन मुगल सम्राट पर भी उनका अच्छा-खासा प्रभाव था। उस समय राजनीति संक्रान्ति के काल में गुजर रही थी। सम्राट औरंगजेब का निधन हो चुका था और उसके वंशजों के निर्बल हाथ शासन नीति को संचालन करने में असमर्थ सिद्ध हो रहे थे। चारों ओर राजनीति के क्षेत्र में विषम स्थिति थी। उस समय जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह जी के प्रधानमन्त्री खींवसी भण्डारी थे। जब भी जोधपुर राज्य के सम्बन्ध में कोई भी प्रश्न उपस्थित होता तब वे बादशाह की सेवा में उपस्थित होकर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा से गम्भीर समस्याओं का समाधान कर देते थे। शाहजादा मुहम्मद शाह को राज्यासीन कराने में भी उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी ऐसा फारसी तवारीखों से भी स्पष्ट होता है।

भण्डारी खींवसीजी सत्यप्रिय, निर्भीक वक्ता और स्वामीजी के परम भक्त थे। धर्म के प्रति भी उनकी स्वाभाविक अभिरुचि थी। वे वि० सं० १७६६ में जोधपुर के दीवान बने और सं० १७७२ में वे सर्वोच्च प्रधान बने। फिर महाराजा अजीतसिंह के साथ मतभेद होने से उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। महाराजा अजीतसिंह के पुत्र महाराज अभयसिंह के राज्यगद्दी पर बैठने पर वे पुनः सं० १७८१ में सर्वोच्च प्रधान बने और सं० १७८२ में मेड़ता में उनका देहान्त हुआ।

गहराई से जाँच कीजिए, फिर इन्साफ कीजिए। किन्तु आवेश के कारण बादशाह ने एक भी बात न सुनी। खींवसी जी गिड़गिड़ाते रहे कि मनुष्य मात्र भूल का पात्र है, उसे एक बार क्षमा कर आप विराट् हृदय का परिचय दीजिए, किन्तु बादशाह किसी भी स्थिति में अपने हुक्म को पुनः वापिस लेना नहीं चाहता था। खींवसीजी भण्डारी कन्या को मौत के घाट उतारने की कल्पना से सिहर उठे। मनःशान्ति के लिए वे आचार्यश्री के पास पहुँचे। आचार्यश्री ने उनके उदास और खिन्न चेहरे को देखकर पूछा—भण्डारीजी ! आज आपका मुखकमल मुरझाया हुआ क्यों है ? आप जब भी मेरे पास आते हैं उस समय आपका चेहरा गुलाब के फूल की तरह खिला रहता है। भण्डारीजी अति गोपनीय राजकीय बात को आचार्यश्री से निवेदन करना नहीं चाहते थे। उन्होंने बात को टालने की दृष्टि से कहा—गुरुदेव ! शासन की गोपनीय बातें हैं। आपसे कैसे निवेदन करूँ ? कई समस्याएँ आती हैं, जब उनका समाधान नहीं होता है तो मन जरा खिन्न हो जाता है।

आचार्यश्री ने एक क्षण चिन्तन किया और मुस्कराते हुए कहा—भण्डारीजी, आप भले ही मेरे से बात छिपायें, किन्तु मैं आपके अन्तर्मन की व्यथा समझ गया हूँ। बादशाह की क्वारी पुत्री को जो गर्भ रहा है और उसे मरवाने के लिए बादशाह ने आज्ञा प्रदान की है, उसी के कारण आपका मन म्लान है। क्या मेरा कथन सत्य है न ?

मेरे मन की बात आचार्यश्री कैसे जान गये यह बात भण्डारी जी के मन में आश्चर्य पैदा कर रही थी। उन्होंने निवेदन किया—भगवन्, आपको मेरे मन की बात का परिज्ञान कैसे हुआ ? आप तो अन्तर्यामी हैं। कृपा कर यह बताइये कि उस बालिका के प्राण किस प्रकार बच सकते हैं ?

आचार्यप्रवर ने कहा—भण्डारी जी, स्थानाङ्गसूत्र में[1] स्त्री पुरुष का

---

१ पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धि असंवसमाणीवि गब्भं धरेज्जा। तं जहा—

१ इत्थी दुव्वियडा दुण्णिसण्णा सुक्कपोग्गले अधिट्ठिज्जा।

२ सुक्कपोग्गलसंसिट्ठे व से वत्थे अन्तोजोणीए अणुपवेसेज्जा।

३ सइं वा से सुक्कपोग्गले अणुपवेसेज्जा।

४ परो वा से सुक्कपोग्गले अणुपवेसेज्जा।

५ सीओदगवियडेणं वा से आयममाणीए सुक्कपोग्गला अणुपवेसेज्जा—इच्चेतेहिं पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेणं सद्धि असंवसमाणीवि गब्भं धरेज्जा।

—स्थानाङ्ग, स्थान ५, सूत्र ४१६

सहवास न करती हुई भी वह पांच कारणों से गर्भ धारण करती है, ऐसा उल्लेख है। वे कारण हैं—

(१) अनावृत तथा दुर्निषण्ण—पुरुष वीर्य से संसृष्ट स्थान को गुह्य प्रदेश से आक्रान्त कर बैठी हुई स्त्री के योनि-देश में शुक्र-पुद्गलों का आकर्षण होने पर,

(२) शुक्र-पुद्गलों से संसृष्ट वस्त्र के योनि-देश में अनुप्रविष्ट हो जाने पर,

(३) पुत्रार्थिनी होकर स्वयं अपने ही हाथों से शुक्र-पुद्गलों को योनि-देश में अनुप्रविष्ट कर देने पर,

(४) दूसरों के द्वारा शुक्र-पुद्गलों के योनि-देश में अनुप्रविष्ट किये जाने पर,

(५) नदी, तालाब आदि में स्नान करती हुई स्त्री के योनि-देश में शुक्र-पुद्गलों के अनुप्रविष्ट हो जाने पर।

इन पांच कारणों से स्त्री पुरुष का सहवास न करती हुई भी गर्भ को धारण कर सकती है।

सारांश यह है कि पुरुष के वीर्य-पुद्गलों का स्त्री-योनि में समाविष्ट होने से गर्भ धारण करने की बात कही गयी है। बिना वीर्य पुद्गलों के गर्भ धारण नहीं हो सकता। आधुनिक युग में कृत्रिम गर्भाधान की जो प्रणाली प्रचलित है इसके साथ इसकी तुलना की जा सकती है। सांड या पाड़े के वीर्य पुद्गलों को निकालकर रासायनिक विधि से सुरक्षित रखते हैं या गाय और भैंस की योनि से उसके शरीर में वे पुद्गल प्रवेश कराये जाते हैं और गर्भकाल पूर्ण होने पर उनके बच्चे उत्पन्न होते हैं। अमेरिका में 'टेस्ट-ट्यूब बेबीज़' की शोध की गयी है। उसमें पुरुष के वीर्य-पुद्गलों को कांच की नली में उचित रसायनों के साथ रखा जाता है और उससे महिलाएँ कृत्रिम गर्भधारण करती हैं।

आगम साहित्य में जहां पर स्त्रियां बैठी हों उस स्थान पर मुनि को और जहां पर पुरुष बैठे हों उस स्थान पर साध्वी को एक अन्तर्मुहूर्त तक नहीं बैठना चाहिए, जो उल्लेख है वह प्रस्तुत सूत्र के प्रथम कारण को लेकर ही है। इन पांच कारणों में कृत्रिम गर्भाधान का उल्लेख किया गया है। किसी विशिष्ट प्रणाली द्वारा शुक्र पुद्गलों का योनि में प्रवेश होने पर गर्भ की स्थिति बनती है जिसे आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी सिद्ध कर दिया है।

सुश्रुत संहिता में लिखा है[१] कि जिस समय अत्यन्त कामातुर हुई दो महिलाएँ परस्पर संयोग करती हैं, उस समय परस्पर एक दूसरे की योनि में रज: प्रवेश करता है तब अस्थिरहित गर्भ समुत्पन्न होता है। जब ऋतु-स्नान की हुई महिला स्वप्न में मैथुन क्रिया करती है तब वायु आर्तव को लेकर गर्भाशय में गर्भ उत्पन्न होता है और वह गर्भ प्रति मास बढ़ता रहता है तथा पैतृक गुण (हड्डी, मज्जा, केश, नख आदि) रहित मांस पिण्ड उत्पन्न होता है।

तन्दुल वैचारिक प्रकरण में गर्भ के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण किया गया है और कहा गया है जब स्त्री के ओज का संयोग होता है तब केवल आकाररहित मांसपिण्ड उत्पन्न होता है। स्थानांग[२] के चौथे ठाणे में भी यह बात आयी है।

आचार्यश्री ने प्रमाण देकर यह सिद्ध किया कि बिना पुरुष के सहवास के भी रजोवती नारी कुछ कारणों से गर्भ धारण कर सकती है। बादशाह की पुत्री ने जो गर्भ धारण किया है, वह बिना पुरुष के संयोग के किया है—ऐसा मेरा आत्मविश्वास कहता है। तुम बादशाह से कहकर उसके प्राण बचाने का प्रयास करो। यह सुनकर दीवान जी को अत्यधिक आश्चर्य हुआ। उनका मन-मयूर नाच उठा कि अब मैं बादशाह को समझाकर कन्या के प्राण बचा सकूंगा। एक निरपराध कन्या के प्राणों की सुरक्षा हो सकेगी। उन्होंने आचार्यप्रवर को नमस्कार किया और मांगलिक श्रवण कर

---

१ यदा नार्य्यावुपेयातां, वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन।
मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनास्थिस्तत्र जायते ॥१॥
ऋतुस्नाता तु या नारी, स्वप्ने मैथुनमावहते।
आर्त्तवं वायुरादाय, कुक्षौ गर्भं करोति हि ॥२॥
मासि मासि विवर्धेत, गर्भिण्या गर्भलक्षणम्।
कललं जायते तस्याः वर्जितं पैतृकैःगुणैः ॥३॥ —सुश्रुत संहिता

२ चत्तारि मणुस्सी गब्भा पं० तं० इत्थित्ताए, पुरिसत्ताए, णपुंसगत्ताए बिंबत्ताए।
अप्पसुक्कं बहुओयं, इत्थी तत्थप्पजायइ।
अप्पओयं बहुसुक्कं पुरिसो तत्थ जायइ॥
दोण्हंपि रत्तसुक्काणं तुल्लभावे नपुंसओ।
इत्थीओतसएमोओगे, बिम्बं तत्थप्पजायई॥
'स्थानांग'—पृ० ५१२-५१३, आचार्य अमोलक ऋषि

वे बादशाह बहादुरशाह के पास पहुँचे। उन्होंने बादशाह से निवेदन किया—हुजूर, कन्या कभी-कभी बिना पुरुष संयोग के भी गर्भ धारण कर लेती है और आपकी सुपुत्री ने जो गर्भ धारण कर लिया है वह इसी प्रकार का है, ऐसा मुझे एक अध्यात्मयोगी संत ने अपने आत्मज्ञान से बताया है। और उसकी परीक्षा यही है—जब बच्चा होगा तब उसके बाल, नाखून, हड्डी आदि पैतृक अंग नहीं होंगे और पानी के बुलबुले की तरह कुछ ही क्षणों में वह नष्ट हो जायगा। अतः उस अध्यात्मयोगी की बात को स्वीकार कर उस समय तक जब तक कि बच्चा न हो जाय तब तक उसे न मारा जाय। दीवान खींवसीजी की अद्भुत बात को सुनकर बादशाह आश्चर्यचकित हो गया—अरे! यह नयी बात तो आज मैंने सर्वप्रथम सुनी है। उस फकीर के कथन की सत्यता जानने के लिए हम तब तक उस बाला को नहीं मरवाएँगे जब तक उसका बच्चा पैदा नहीं हो जाता है।

बादशाह ने कन्या के चारों तरफ कड़ा पहरा लगवा दिया ताकि वह कहीं भागकर न चली जाय। कुछ समय के पश्चात् बालिका के प्रसव हुआ। बादशाह और दीवान खींवसी उसे देखने के लिए पहुँचे। जैसा आचार्यप्रवर अमरसिंहजी महाराज ने कहा था वैसा ही पानी के बुलबुले की तरह पिण्ड को देखकर बादशाह विस्मय विमुग्ध हो गया। बादशाह और दीवान के देखते ही वह बुलबुला नष्ट हो गया। बादशाह ने दीवान की पीठ थपथपाते हुए कहा—अरे, बता ऐसा कौन योगी है, औलिया है जो इस प्रकार की बात बताता है? लगता है, वह खुदा का सच्चा बन्दा है।

दीवानजी ने नम्रता के साथ निवेदन किया कि देहली में ही वर्षावास हेतु विराजे हुए ज्योतिर्धर जैनाचार्य पूज्य श्री अमरसिंहजी महाराज हैं जो बहुत ही प्रभावशाली हैं और महान् योगी हैं। उन्होंने ही मुझे यह बात बताई थी। आप चाहें तो उनके पास चल सकते हैं। बादशाह अपने सामन्तों के साथ आचार्यश्री के दर्शनार्थ पहुँचा। आचार्यप्रवर ने अहिंसा का महत्त्वपूर्ण विश्लेषण करते हुए कहा—जैनधर्म में अहिंसा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहाँ पर किसी भी प्राणी की हिंसा करना निषेध किया गया है। वैदिक और बौद्धधर्म में भी अहिंसा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इस्लाम धर्म में भी अहिंसा का गहरा महत्त्व है। इस धर्म में ईश्वर में विश्वास रखने, धर्म पन्थ प्रवर्तकों के विचारों पर आस्था रखने, गरीब और कमजोरों पर दयाभाव दिखाने की शिक्षा प्रदान की गई है। इस धर्म में गाली (abuse), क्रोध (anger), लोभ (avarice), चुगली खाना (back biting), खून-खराबी

(blood-shedding), रिश्वत लेना (bribery), झूठा अभियोग (calumny), बेईमानी (di-honesty), मदिरापान (drinking), ईर्ष्या (envy), चापलूसी (flattery), लालच (greed), पाखण्ड (hypocrisy), असत्य (lying), कृपणता (miserliness), अभिमान (pride), कलङ्क (slandering), आत्महत्या (suicide), अधिक ब्याज लेना (usury), हिंसा (violence), उच्छृंखलता (wickedness), युद्ध (warfare), हानिप्रद कर्म (wrong doings), आदि को हमेशा ही त्याज्य समझा है और ठीक इसके विपरीत भाईचारा (brotherhood), दान (charity), स्वच्छता (cleanliness), ब्रह्मचर्य (chastity), क्षमा (forgiveness), मैत्री (friendship), कृतज्ञता (gratitude), विनम्रता (humility), न्याय (justice), दया (kindness), श्रम (labour), उदारता (liberality), प्रेम (love), कृपा (mercy), संयम (moderation), सुशीलता (modesty), पड़ोसीपन का भाव (neighbourliness), हृदय की शुद्धता (purity of heart), सदाचार (righteousness), धैर्य (steadfastness), सत्य (truth), विश्वास (trust) को ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है।[1]

इससे स्पष्ट है कि इस्लाम परम्परा में भी उन तत्त्वों की अवहेलना की गयी है जिससे हिंसा की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। कुरान के प्रारम्भ में ही खुदा को उदार, दयावान कहकर सम्बोधित किया है।[2] यहाँ तक कि पशुओं को कम भोजन देना, उन पर चढ़ना, सामान लादना आदि का भी इस्लामधर्म में निषेध किया गया है। वह वृक्षों को काटने के लिए भी नहीं कहता।[3]

इस्लामधर्म में कहा है—खुदा सारे जगत् (खल्क) का पिता है, जगत् में जितने भी प्राणी हैं, वे खुदा के पुत्र (बन्दे) हैं। कुरान शरीफ सुरा उलमायाद सियारा मंजिल तीन आयत तीन में लिखा है—मक्का शरीफ की हद में कोई भी जानवर न मारे, यदि भूल से मार ले तो अपने घर के जो पालतू जानवर हैं उसे वहाँ पर छोड़ दें। मक्का शरीफ की यात्रा को जाये तब से लेकर पुनः लौटने तक रोजा रखा जाय और गोश्त का इस्तेमाल न किया

---

१ Glimpses of World Religion–Charles Dickens, Jaico Publishing House, Bombay, pp. 201, 202-203.

२ "बिस्मिल्लाह रहमानुर्रहीम"— कुरान १-१।

३ Towards Understanding Islam–Sayyid Abulatt'la Mamdudi, pp. १८६-१८७।

जाय। आगे चलकर सुरे अनयाम आयत १४२ में लिखा है कि सब्जी और अन्न को ही खाया जाय किन्तु गोश्त को नहीं—

"बमिल अनआमें हमूल तम्बू बफसद कुलुमिमा रजक कुमुल्ला हो।"

हजरत मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी हजरत अली साहब ने[1] कहा है—हे मानव ! तू पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट में मत बना अर्थात् पशु-पक्षियों को मारकर उनका भोजन मत कर। इसी तरह दीन-ए-इलाही के प्रवर्तक बादशाह अकबर ने भी कहा है—मैं अपने पेट को दूसरे जीवों का कब्रिस्तान बनाना नहीं चाहता। जिसने किसी की जान बचायी तो मानो वह सारे इनसानों को जान बख्शी।[2]

विश्व के समस्त धर्मों ने अहिंसा को स्वीकार किया है। वह धर्म का मूल आधार है। संसार में चारों ओर दुःख की जो ज्वालाएँ उठ रही हैं उसका मूल कारण हिंसक भावना है। अहिंसा भगवती है। भगवान महावीर ने कहा है जिसे तू मारना चाहता है वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है। अतः अहिंसा के मर्म को समझा जाय। इस प्रकार अहिंसा पर आचार्यप्रवर ने गम्भीर विश्लेषण किया जिसे सुनकर बादशाह ने कहा—योगी प्रवर ! मेरे योग्य सेवा हो तो फरमाइये। उत्तर में आचार्य श्री ने कहा हम जैन श्रमण हैं। अपने पास पैसा आदि नहीं रखते हैं और न किसी महिला का स्पर्श ही करते हैं। हम पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। यहाँ तक कि मुंह की गरम हवा से हवा के जीव न मर जायें इसलिए मुख पर मुखवस्त्रिका रखते हैं और रात्रि के अन्धकार में पैर के नीचे आकर कोई जन्तु खतम न हो जाय इसलिए रजोहरण रखते हैं। भारत के विविध अंचलों में पैदल घूमकर धर्म का प्रचार करते हैं। मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप किसी भी प्राणी को न मारें; गोश्त का उपयोग न करें—यही हमारी सबसे बड़ी सेवा होगी। बादशाह ने आचार्यश्री के आदेश को सहर्ष स्वीकार किया और नमस्कार कर अपने राजभवन में आ गया।

वर्षावास पूर्ण होने जा रहा था, आचार्यप्रवर के सम्पर्क से दीवान खींवसीजी का जीवन ही धर्म में रंग गया था। उनके अन्तर्मानस में यह विचार उद्बुद्ध हो रहे थे कि यदि आचार्यश्री जोधपुर पधारें तो धर्म की अत्यधिक प्रभावना हो सकती है। जोधपुर राज्य की जनता धर्म के मर्म को

---

१ "फला तज अलू बुतून मका बरक्क हय बतात।"

२ व मन अहया हा फकअन्नमा अह्यन्नास जमीअन्। —कुरान श. ५/३५

भूलकर अज्ञान अन्धकार में भटक रही है। चैतन्योपासना को छोड़कर जड़ोपासना में दीवानी बन रही है। दीवान खींवसी जी ने आचार्यप्रवर से निवेदन किया—भगवन्! कृपाकर आप एक बार जोधपुर पधारें। क्योंकि "न धर्मो धार्मिकैबिना।"

आचार्यश्री ने कुछ चिन्तन के पश्चात् कहा—दीवानजी, आपका कथन सत्य है; मारवाड़ में धर्म का प्रचार बहुत ही आवश्यक है। किन्तु साम्प्रदायिक भावना का इतना प्राबल्य है कि वहाँ पर सन्तों का पहुँचना खतरे से खाली नहीं है। जिस प्रकार बाज पक्षियों पर झपटता है उसी प्रकार धर्मान्ध लोग सच्चे साधुओं पर झपटते हैं। मैंने यहाँ तक सुना है कि सम्प्रदायवाद के दीवानों ने इस प्रकार के सिद्धान्त का निर्माण किया है कि "चार सवाया पाँच" अर्थात् मक्खी चतुरिन्द्रिय है और जैन साधु पंचेन्द्रिय हैं, उनको मारने में सवा मक्खी का पाप लगता है। इस प्रकार निकृष्ट कल्पना कर अनेकों साधुओं को मार दिया गया है। अतः ऐसे प्रदेश में विचरण करना खतरे से खाली नहीं है।

दीवान खींवसी जी विचार सागर में गोते लगाने लगे कि किस प्रकार आचार्यप्रवर को मारवाड़ में ले जाया जा सके। चिन्तन करते हुए उन्हें एक विचार आया। वे आचार्यप्रवर को नमस्कार कर बादशाह बहादुरशाह के पास पहुँचे और विनम्र निवेदन करते हुए कहा—जहाँपनाह! मैं आचार्यसम्राट श्री अमरसिंह जी महाराज को जोधपुर ले जाना चाहता हूँ। आपश्री जानते ही हैं जैन साधु किसी वाहन का उपयोग नहीं करते, वे पैदल चलते हैं। सम्प्रदायवाद के नशे में उन्मत्त बने हुए लोग इन साधुओं को भी अत्यधिक कष्ट देते हैं। उन्हें मार्ग में कोई कष्ट न हो, अतः आप शासन की ओर से ऐसा आज्ञा पत्र निकाल दें कि आचार्य अमरसिंह जी जो मारवाड़ में आ रहे हैं इन साधुओं को जो कष्ट देगा उनके साथ कड़क बर्ताव किया जायगा; खेत वाले का खेत, घर वाले का घर, गाँव वाले का गाँव और अधिकारियों का अधिकार छीन लिया जायगा। इस प्रकार बाईस ताम्रपत्रों पर आदेश लिखकर जोधपुर राज्य के बाईस परगनों में भिजवा दिए गये।

दीवान खींवसी जी प्रसन्नमुद्रा में आचार्य प्रवर के पास आये और उनसे सनम्र निवेदन किया—भगवन्! अब आप मारवाड़ में पधारें। आपको मारवाड़ में किसी भी प्रकार कष्ट नहीं होगा। मैंने शासन की ओर से आज्ञा पत्र सभी स्थानों पर भिजवा दिये हैं। आचार्यश्री ने दीवान खींवसी

जी भण्डारी की स्नेहपूर्ण प्रार्थना को स्वीकार किया और वर्षावास के पश्चात् आचार्यप्रवर ने देहली से मारवाड़ की ओर विहार किया। दीवानजी भी अपना कार्य पूर्ण कर चुके थे, अतः उन्होंने भी वहाँ से जोधपुर की ओर प्रस्थान कर दिया।

आचार्यश्री देहली से विहार करते हुए अलवर पधारे। कुछ समय तक अलवर में विराज कर धर्म की प्रभावना की और वहाँ से जयपुर पधारे। पूज्यश्री के जयपुर पधारने पर जयपुर की भावुक जनता प्रतिदिन हजारों की संख्या में प्रवचन सभा में उपस्थित होने लगी। पूज्यश्री ने अपने प्रवचन में अपरिग्रह का महत्व प्रतिपादन करते हुए कहा—जड़ वस्तुओं के अधिक संग्रह से मानव की आत्मा दब जाती है। उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। मानव चाहे जितने व्रत ग्रहण करे किन्तु संग्रहवृत्ति पर नियन्त्रण न रखे तो उसको सच्चे आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती। धर्मरूपी कल्पवृक्ष को परिग्रहवृत्ति जलाकर नष्ट कर देती है। चिन्ता-शोक को बढ़ाने वाला, तृष्णारूपी विषवल्लरी को सींचने वाला, कूट-कपट का भण्डार और क्लेश का घर परिग्रह है। परिग्रह का अर्थ है मन की ममता, व आसक्ति। जिनेश्वरदेव ने वस्तु के प्रति रहे ममत्व-भाव को परिग्रह कहा है—

"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।"[१]

विश्व के सभी प्राणियों के लिए परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल नहीं है।[२] इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं।[३] विश्व के पदार्थ ससीम हैं किन्तु इच्छाएं असीम हैं, अतः कामनाओं का अन्त करना ही दुःख का अन्त करना है।[४] प्रमत्तपुरुष धन के द्वारा न इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है न परलोक में।[५]

पूज्यश्री के अ-परिग्रह के विश्लेषण को सुनकर रंगलालजी पटवा जो बहुत ही गरीब थे, उन्होंने निवेदन किया—भगवन्, मुझे पाँच हजार से अधिक परिग्रह न रखना है, इसकी मर्यादा करवा दीजिए। आचार्यश्री ने रंगलाल जी के चेहरे की ओर देखकर कहा—नियम ग्रहण करने के पूर्व तुम्हें

---

१ दशवैकालिक ६/२०।

२ अत्थि एरिसो पडिबंधो। सव्व जीवाणं सव्वलोए। —प्रश्नव्याकरण १/५

३ इच्छा हु आगास समा अणंतिया। —उत्तराध्ययन ९/४८

४ कामे कमाही कमियं खु दुक्खं। —दशवैकालिक २/५

५ वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था। —प्रश्नव्याकरण १/५

यह अच्छी तरह से सोच लेना चाहिए कि नियम भंग न हो। बाद में विचार करने की स्थिति पैदा न हो।

रंगलाल जी पटवा ने निवेदन किया—भगवन्, मेरे पास पाँच सौ से अधिक पूँजी ही नहीं है। मेरी आर्थिक स्थिति बड़ी नाजुक है। बड़ी कठिनता से मैं अपने परिवार का भरण-पोषण करता हूँ तथापि तृष्णा के वशीभूत होकर पाँच हजार की मर्यादा करना चाहता हूँ। और आपश्री मुझे पुनः चिन्तन के लिए फरमा रहे हैं। आचार्यश्री ने कहा—क्या नीति की कहावत तुम्हें स्मरण नहीं है? "स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यम् देवो न जानाति कुतो मनुष्यः" अतः मैं जो कह रहा हूँ वह सोच-विचार कर कह रहा हूँ। रंगलालजी ने सोचा कि आचार्यप्रवर जो कुछ कह रहे हैं इसमें गम्भीर रहस्य होना चाहिए। उन्होंने बीस हजार की मर्यादा के लिए कहा तब भी आचार्यश्री ने वही बात दुहराई। रंगलालजी ने अन्त में पच्चीस लाख की मर्यादा की। आचार्यप्रवर ने कुछ दिनों तक जयपुर विराज कर किसनगढ़ की ओर प्रस्थान किया। किसनगढ़ से अजमेर होते हुए आचार्यश्री सोजत पधारे। सम्प्रदायवाद के अधिनायक यतिगण चिंतित हो गये कि यहाँ शुद्ध स्थानकवासी धर्म का प्रचार हो जायेगा तो हमारी दयनीय स्थिति बन जायगी। अतः उन्होंने अपने भक्तों को बुलाकर कहा कि कोई ऐसी व्यवस्था की जाय जिससे साँप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। यदि हम मारने का प्रयास करेंगे तो शासन की आज्ञा की अवहेलना होने से हमारी स्थिति विषम हो सकती है। अतः कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे हमें किसी भी प्रकार के कष्ट का सामना न करना पड़े। चिन्तन के पश्चात् यह नवनीत निकाला गया कि आने वाले आचार्यश्री को कोट के मुहल्ले में स्थित जो मसजिद है वहाँ पर ठहराया जाय क्योंकि वहाँ पर एक मुसलमान मरकर जिन्द हुआ है, वह रात्रि में किसी को उस मसजिद में रहने नहीं देता है। जो रात्रि में वहाँ रहते हैं वे स्वतः ही काल-कवलित हो जाते हैं।

यति-भक्तों ने आचार्यश्री को पूर्व योजनानुसार इस मसजिद में ठहरने के लिए आग्रह किया और कहा कि इस मकान के अतिरिक्त कोई अन्य मकान खाली नहीं है। आचार्यश्री वहाँ ठहर गये। आचार्यश्री का शिष्य समुदाय भी अत्यन्त विनम्र था जो उनके इंगित पर प्राण न्योछावर करने के लिए सदा तैयार रहता था। उनके चुम्बकीय आकर्षण से शिष्यों का हृदय उनके प्रति नत था। आचार्यश्री ने मकान की स्थिति को देखकर अपने सभी शिष्यों को सूचित किया कि वे घबराये नहीं। परीक्षा सोने की होती

है, उसे आग में डाला जाता है, तभी उसमें अधिक चमक और दमक आती है। हीरे को सान पर ज्यों-ज्यों घिसा जाता है त्यों-त्यों वह चमकता है। मिट्टी के ढेले को जमीन पर डाला जाय तो वह उछलता नहीं, किन्तु गेंद जमीन पर नीचे डालते ही वह और अधिक तेज उछलती है। जिनके जीवन में तेज नहीं होता वे मिट्टी के ढेले की तरह होते हैं। परन्तु जिनमें तेज होता है वे गेंद की तरह प्रगति करते हैं। अतः तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं है, कष्ट तुम्हारे जीवन को निखारने के लिए है। उनका हँसते और मुसकराते हुए मुकाबला करना है। सभी शिष्यों ने आचार्यश्री के उद्बोधक संदेश को सुना और उनमें दुगुना उत्साह संचरित हो गया।

रात्रि का गहन अन्धेरा मँडराने लगा। जिन्द ने अपने स्थान पर विचित्र व्यक्तियों को ठहरे हुए देखा तो क्रोध से उन्मत्त होकर विविध उपसर्ग देने लगा। किन्तु आचार्यश्री के आध्यात्मिक तेज के सामने वह हतप्रभ हो गया, उसकी शक्ति कुण्ठित हो गई। आचार्य भद्रबाहु विरचित महान् चमत्कारी "उवसग्गहर स्तोत्र" को सुनकर वह आचार्यश्री के चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराध की क्षमायाचना करने लगा—भगवन् ! मुझे ज्ञात नहीं था कि आप इतने महान् हैं। आपके आध्यात्मिक तेज के सामने मेरी दानवी वृत्ति आज नष्ट हो गयी है। आज मेरा क्रोध क्षमा के रूप में बदल गया है। मैंने आज एक सच्चे व अच्छे सन्त के दर्शन किये हैं। मैं आपसे सनम्र प्रार्थना कर रहा हूँ कि यह स्थान अब सदा के लिए जैन साधु-साध्वियाँ और श्रावक-श्राविकाओं के ही धार्मिक साधना के लिए उपयोग में लिया जायेगा। मैं स्थानीय मौलवी के शरीर में प्रवेश कर यह स्थान जैनियों को दिलवा दूंगा। आचार्यश्री मौन रहकर जिन्द की बात सुनते रहे। प्रातः होने पर यति भक्तगण इस विचारधारा को लेकर पहुँचे कि सभी साधुगण मर चुके होंगे। पर ज्यों ही उन्होंने सभी सन्तों को प्रसन्नमुद्रा में देखा तो उनके देवता कूँच कर गये। जिन्द ने मौलवी के शरीर में प्रवेश कर मसजिद को जैन स्थानक बनाने के लिए उद्घोषणा की। सर्वत्र अपूर्व प्रसन्नता का वातावरण छा गया। जैनधर्म की प्रबल प्रभावना हुई। दो सौ पचास घर जो ओसवाल थे उन्होंने पूज्यश्री के उपदेश से स्थानकवासी धर्म को स्वीकार किया। वर्तमान में नवीन कोट मुहल्ले में जो स्थानक है वही पहले मसजिद था। उसी स्थान पर कुछ वर्षों पूर्व नवीन स्थानक का निर्माण किया गया है।

आचार्यश्री ने सोजत में स्थानकवासी धर्म का प्रचार कर पाली की

ओर प्रस्थान किया। पाली के श्रद्धालु लोगों का मानस उसी तरह नाचने लगा जिस तरह उमड़-घुमड़ कर आती हुई घटाओं को देखकर मोर नाचता है। आचार्यश्री के प्रभावोत्पादक प्रवचनों में जनता का प्रवाह उमड़ रहा था। यतिगण देखकर उसी तरह घबरा रहे थे जिस तरह शृगाल सिंह को देखकर घबराता है। उन्होंने विचार किया कि ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे अमरसिंहजी का नदी की बाढ़ की तरह बढ़ता हुआ प्रभाव रुक जाय। गम्भीर विचार विनिमय के पश्चात् शास्त्रार्थ की आचार्यश्री को चुनौती दी। उन्हें यह अभिमान था कि आचार्यश्री में ज्ञान का अभाव है, वे तो केवल आचारनिष्ठ ही हैं। किन्तु जब शास्त्रार्थ के लिए आचार्यश्री तैयार हो गये तो यति समुदाय की ओर से बीकानेर से विमलविजयजी, जोधपुर से ज्ञानविजयजी, मेड़ता से प्रभाविजयजी और नागोर से जिनविजयजी ये चार मेधावी यति शास्त्रार्थ के लिए उपस्थित हुए। विविध विषयों पर शास्त्रार्थ हुआ। आचार्यश्री ने जब मुखवस्त्रिका का प्रश्न आया तब कहा कि - आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर मुखवस्त्रिका का उल्लेख है। उत्तराध्ययन सूत्र के समाचारी विभाग में बताया गया है कि "**मुहपोत्तियं पडिलेहित्ता पडिलेहिज्ज गोच्छगं।**"[1] अर्थात् मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना कर गोच्छग की प्रतिलेखना करें। निशीथ भाष्य[2] में जिनकल्पिक श्रमणों का उल्लेख है वहाँ पर पाणि-पात्र और पात्रधारी ये दो भेद किये हैं। दोनों ही प्रकार के श्रमण कम से कम मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दो उपधि रखते हैं। जिनकल्पिक श्रमणों के लिए भी मुखवस्त्रिका और रजोहरण ये दो आवश्यक हैं, अन्य उपकरण चाहे हों या न हों। फिर स्थविरकल्पिकों के लिए तो मुखवस्त्रिका अनिवार्य है ही।

भगवती सूत्र में[3] स्पष्ट कहा है कि जब खुले मुँह बोला जाता है तब सावद्य भाषा होती है।

महानिशीथ जिसे स्थानकवासी परम्परा प्रमाणभूत आगम नहीं मानती है उसमें भी यह विधान है कि कान में डाली गयी मुँहपत्ती के बिना

---

१ उत्तराध्ययन २६/२३।

२ निशीथभाष्य गाथा १३६०, भाग २, पृष्ठ ६८१।

३ गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिज्जूहित्ताणं भासं भासति ताहे णं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं णिज्जूहित्ताणं भासं भासइ ताहे णं सक्के देविंदे देवराया असावज्जं भासं भासइ। —**श्री व्याख्या-प्रज्ञप्तौ षोडश शतकस्य द्वितीयोद्देशे।**

या सर्वथा मुँहपत्ती के बिना इरियावही क्रिया करने पर साधु को मिच्छामि दुक्कडं या दो पोरसी का (पूर्वार्द्ध) दण्ड आता है।[1]

योगशास्त्र[2] में भी कहा है मुख से निकलने वाले उष्ण श्वास से वायुकाय के जीवों की तो विराधना होती ही है किन्तु त्रस जीवों के मुख में प्रवेश की भी सम्भावना सदा रहती है तथा अकस्मात् आयी हुई खांसी, छींक आदि से थूक शास्त्रों या कपड़ों पर गिरने की सम्भावना रहती है, अतः मुखवस्त्रिका इन सभी का समीचीन उपाय है।

आगम साहित्य में यत्र-तत्र मुखवस्त्रिका मुंह पर बाँधने का विधान प्राप्त होता है। जैसे ज्ञातासूत्र[3] में तेतली प्रधान को उसकी धर्मपत्नी अप्रिय हो गयी तो वह दान आदि देकर समय व्यतीत करने लगी। उस समय तेतलीपुर में महासती सुव्रताजी का आगमन हुआ। वे भिक्षा के लिए तेतली प्रधान के घर पर पहुँची, तब तेतली प्रधान की अप्रिय पत्नी पोट्टिला ने साध्वीजी को आहारदान दिया और उसके पश्चात् उसने साध्वीजी से पूछा आप अनेकों नगरों में परिभ्रमण करती हैं कहीं पर ऐसी जड़ी-बूटी या वशीकरण आदि मन्त्र के उपाय देखे हों तो बताने का अनुग्रह कीजिए जिससे मैं पुनः अपने पति की हृदयहार बन जाऊँ। यह सुनते ही महासतीजी ने अपने दोनों कानों में दोनों हाथों की अंगुलियां डाल दीं और कहा—भो देवानुप्रिये ! हमें इस प्रकार के शब्द कानों से सुनना भी नहीं कल्पता। फिर ऐसा मार्ग बताना तो दूर रहा। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि साध्वीजी के मुँह पर मुखवस्त्रिका बाँधी हुई होनी चाहिए नहीं तो दोनों हाथ दोनों कानों में डालकर खुले मुंह कैसे बोलतीं ? निरयावलिका[4] में उल्लेख है सोमिल ब्राह्मण ने काष्ठ की मुँहपत्ती मुँह पर बाँधी थी। वैदिक परम्परा के संन्यासियों में मुँह पर काष्ठ की पट्टी बाँधने का विधान अन्यत्र देखने में नहीं आया

---

१ कन्नेट्ठियाए व मुहणंतगेण वा विणा।
दरियं पडिक्कमे मिच्छुक्कडं पुरिमड्ढं ॥ —महानिशीथ सूत्र अ ७

२ तथा संपातिमा सत्त्वाः सूक्ष्मा च व्यजपनोऽपरे।
तेषां रक्षानिमित्तं च विज्ञेयो मुखवस्त्रिका ॥
—योगशास्त्र हिन्दी भा. पृ. २६०

३ ज्ञातासूत्र अध्ययन १४वाँ।

४ निरयावलिका।

है। इससे यह सिद्ध होता है जैन श्रमण मुँहपत्ती बाँधते थे और उसी का अनुसरण सोमिल ने काष्ठ पट्टी बाँध कर किया हो।

भगवती में[1] जमाली के दीक्षा ग्रहण करने के प्रसंग में नाई का उल्लेख है, उसने भी आठ परतवाली मुँह पर बाँधी थी।

शिवपुराण ज्ञानसंहिता में[2] जैन श्रमण का लक्षण बताते हुए कहा है—हाथ में काष्ठ के पात्र धारण करने वाले, मुँह पर मुखवस्त्रिका बाँधने वाले, मलिन वस्त्र वाले, अल्पभाषी ही जैन मुनि हैं। उसमें यह भी बताया गया है कि इस प्रकार के जैन श्रमण ऋषभावतार के समय में भी थे।

श्रीमाल पुराण में[3] मुँह पर मुँहपत्ती धारण करने वाले जैन श्रमणों का वर्णन है। साथ ही भुवनभानु केवली चरित्र, हरिबल मच्छीनुं रास, अवतार चरित्र, सम्यक्तमूल बारहव्रत की टीप, हितशिक्षानुं रास, जैनरत्न-कथाकोश, ओघनिर्युक्ति आदि में मुखवस्त्रिका का वर्णन है।

आचार्यप्रवर के अकाट्य तर्कों से यति समुदाय परास्त हो गया। वह उत्तर न दे सका। वहाँ से वे लौट गये। स्थानकवासी धर्म की पाली में प्रबल प्रभावना हुई। वहाँ से आचार्यप्रवर ने जोधपुर की ओर प्रस्थान किया। जब आचार्यश्री जोधपुर पधारे उस समय दीवान खींवसीजी भण्डारी ने आचार्यश्री का हृदय से स्वागत किया और आचर्यप्रवर को तलहटी के महल में ठहरा दिया। राजकीय कार्य से खींवसीजी बाहर चले गये, तब यतिभक्तों ने सोचा कि किसी तरह से अमरसिंहजी महाराज को खत्म करना चाहिए।

यतिभक्तों ने सोचा कि ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे आचार्यश्री सदा के लिए खत्म हो जायें। जोधपुर में आसोप ठाकुर साहब की एक हवेली है जहाँ पर ठाकुर राजसिंह जोधपुरनरेश के बदले में जहर का प्याला पीकर मरे थे। वे व्यन्तर देव बने थे। वे रात्रि में अपनी हवेली में किसी को भी नहीं रहने देते थे। यदि कोई भूल से रह जाता तो उसे वे मार देते थे। अतः यतिभक्तों ने सोचा कि ऐसे स्थान पर यदि आचार्य अमरसिंहजी को ठहरा दिया जाय तो वे बिना प्रयास के समाप्त हो जायेंगे। उन्होंने महाराज

---

१ भगवतीसूत्र, शतक ८, उद्देशक ३३।

२ हस्ते पात्रं दधानाश्च, तुण्डे वस्त्रस्य धारकाः।
मलिनान्येव वासांसि, धारयन्त्यल्पभाषिणः॥ —शि० पु० ज्ञान संहिता

३ श्रीमाल पुराण अध्याय ७-३३।

अजितसिंह से प्रार्थना की—राजन् ! आप जिस महल के नीचे होकर परि-भ्रमण करने के लिए जाते हैं, उस महल के ऊपर अमरसिंहजी साधु बैठे रहते हैं। वे आपको नमस्कार भी नहीं करते। हमसे आपका यह अपमान देखा नहीं जाता। राजा ने कहा—साधु फक्कड़ होते हैं। वे नमस्कार नहीं करते तो कोई बात नहीं। यतिभक्तों ने मुँह मटकाते हुए कहा—राजन् ! आप बड़े हैं, पृथ्वीपति हैं, आपको तो नमस्कार करना ही चाहिए। यदि आपश्री को कोई एतराज न हो तो हम आचार्यश्री को दूसरा बहुत ही बढ़िया स्थान बता देंगे। दरबार ने कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा। यतिभक्त आचार्यश्री के पास आये और कहा कि महाराज साहब ने आपको आज्ञा प्रदान की है, अतः आप दूसरे मकान में पधारिये। जहाँ पर आपको ठहरने की योग्य व्यवस्था की गई है। आचार्यप्रवर अपने शिष्यों के साथ चल दिये। यतिभक्तों ने पूर्व योजनानुसार आसोप ठाकुर साहब की हवेली उन्हें ठहरने के लिए बता दी। आचार्यश्री आज्ञा लेकर वहाँ पर ठहर गये।

रात्रि का झुरमुट अँधेरा होने लगा। आचार्यश्री ने पहले से ही अपने शिष्यों को सावधान कर दिया कि आज की रात्रि में भयंकर उपसर्ग उप-स्थित हो सकते हैं, लेकिन तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं है। सभी ध्यान-साधना में दत्तचित्त हो लग जाओ जिससे कोई भी बाल बाँका न कर सके। आचार्यश्री जानते थे कि ध्यान में वह अपूर्व बल है जिससे दानवी शक्ति परास्त हो जाती है।

रात्रि का गहन अँधेरा धीरे-धीरे छा रहा था। रात्रि के गहन अन्धकार में दानवी शक्ति का जोर बढ़ता है। ज्यों ही अँधेरे ने अपना साम्राज्य स्थापित किया त्यों ही आसुरी शक्ति प्रकट हुई। उसने मानवाकृति में आकर सर्वप्रथम हवेली को परिष्कृत किया और सुगन्धित द्रव्यों से चारों ओर मधुर सुगंध का संचार कर दिया। उसके पश्चात् राजसिंहजी का जीव जो व्यन्तर देव बना था, वह अपने असुर परिजनों के साथ उपस्थित हुआ। वह सिंहासन पर बैठा किन्तु उसे मानव की दुर्गन्ध सताने लगी। अरे, आज इस हवेली में कौन मानव ठहरे हैं ? लगता है, मौत ने इनको निमन्त्रण दिया है। इन्हें मेरी दिव्य-दैवी शक्ति का भान नहीं है। मैं अभी इन्हें बता दूंगा कि मेरे में कितनी असीम शक्ति है। विकराल रूप बनाकर वह आचार्यश्री के चरणों में पहुँचा और साँप, बिच्छू, शेर, चीते आदि विविध रूप बनाकर आचार्यश्री को संत्रस्त करने का प्रयास करने लगा। जब आध्यात्मिक शक्ति के सामने दानवी शक्ति का बल कम हो गया, तब उसने क्रोध में

आकर जिस पट्ट पर आचार्यश्री विराजमान थे उसका एक पाया तोड़ दिया और देखने लगा अब नीचे गिरे, अब नीचे गिरे। किन्तु पूज्यश्री ध्यान में इतने तल्लीन थे कि वे तीन पाये वाले पट्ट पर पूर्ववत् ही बैठे रहे। दानवी शक्ति यह देखकर हैरान थी—क्या जादू है इनके पास! ये तीन पाये पर ही बैठे हुए हैं। अन्त में हारकर उसने कहा—अभी रात में ही यहाँ से निकल जाओ, नहीं तो तुम्हें भस्म कर दूँगा। पूज्यश्री मौन रहे। तो उसने कहा—रात में नहीं जाते हो तो कोई बात नहीं, कल सुबह ही यहाँ से चले जाना। अन्यथा मैं सभी को मौत के घाट उतार दूँगा। दानवी शक्ति अन्त में हारकर अपने स्थान पर जाकर बैठ गयी। आचार्यश्री ने ध्यान से निवृत्त होकर जैनागमों में से संग्रहीत अर्ध-मागधी भाषा में भानुद्वार को उच्च स्वर से सुनाया। दानवी शक्ति ने जब सुना तब उसके आश्चर्य का पार न रहा—अरे! यह तो कोई विशिष्ट व्यक्ति है, इसे कोई विशेष ज्ञान है जिसके कारण इसे हमारी, अवगाहना, स्थिति, भवन और अन्य ऋद्धियों का परिज्ञान है। आश्चर्य तो इस बात का है कि हमारा ही नहीं हमारे से भी बढ़कर जो देव हैं उनके सम्बन्ध में भी ये अच्छी तरह से जानते हैं। जिन चीजों को हम नहीं जानते उन चीजों को ये जानते हैं। बड़े अद्भुत हैं ये व्यक्ति। दानवी शक्ति अपने स्थान से उठकर आचार्यश्री के श्रीचरणों में पहुँची और उसने नम्र शब्दों में निवेदन किया—भगवन्! मैं आपको समझ नहीं सका। आप तो महान् हैं। हमारे से अधिक ज्ञानी हैं। हमें जिन बातों का परिज्ञान नहीं है, वे बातें भी आप जानते हैं। बताइये, आपको कौन सा ज्ञान है?

आचार्यश्री ने मधुर मुस्कान बिखेरते हुए कहा—मेरे में कोई विशेष ज्ञान नहीं है। मैं जो बात कह रहा हूँ वह बात श्रमण भगवान महावीर ने अपने विशिष्ट ज्ञान के आधार पर कही है। हम उन्हीं की वाणी को दुहरा रहे हैं। वह आगम वाणी है जिसमें अनेक अपूर्व बातें हैं, यदि आप सुनेंगे तो ताज्जुब करेंगे।

दानवी शक्ति ने विनत होते हुए कहा—हम आपकी यह स्वाध्याय प्रतिदिन सुनना चाहते हैं। क्या आप हमें यह स्वाध्याय सुनायेंगे?

आचार्यप्रवर ने कहा—तुम्हारे कहने से हमें कल यहाँ से प्रस्थान करना है। फिर तुम्हें किस प्रकार स्वाध्याय सुना सकेंगे?

दानवी शक्ति ने कहा—भगवन्! आप यहाँ रह सकते हैं, किन्तु अपने शिष्य आदि को मत रखिये।

आचार्य ने कहा—कहीं सूर्य और उसका प्रकाश पृथक् रह सकता है ? नहीं। वैसे ही गुरु और शिष्य कैसे पृथक् रह सकते हैं। ये तो देह की छाया की तरह सदा साथ में ही रहते हैं। उनका नाम ही अन्तेवासी ठहरा।

दानवी शक्ति ने कहा—आप अपने शिष्यों सहित यहाँ पर प्रसन्नता के साथ रह सकते हैं, किन्तु अन्य व्यक्तियों को यहाँ आने न दीजिएगा।

आचार्यश्री—जहाँ हम ठहरे हुए हैं वहाँ उपदेश श्रवण करने के लिए लोग आयेंगे ही। हम उन्हें कैसे इन्कार कर सकते हैं ?

दानवी शक्ति—अच्छा, तो ऐसा कीजिएगा पुरुषों को आने दीजिएगा, किन्तु महिलाओं को यहाँ आने का निषेध कर दीजिएगा।

आचार्यश्री—आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में पुरुष और महिलाओं का भेद नहीं किया जाता। जिस प्रकार पुरुष आध्यात्मिक साधना करता है उसी प्रकार महिलाएँ भी साधनाएँ कर सकती हैं। पुरुषों से भी महिलाओं का हृदय अधिक भावुक होता है। वे साधना के मार्ग में सदा आगे रहती हैं। अत: उन्हें आध्यात्मिक साधना से वंचित करना हमारे लिए कैसे उचित है ? हम जहाँ रहेंगे वहाँ पर रात्रि में नहीं, किन्तु दिन में उपदेश-श्रवण हेतु पुरुषों के साथ महिलाएँ भी आयेंगी।

दानवी शक्ति ने कहा—आपका कथन सत्य है, किन्तु ऐसा करें कि जिन महिलाओं को नहीं आना है, उन्हें न आने देवें।

आचार्यश्री ने कहा—मैं स्वयं भी नहीं चाहता हूँ कि वे महिलाएँ यहाँ आवें, किन्तु हम किन्हें पूछने जायेंगे कि तुम्हें आना है या नहीं आना है ?

दानवी शक्ति ने कहा—आप ऐसा कीजिए कि मेरा यह जो स्थान विशेष है वहाँ पर कोई महिला नहीं आने पावे, अत: अपना पट्टा यहाँ पर ले लेवें।

आचार्यश्री ने कहा—आपका यह कथन उचित है। हम आपके स्थान पर पट्टा ले लेंगे किन्तु पट्टे को तो आपने पहले से ही तोड़ रखा है। अत: इसे पहले आप ठीक कीजिए।

दानवी शक्ति ने उसी समय पट्टे को ठीक कर दिया और आचार्यश्री से प्रार्थना की कि आप आनन्द से यहाँ विराजिए और धर्म की अत्यधिक प्रभावना कीजिए। आपको यहाँ विराजने पर किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। दानवी शक्ति आचार्यप्रवर को नमस्कार कर और अपने अपराधों की क्षमा-याचना कर वहाँ से विदा हो गयी।

प्रातः होने पर ज्यों ही सहस्त्ररश्मि सूर्य का उदय हुआ, यतिभक्त इसी विचार से आसोप ठाकुर की हवेली में पहुँचे कि आचार्य अमरसिंहजी अपने शिष्यों सहित समाप्त हो गये होंगे। किन्तु आचार्यप्रवर व अन्य सन्तों को प्रसन्नमुद्रा में स्वाध्याय-ध्यान आदि करते हुए देखा तो उनके आश्चर्य का पार न रहा। एक-दूसरे को देखकर परस्पर कहने लगे कि दानवी शक्ति तो इतनी जबरदस्त थी कि किसी की भी शक्ति नहीं थी जो इससे जूझ सके। इस दानवी शक्ति ने तो अनेकों को खत्म कर दिये थे। पता नहीं इनके पास ऐसी कौनसी विशिष्ट शक्ति है जिससे इतनी महान् शक्ति भी इनके सामने परास्त हो गयी। लगता है, यह कोई महान् योगी हैं। इनके चेहरे पर ही अपूर्व तेज झलक रहा है। आँखों से अमृत बरस रहा है। हमें इनके पास अवश्य चलना चाहिए और इनसे धर्म का मर्म भी समझ लेना चाहिए।

आचार्यश्री की यशःसौरभ जोधपुर में फैल गयी। भौंरों की तरह भक्त मंडलियाँ मँडराने लगीं। हजारों लोग आचार्यश्री के दर्शन के लिए उपस्थित हुए। आचार्यप्रवर ने जिज्ञासु श्रोताओं को देखकर अपना प्रवचन प्रारम्भ किया। आचार्यश्री ने कहा– जैन संस्कृति का मूल आधार है त्याग, तपस्या और वैराग्य। उसने जितना बाह्य शुद्धता पर बल दिया है, उससे भी अधिक अन्तर्मन की पवित्रता को महत्व दिया है। यह संस्कृति भोगवादी नहीं; त्याग, तपस्या, वैराग्य की संस्कृति है। इस संस्कृति के मूल में भोग नहीं, त्याग है। भोगवाद पर त्यागवाद की विजय है, तन पर मन का जयघोष, वासना पर संयम का जयनाद है।

मधुर मुसकान के साथ आचार्यश्री के भाषणों ने जन-मन-नयन को चुम्बक की तरह अपनी ओर खींच लिया। आचार्यश्री के भावों में गाम्भीर्य था, उनकी शैली में ओज था, शैली बड़ी सुहावनी थी, जो नदी के प्रवाह की तरह अपने प्रतिपाद्य विषय की ओर बढ़ती थी। उनके सांस्कृतिक प्रवचनों में जैन संस्कृति की आत्मा बोलती थी। आचार्यश्री के प्रवचनों से प्रभावित होकर हजारों जन जैनधर्म के प्रति आकर्षित हुए।

भण्डारी खींवसीजी जो बाहर गये हुए थे, वे लौटकर पुनः जोधपुर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि आचार्यप्रवर को भयंकर उपद्रवकारी स्थान में उतारा गया है। उन्होंने आचार्यश्री से पूछा—भगवन् ! किस दुष्ट ने आपको यहाँ पर ठहराया ? मैंने तो आपको महलों में ठहराया था। आपको यहाँ पर बहुत ही कष्ट हुए होंगे। कृपया मुझे नाम बताइये जिससे उस दुष्ट को

दण्ड दिया जा सके। आचार्यश्री ने कहा—जिसने मुझे यहाँ पर ठहराया उसने मेरे पर महान् उपकार किया है। यदि वह मुझे यहाँ न ठहराता तो मैं उतना कार्य नहीं कर पाता। वर्षों तक प्रयत्न करने पर जितना प्रचार नहीं हो सकता था, उतना प्रचार यहाँ ठहराने से एक ही दिन में हो गया। वह तो हमारा बहुत बड़ा उपकारी है, उसे दण्ड नहीं किन्तु पुरस्कार देना चाहिए जिसके कारण हम धर्म की इतनी प्रभावना कर सके। आचार्यश्री की उदात्त भावना को देखकर दीवान खींवसीजी चरणों में गिर पड़े—भगवन् ! आप तो महान् हैं, अपकार करने वाले पर भी जो इस प्रकार की सद्भावना रखते हैं। वस्तुतः आपके गुणों का उत्कीर्तन करना हमारी शक्ति से परे है।

आचार्यप्रवर के प्रबल प्रभाव से यतियों के प्रमुख गढ़ जोधपुर में धर्म की विजय-वैजयन्ती फहराने लगी। यतिगणों का प्रभाव उसी तरह क्षीण हो गया जिस तरह सूर्य के उदय होने पर तारागणों का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। वे मन ही मन पश्चात्ताप करने लगे कि हमने बहुत ही अनुचित किया। यदि हम ऐसा नहीं करते तो उनके धर्म का प्रचार नहीं हो पाता। हमारा प्रयास उन्हीं के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ।

जोधपुर संघ की प्रार्थना को सम्मान देकर आचार्यप्रवर ने संवत् १७६८ का चातुर्मास जोधपुर में किया। उस वर्ष जोधपुरनरेश महाराजा अजितसिंहजी अनेकों बार आचर्यप्रवर के प्रवचनों में उपस्थित हुए और आचार्य प्रवर के उपदेश से प्रभावित होकर शिकार आदि न करने की प्रतिज्ञाएँ ग्रहण कीं और हजारों व्यक्तियों ने आचार्यश्री के सत्संग से अपने जीवन को निखारा। वर्षावास में श्रेष्ठिप्रवर रंगलालजी पटवा जयपुर से आचार्यप्रवर के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। उन्होंने आचार्यश्री से निवेदन किया—भगवन् ! आपश्री के उपदेश से प्रभावित होकर मैंने श्रावक के व्रत ग्रहण किये थे। परिग्रहपरिमाणव्रत में मैंने पाँच हजार रखने का विचार किया था, किन्तु आपश्री के संकेत से मैंने पच्चीस लाख की मर्यादा की। उस समय मेरे पास पाँच सौ की भी पूँजी नहीं थी। पर भाग्य ने साथ दिया। जो भी व्यापार किया उसमें मुझे अत्यधिक लाभ ही लाभ हुआ। नवीन मकान बनाने के लिए ज्यों ही नींव खोदी गयी उसमें पच्चीस लाख से भी अधिक की सम्पत्ति मिल गई। मैं चिन्तन करने लगा कि कहीं मेरा नियम भंग न हो जाय, अतः उदार भावना के साथ मैंने दान देना प्रारम्भ किया। किन्तु दिन-दूनी रात चौगुनी लक्ष्मी बढ़ती ही गयी। तब मुझे

अनुभव हुआ कि दान देने से लक्ष्मी घटती नहीं किन्तु बढ़ती है। एक शायर ने इस तथ्य को इस रूप में कहा है—

जकाते माल बदर कुनके, फजल-ए-रजरा।
चो बाग बां बबुर्द, बेशतर बिहद अंगूर॥

अर्थात्—दान देने से उसी तरह लक्ष्मी बढ़ती है जैसे अंगूर की शाखा काटने से वे और अधिक मात्रा में आते हैं।

गुरुदेव ! एक बहुत ही आश्चर्य की घटना हुई। अपराह्न का समय था, एक अवधूत योगी हाथ में तुम्बी लेकर आया और जयपुर की सड़कों पर और गलियों में यह आवाज लगाने लगा– "है कोई माई का लाल जो मेरी इस तुम्बी को अशर्फियों से भर दे।" जब मेरे कर्ण-कुहरों में यह आवाज आयी तब मैंने योगी को अपने पास बुलाया और स्वर्णमुद्राओं से तुम्बी को भरने लगा। हजारों स्वर्णमुद्राएँ डालने पर भी तुम्बी नहीं भरी। मैं मुद्राएँ लेने के लिए अन्दर जाने के लिए प्रस्तुत हुआ। योगी ने मेरा हाथ पकड़ कर कहा—हम साधुओं को स्वर्णमुद्राओं से क्या लेना-देना ? साधु तो कंचन और कामिनी का त्यागी होता है। उसने पुनः तुम्बी खाली कर दी और कहा— मैं तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए स्वर्ग से आया हूँ। मैंने सोचा, तुम नियम पर कितने दृढ़ हो। तुम परीक्षा उत्तीर्ण हुए. यह कहकर वह अन्तर्धान हो गया। गुरुवर्य ! वे सारी स्वर्णमुद्राएँ मैंने गरीबों को, जिन्हें आवश्यकता थी, उनमें वितरण कर दी। वस्तुतः गुरुदेव, आपका ज्ञान अपूर्व है। आपश्री नियम दिलाते समय यदि मुझे सावधान न करते तो सम्भव है मैं नियम का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर पाता। दीर्घकाल से आपश्री के दर्शनों की उत्कट अभिलाषा थी, वह आज पूर्ण हुई। कुछ दिनों तक श्रेष्ठिवर्य रंगलालजी आचार्यश्री की सेवा में रहे और पुनः लौटकर वे जयपुर पहुँच गये।

इस वर्षावास में धर्म की अत्यधिक प्रभावना हुई। वर्षावास पूर्ण होने पर आचार्यप्रवर ने मारवाड़ के विविध ग्रामों में धर्म का प्रचार किया और पाली चातुर्मास किया। उसके पश्चात् सोजत और जालोर चातुर्मास किये। आचार्यप्रवर ने अथक परिश्रम से मारवाड़ के क्षेत्रों में धर्मप्रचार किया था। उस समय पूज्यश्री धर्मदास जी महाराज के शिष्य पूज्यश्री धन्नाजी महाराज जो साचौर में धर्मप्रचार कर रहे थे उन्होंने सुना कि आचार्यप्रवर अमरसिंहजी महाराज ने मारवाड़ क्षेत्र को सुगम बना दिया है और उन्होंने स्थानकवासी धर्म का खूब प्रचार किया है, तब उन्होंने विचार किया कि मुझे भी चलकर

उस महापुरुष के कार्य को सुगम बनाने के लिए प्रयास करना चाहिए। अतः वे साचौर से विहार कर पूज्यश्री की सेवा में पधारे। उस समय आचार्यश्री नागोर विराज रहे थे। दोनों ही महापुरुषों का मधुर संगम हुआ। आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज, आचार्य पन्नाजी महाराज से दीक्षा और ज्ञान में भी बड़े थे। अतः विनय के साथ उन्होंने आचार्यश्री से अनेकों जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं और योग्य समाधान प्राप्त कर उन्हें संतोष हुआ। दोनों ही महापुरुषों में दिन-प्रतिदिन प्रेम बढ़ता ही रहा। आचार्य अमरसिंह जी महाराज ने वहाँ से विहार कर मेड़ता, नागोर, बगडी (सज्जनपुर), अजमेर, किसनगढ़, जूनिया, केकड़ी, शहापुरा, भीलवाड़ा, कोटा, उदयपुर, रतलाम, इन्दौर, पीपाड़, बिलाड़ा प्रभृति क्षेत्रों में धर्म प्रचार करते हुए वर्षावास किये। जहाँ भी वर्षावास हुआ वहाँ पर धर्म की प्रबल प्रभावना हुई।

आचार्यप्रवर के प्रतिदिन बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर कानजी ऋषि के सम्प्रदाय के आचार्यश्री ताराचन्द जी महाराज, श्री जोगराजजी महाराज, श्री मीवाजी महाराज, श्री तिलोकचन्दजी महाराज एवं आचार्यश्री राधाजी महाराज, आचार्यश्री हरिदासजी महाराज के अनुयायी श्री मलूकचन्दजी महाराज, आर्याजी फूलाजी महाराज, आचार्यश्री परसरामजी महाराज के आज्ञानुवर्ती खेतसिंहजी महाराज, खींवसिंहजी महाराज तथा आर्याश्री केशरजी महाराज आदि सन्त-सती वृन्द पचवर ग्राम में एकत्रित हुए और परस्पर उल्लास के क्षणों में मिले और एक दूसरे से साम्भोगिक[1] सम्बन्ध प्रारम्भ किया तथा श्रमण संघ की उन्नति के लिए अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव भी पारित किये गये। इस समय आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज के लघु गुरुभ्राता दीपचन्दजी महाराज एवं प्रवर्तिनी महासती भागाजी भी उपस्थित थीं। स्थानकवासी परम्परा की दृष्टि से यह सर्वप्रथम सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में अनेक महत्वपूर्ण प्रस्ताव भी पारित हुए। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री पुष्कर मुनिजी के पास उस समय का लिखित एक पन्ना है, उससे उस समय की स्थिति का स्पष्ट परिज्ञान होता है।

---

१ 'साम्भोगिक' यह जैन परम्परा का एक पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है आहार, आदि तथा अन्य वस्तुएँ एक सन्त का दूसरे सन्त को आदान-प्रदान करना। यह संभोग कहलाता है। जैन परम्परा में एक-दूसरे के साथ आदान-प्रदान की जाने वाली वस्तुएँ बारह प्रकार की मानी गयी हैं और उनका परस्पर आदान-प्रदान ही साम्भोगिक सम्बन्ध कहा जाता है।

पचवर से विहार कर आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज ने किसनगढ़ में चातुर्मास किया। वर्षावास के पश्चात् वहाँ पर परमादरणीय आचार्यश्री भूधरजी महाराज के शिष्य उग्र तपस्वी श्रद्धेय आचार्य रघुनाथमलजी महाराज, श्रद्धेय आचार्यश्री जयमलजी महाराज, आदि सन्तों ने तथा आर्या वखताजी ने आचार्यश्री के साथ स्नेह सम्बन्ध स्थापित किया और एक बनकर धर्म की प्रभावना प्रारम्भ की। आचार्यप्रवर ने सं० १८११ में पुनः जोधपुर चातुर्मास किया। आचार्यप्रवर के उपदेशों से धर्म का कल्पवृक्ष लहलहाने लगा। जोधपुर का चातुर्मास सम्पन्न कर आचार्यश्री सोजत, बगड़ी, शहापुरा होते हुए अजमेर वर्षावास हेतु पधारे। क्योंकि अजमेर संघ आचार्यश्री की वर्षों से भावभीनी प्रार्थना कर रहा था।

आचार्यश्री का स्वास्थ्य वृद्धावस्था के कारण कुछ शिथिल हो रहा था। किन्तु शरीर में किसी प्रकार की व्याधि न थी। उनके शक्तिशाली नेतृत्व में धर्म संघ अभ्युदय के शिखर को स्पर्श कर रहा था, प्रगति के नये उन्मेष नयी सम्भावनाओं की खोज रहे थे। आचार्यश्री ने अपने शिष्यों को संस्कृत, प्राकृत और आगम साहित्य का उच्चतम अध्ययन करवाया था। स्वयं आचार्यश्री के हाथ के लिखे हुए अनेकों ग्रन्थ जोधपुर, जालोर, अजमेर और खाण्डप तथा अन्य भण्डारों में मैंने देखे हैं। उनका लेखन शुद्ध है; लिपि इतनी बढ़िया और कलात्मक तो नहीं किन्तु सुन्दर है जो उनके गहन अध्ययन और प्रचार की स्पष्ट झांकी प्रस्तुत करती है। अत्यन्त परिताप है कि व्यवस्थापकों की अज्ञता के कारण उनके हाथ के लिखे हुए अनेकों ग्रन्थ दीमकों के उदरस्थ हो गये, उन दीमकों की ढेर में से कुछ प्रतियाँ मुझे उपलब्ध हुई हैं, जो मेरे संग्रह में हैं।

इस वर्षावास में आचार्यप्रवर ने विशेष जागरूकता के साथ विशेष साधनाएँ प्रारम्भ कीं। उन्हें पूर्व ही यह परिज्ञान हो गया था कि मृत्यु ने अपने डोरे डालने प्रारम्भ कर दिये हैं और अब यह शरीर लम्बे समय तक नहीं रहेगा। अतः उन्होंने आलोचना संल्लेखना कर पाँच दिन का संथारा किया और ६३ वर्ष की आयु पूर्ण कर संवत् १८१२ में आश्विन शुक्ला पूर्णिमा के दिन इस संसार से अन्तिम विदा ली।

श्रद्धालु गण की आँखों में मोती चमक रहे थे, सर्वत्र एक अजीब शान्ति थी। चारों ओर सभी गमगीन थे, सभी का हृदय वेदना से भीगा हुआ था। दूसरे दिन अन्तिम विदा की यात्रा प्रारम्भ हुई। विशाल जन-

समूह, जिधर देखो उधर मानव ही मानव; सभी चिन्ताशील; हजारों आँखों से झरते हुए मोतियों की बरसात से अजमेर की पवित्र धरती भीग उठा। बोलने को बहुत कुछ था, किन्तु बोलने की शक्ति कुण्ठित हो चुकी थी। सब देख रहे थे, सुन रहे थे किन्तु यह सब कुछ कैसे हो गया यह समझ में नहीं आ रहा था। आचार्यश्री की अर्थी के साथ लड़खड़ाते हुए कदमों से लोग चल रहे थे। उनके अवरुद्ध कण्ठों से एक ही स्वर निकल रहा था—

> **जीवन के उपवन में आये, अक्सर फिर क्यों लौट चले।**
> **मधुर प्रेम की बीन बजाकर, तब अपना मुँह मोड़ चले।।**

किन्तु सुनने वाला तो बहुत दूर चला गया था, जहाँ हजारों कण्ठों का आर्तनाद भी पहुँच नहीं सकता। शिव जा चुका था, शव में देखने और सुनने की कहाँ शक्ति थी?

आचार्यश्री के अन्तिम पार्थिव शरीर को देखने के लिए सभी व्याकुल थे, देखते ही देखते चन्दन की लकड़ियों की आग ने उनके पार्थिव शरीर को जलाकर नष्ट कर दिया।

उस विमल विभूति के वियोग ने समाज को अनाथ बना दिया। श्रद्धालुगण यह मानने के लिए प्रस्तुत नहीं थे कि वे हमारे बीच में नहीं हैं। उनका भौतिक शरीर भले ही नष्ट हो गया था किन्तु यशःशरीर से वे जीवित थे और आज भी जीवित हैं।

आचार्यप्रवर का जीवन प्रारम्भ से ही चमकते हुए नगीने की तरह था और अन्त तक वे उसी प्रकार चमकते रहे। वे स्थानकवासी समाज के एक ज्योतिर्मय स्तम्भ थे। उनका जीवन पवित्र था, विचार उदात्त थे और आचार निर्मल था। उन्होंने जैन शासन की महान् प्रभावना की थी।

३

हमारे ज्योतिर्धर आचार्य

आचार्य श्री तुलसीदासजी महाराज

इस विराट विश्व में हजारों प्राणी प्रतिदिन जन्म लेते हैं और प्रतिदिन मरते हैं, किन्तु उन्हें कोई भी याद नहीं करता। जिनका जीवन आत्महित के साथ जगत्‌हित के लिए समर्पित होता है, आत्मविकास के साथ जन-जीवन के लिए क्रियाशील होता है, वह जीवन विश्व में सार्थक जीवन गिना जाता है। जिन्दगी का अर्थ है विश्व की अन्धकाराच्छन्न काल-रात्रि में सुख, सद्‌भाव और स्नेह का आलोक फैलाना। सन्त अपने लिए ही नहीं, विश्व के लिए जीता है। भगवान पार्श्वनाथ के चरित्रकार ने[1] भगवान पार्श्व की परम कारुणिक भावना का चित्रण करते हुए लिखा है—ये साधुजन स्वभाव से ही परहित करने में सदा तत्पर रहते हैं। चन्दन की तरह अपना शरीर छिलाकर सुगन्ध फैलाते हैं, अगरबत्ती की तरह जलकर वातावरण को मधुर सौरभ से महकाते हैं, मोमबत्ती की तरह अपनी देह को नष्ट कर अन्धकार से अन्तिम क्षण तक संघर्ष करते रहते हैं, अपने परिश्रम की बूंदों से मिट्टी को सींचकर कल्पवृक्ष उत्पन्न करते हैं। वे जीते-जागते कल्पवृक्ष हैं। जिनदासगणी महत्तर ने[2] श्रमण-जीवन की महिमा उत्कीर्तन करते हुए लिखा है—सन्तजन विविध जाति और कुलों में उत्पन्न हुए, पृथ्वी के चलते-फिरते कल्पवृक्ष हैं। वह कल्पवृक्ष भौतिक कामनाएँ पूर्ण करता है तो यह कल्पवृक्ष आध्यात्मिक वैभव की वृद्धि करता है। श्रीमद्‌भागवत[3] में कर्मयोगी श्रीकृष्ण कहते हैं—सन्तजन ही सबसे बड़े देवता हैं। वे ही समस्त जगत् के बन्धु हैं, वे जगत् के आत्मा हैं, और सत्य-तथ्य तो यही है मेरे में (भगवान में) और

---

१ "आत्यैवेते परहितविधौ साधवो बद्धकक्षा"।

२ "विविह कुलुप्पण्णा साहवो कप्परुक्खा"। —नन्दी चूर्णि २/१६

३ "देवता बान्धवा सन्तः, सन्त आत्माऽहमेव च"। —श्रीमद्‌भागवत् ११/२६/३४

सन्त में कोई अन्तर नहीं है। गुरु अर्जुनदेव[1] ने लिखा है—सन्त धर्म की जीती-जागती मूर्ति हैं, तप और तेज के प्रज्वलित पिण्ड हैं और करुणा के अन्तःस्रोत हैं।

सन्त-जीवन के परमानन्द का मूल स्रोत है समता। जब तक मन में राग-द्वेष के विकल्प और संकल्प उद्बुद्ध होते रहते हैं, कषाय की लहरें तरंगित होती रहती हैं, मन अशान्ति की आग में झुलसता रहता है। सन्त समता के शीतल जल से कषायों की आग को शान्त करता है। वह क्रोध नहीं करता, किन्तु सदा प्रसन्न रहता है।[2] वह चन्द्र के समान सौम्य,[3] और विराट सागर के समान गहन-गम्भीर[4] होता है। यदि उस पर विरोधी असज्जन तेज कुल्हाड़ी का प्रहार करता है या भक्त सज्जन शीतल चन्दन का लेप करता है तो वह दोनों स्थितियों में सम रहता है[5] चाहे बसूले की मार हो या चन्दन का उपहार हो, मधुर मिष्ठान्न की मनुहार हो या घृणा-तिरस्कार की दुत्कार हो उसके अन्तर्मानस पर कोई असर नहीं होता। वह द्वन्द्वातीत और विकल्पातीत होकर साधना के महा-पथ पर बढ़ता रहता है।

महामहिम आचार्यप्रवर श्री तुलसीदासजी महाराज इसी प्रकार के सन्तरत्न थे। आपश्री का जन्म मेवाड़ के जूनिया ग्राम में हुआ था। आपके पूज्य पिताश्री का नाम फकीरचन्दजी था और माता का नाम फूलाबाई था। आपके पूज्य पिताश्री अग्रवाल समाज के प्रमुख नेता थे। आपका जन्म सं० १७४३ आश्विन शुक्ला अष्टमी सोमवार को हुआ था। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' उक्ति के अनुसार आपके जीवन में अनेक विशेषताएँ थीं। आपकी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी। किन्तु पूर्वभवों के संस्कारों के कारण आपके मन में संसार के भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण नहीं था। आपके अन्तर्मानस की विरक्त वृत्ति को निहारकर माता और पिता के मन में यह विचार उत्पन्न हुए कि कहीं यह साधु न बन जाय। अतः पानी आने के पूर्व

---

१ साधु की महिमा वेद न जाने, जेता सुने तेता बखाने।
साधु की शोभा का नहि अन्त, साधु की शोभा सदा बे-अन्त॥

२ महप्पसाया इसिणो हवंती —उत्तराध्ययन १२

३ चन्दो इव सोमलेसा

४ सागरो इव गम्भीरा। —औपपातिक सूत्र-समवसरण अधिकार

५ वासी चंदणकप्पो य असणे अणसणे तहा —उत्तराध्ययन १९/९२

ही पाल बाँधनी चाहिए। इसलिए पन्द्रह वर्ष की किशोरावस्था में ही इनका पाणिग्रहण एक रूपवती कन्या के साथ कर दिया गया।

किन्तु जिनका उपादान शुद्ध होता है, उन्हें निमित्त मिल ही जाता है और अनुकूल निमित्त मिलते ही वह दबी हुई ज्योति प्रज्वलित हो जाती है। तुलसीदासजी का पाणिग्रहण होने पर भी उनका मन संसार के भौतिक पदार्थों में नहीं लगा था। आचार्यसम्राट् अमरसिंहजी महाराज विचरण करते हुए जूनिया ग्राम में पधारे। आचार्यप्रवर के प्रवचन को श्रवणकर उनके अन्तर्मानस में वैराग्य भावना उद्‌बुद्ध हुई। विक्रम संवत् १७६३ की पौष वदी ग्यारस को बीस वर्ष की भरी जवानी में उन्होंने संयम साधना के कठोर कंटकाकीर्ण महामार्ग को अपनाया। माता-पिता, पत्नी और परिजनों के अति आग्रह करने पर भी वे विचलित नहीं हुए और संयम को ग्रहण कर एक आदर्श उपस्थित किया।

संयम ग्रहण करने के पश्चात् आपश्री ने आचार्यश्री के नेतृत्व में आगम व दर्शन साहित्य का गहरा अध्ययन किया। अन्त में आपश्री को योग्यतम समझकर आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज ने आपको अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। आपश्री ने राजस्थान के विविध अंचलों में विचरण कर स्थानकवासी धर्म की अत्यधिक प्रभावना की। सैकड़ों व्यक्तियों को श्रावकधर्म प्रदान किया और अनेकों को श्रमणधर्म में दीक्षित किया। अन्त में जोधपुर में वृद्धावस्था के कारण कुछ दिनों तक स्थानापन्न विराजे और पैंतालीस दिन का सन्थारा कर वि० सं० १८३० के भाद्रपद शुक्ला सप्तमी को आप स्वर्गस्थ हुए।

आपश्री बहुत ही प्रभावशाली और तेजस्वी आचार्य थे। आचार्यसम्राट् श्री अमरसिंहजी महाराज के शिष्यों में आप अग्रगण्य थे। आचार्यप्रवर जीवन के अन्तिम क्षणों तक जाग्रत रहे। जाग्रत मृत्यु विशिष्ट साधकों को ही उपलब्ध होती है जो उनके तेजस्वी जीवन की प्रतीक है। उनका जीवन युग-युग तक विश्व को प्रेरणा प्रदान करता रहेगा। □

आचार्यप्रवर श्री सुजानमलजी महाराज

महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने एक रूपक प्रस्तुत किया है कि एक बार जलती हुई लकड़ी को निहार कर हरी लकड़ी की आँखों में आँसू आ गये। उसके अन्तर्मन की व्यथा इस रूप में व्यक्त हुई—इसमें कितना तेज

भरा पड़ा है। अन्धकार बेचारा लज्जा से एक ओर खिसक गया है, चारों ओर ज्योति ही ज्योति जगमगा रही है। परमात्मा! ऐसा तेज मुझे कब प्राप्त होगा।

जलते हुए अंगारे ने उत्तर दिया—बहन, चेष्टाविहीन इस व्यर्थ वासना से पीड़ित होने में क्या लाभ है? हमें जो कुछ भी प्राप्त हुआ है वह तप करके प्राप्त हुआ है। क्या वह तुम्हारे लिए यों ही टपक पड़ेगा?

प्रत्येक आत्मा में दिव्य ज्योति छिपी हुई है। उसे प्रगट करने के लिए अखण्ड साधना करनी होती है। कवीन्द्र रवीन्द्र की भाषा में अंगारे ने वही उत्तर दिया है कि बिना तपे कोई ज्योति नहीं बनता और बिना खपे कोई मोती नहीं बनता। ज्योति बनने के लिए स्वयं को तपाना होता है, खपाना होता है। विश्व के जितने भी महापुरुष हुए उन्होंने अपने जीवन को साधना की भट्टी में तपाकर निखारा है। आचार्यप्रवर श्री सुजानमल जी महाराज का जीवन ऐसा ही जीवन था। उन्होंने उत्कृष्ट साधना कर एवं तप की आराधना कर जीवन को माँजा था और स्वर्ण के समान उसे निखारा था।

सुजानमलजी महाराज आचार्यसम्राट श्री अमरसिंहजी महाराज के तृतीय पट्टधर थे। आप तुलसीदासजी महाराज के शिष्य थे। आपका जन्म राजस्थान के मारवाड़ ग्राम में विक्रम संवत् १८०४ भाद्रपद कृष्णा चौथ को हुआ था। आपश्री के पूज्य पिताश्री का नाम विजयचन्द जी भण्डारी और माता का नाम याजूबाई था। आपके पूज्य पिताश्री और मातेश्वरी दोनों ही सात्विक प्रकृति के धनी थे। दोनों में धर्म के प्रति गहरी निष्ठा थी। संसार में रह करके भी जल-कमलवत् वे निर्लिप्त थे। यही कारण है कि माता-पिता के सुसंस्कार पुत्र पर भी गिरे और उसके जीवन में भी त्याग-वैराग्य के फूल महकने लगे। आचार्यप्रवर तुलसीदासजी महाराज विविध स्थानों पर धर्म की ज्योति जागृत करते हुए जब मारवाड़ पधारे तब आचार्यश्री के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए प्रवचनों को सुनकर अपनी मातेश्वरी याजूबाई तथा भगिनी के साथ आचार्यप्रवर के सान्निध्य में वि० सं० १८१८ की चैत्र शुक्ला ग्यारस सोमवार को आपने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आचार्यश्री के सान्निध्य में रहकर आगम का गहराई से अध्ययन किया। आपकी प्रवचन-कला बहुत ही चित्ताकर्षक थी, जो श्रोताओं के दिल और दिमाग को आकर्षित कर लेती थी। आपने मेवाड़, मारवाड़ और मध्यप्रदेश में परिभ्रमण कर हजारों भव्य-प्राणियों को प्रतिबोध प्रदान किया। आचार्य

प्रवर तुलसीदासजी महाराज ने आपको सुयोग्य शिष्य समझकर आचार्य पद प्रदान किया। आपने अपने आचार्य काल में धर्म की ज्योति जागृत की। अनेकों व्यक्तियों ने श्रामण्य प्रव्रज्या ग्रहण कर आपका शिष्यत्व स्वीकार किया। आप जहाँ भी पधारे वहाँ अपने यशःसौरभ से जन-जन के मन को मुग्ध किया।

विहार करते हुए आचार्यश्री किशनगढ़ पधारे। आचार्यश्री के प्रवचनों में जनता उमड़ पड़ी। किसे ज्ञात था कि आचार्यश्री लघुवय में ही संसार से विदा हो जायेंगे। शरीर में व्याधि उत्पन्न होने पर उसके उपचार का प्रयास किया गया। श्रद्धालुगण सेवा में प्रस्तुत थे। उपचार करने के बावजूद भी व्याधि शैतान की आँत की तरह बढ़ रही थी। शरीर एक था, व्याधियाँ अनेक थीं। रोगों ने ऐसे महापुरुष पर आक्रमण किया था जिसकी वेदना केवल उन्हीं को ही नहीं अपितु अनगिनत श्रद्धालुओं को वह अभिभूत कर रही थी। रोगी वीर सेनानी की भाँति रोगों से जूझ रहा था, किन्तु उसके श्रद्धालु उस युद्ध में उसका साथ नहीं दे पा रहे थे। वे आचार्य के प्रति मोह से ग्रसित थे।

अन्त में आचार्यश्री ने देखा मेरा शरीर अब रोगों का घर बन चुका है, मुझे सावधानी से ही इस शरीर का त्याग करना चाहिए। यदि शरीर ने मुझे छोड़ा, इसमें बहादुरी नहीं है। उन्होंने प्रसन्नता से चतुर्विध संघ की साक्षी से अनशन व्रत ग्रहण किया और वि० सं० १८४६ की ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी मंगलवार को वे स्वर्गस्थ हुए।

युवा आचार्य के स्वर्गवास से समाज ने भारी आघात का अनुभव किया। किन्तु क्रूर काल के सामने किसका जोर चला है? आचार्यश्री का भौतिक देह नष्ट हो गया किन्तु वे यशःशरीर आज भी जीवित हैं और भविष्य में भी सदा जीवित रहेंगे।

●

आचार्यश्री जीतमलजी महाराज : व्यक्तित्व दर्शन

समय-समय पर विश्व के क्षितिज पर ऐसे विशिष्ट व्यक्तियों का उदय होता है जो अपने अलौकिक व्यक्तित्व और कृतित्व से जन-जन का पथ-प्रदर्शन करते हैं। भूले-भटके जीवन राहियों को मार्गदर्शन देते हैं।

उन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों की श्रृंखला में आचार्य प्रवर श्री जीतमलजी महाराज का भी नाम आता है। वे एक मनीषी और मनस्वी सन्त थे। उन्होंने जैन साहित्य और कला के क्षेत्र में एक अद्वितीय कीर्तिमान स्थापित किया। जो आज भी चिन्तकों के लिए प्रेरणादायी है।

आपश्री का जन्म हाडोती राज्य के अन्तर्गत रामपुरा में हुआ था। आपश्री के पिता का नाम सुजानमलजी और माता का नाम सुभद्रा देवी था। आपका जन्म कार्तिक शुक्ला पंचमी वि० सं० १८२६ में हुआ था। माता-पिता के संस्कारी जीवन का असर आपके जीवन पर पड़ा था।

विक्रम संवत् १८३३ में आचार्य प्रवर सुजानमलजी महाराज का रामपुरा में पदार्पण हुआ। उनके पावन प्रवचनों को सुनकर सुभद्रादेवी को और कुमार जीतमल के अन्तर्मानस में वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई। पुत्र ने अपने हृदय की बात माँ को कही—माँ! मेरे पिताजी का नाम और आचार्यश्री का नाम एक ही है। आचार्यश्री का उपदेश तो ऐसा है मानो अमृत रस हो। उस अमृत रस का पान चाहे कितना भी किया जाय, तृप्ति नहीं होती। एक अद्भुत आनन्द की उपलब्धि होती है। आचार्य प्रवर के उपदेश को सुनने के पश्चात् मेरे मन में ये विचार प्रतिपल प्रतिक्षण समुत्पन्न हो रहे हैं कि मानव का जीवन कितना अमूल्य है जिसको प्राप्त करने के लिए देवता भी छटपटाते हैं। क्या हम उसे यों ही बरबाद कर दें? यह तो निश्चित है कि एक दिन जो व्यक्ति जन्मा है उसे अवश्य ही मरना है, जो फूल खिलता है वह अवश्य ही मुरझाता है। जो सूर्य उदय होता है वह अवश्य ही अस्त होता है। किन्तु हम कब मरेंगे यह निश्चित नहीं है। अत: क्षण मात्र का भी प्रमाद न कर साधना करनी चाहिए। बोल माँ, क्या मेरा कथन सत्य है न?

हाँ बेटा, आचार्यश्री के उपदेश में पता नहीं क्या जादू है। तेरी तरह मेरे मन में भी ये विचार पैदा होते हैं। मैं क्यों संसार में फँस गयी? अब तो घर-गृहस्थी का सारा भार मेरे पर है। मैं उसे कैसे छोड़ सकती हूँ। तू तो बच्चा है। अभी तेरी उम्र ही क्या है? अभी तो तू खूब खेल-कूद और मौज मजा कर।

माँ, तुम्हें अब अनुभव हुआ है कि संसार असार है। यदि पहले न फँसती तो अच्छा था। फिर माँ तुम मुझे क्यों फँसाना चाहती हो? लगता है, तुम्हारा मोह का परदा अभी तक टूटा नहीं। आचार्यश्री ने आज ही बताया था कि अतिमुक्तकुमार छह वर्ष की उम्र में साधु बने थे। वज्रस्वामी भी बहुत लघुवय में साधु बन गये थे तो फिर मैं साधु क्यों नहीं बन सकता?

आत्मा तो न बालक है, न वृद्ध है, न युवा है। उसमें अनन्त शक्ति है। यदि उस शक्ति का विकास करे तो वह नर से नारायण बन सकता है, मानव से महामानव बन सकता है, इन्सान से भगवान बन सकता है। फिर माँ, हम साधु बनकर अपनी आत्मा का विकास क्यों नहीं कर सकते? अत: माँ, तुम मुझे अनुमति प्रदान करो तो मैं साधु बनना चाहता हूँ।

माता ने अपने लाड़ले का सिर चूमते हुए कहा— बेटा, अभी तो तू बहुत ही छोटा है। तो साधु बनकर कैसे चलेगा? साधु बनना कोई हँसी-मजाक का खेल नहीं है। मोम के दाँतों से लोहे के चने चबाने जैसा कठिन कार्य है। तलवार की धार पर चलना सरल है, किन्तु साधना के कठोर कंटकाकीर्ण पथ पर चलना बड़ा ही कठिन है। साधु बनने के पश्चात् केशों का लुंचन करना पड़ता है। भूख और प्यास सहन करनी पड़ती है। अत: जितना कहना सरल है उतना ही कठिन है साधना का मार्ग।

माँ, तुम तो वीरांगना हो। तुम मुझे समय-समय पर वीरता की प्रेरणा देती रही। तुमने मुझे इतिहास की वे घटनाएँ सुनायी हैं कि वीर बालक क्या नहीं कर सकता? वह आकाश के तारे तोड़ सकता है। मैं तुम्हारा पुत्र हूँ, दीक्षा लेकर अपने जीवन को ही नहीं किन्तु जैन धर्म को भी चमकाऊँगा। तुम्हारे दूध की कीर्ति बढ़ाऊँगा।

अच्छा बेटा! मुझे विश्वास है कि तेरी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण है। तेरे में प्रतिभा है। तू अवश्य ही जैन धर्म की प्रभावना करेगा। यदि तू दीक्षा लेगा तो मैं भी तेरे साथ ही दीक्षा लूंगी। मैं फिर संसार में नहीं रहूँगी। किन्तु बेटा, पहले तेरे पिता की अनुमति लेना आवश्यक है। बिना उनकी अनुमति के हम दोनों साधु नहीं बन सकते।

बालक जालमल पिता के पास पहुँचा और उसने अपने हृदय की बात पिता के समक्ष प्रस्तुत की। पिता ने मुस्कराते हुए कहा— 'वत्स, तुझे पता नहीं है कि साधु की चर्या कितनी कठिन होती है। तेरा शरीर मक्खन की तरह मुलायम है। तू उन कष्टों को कदापि सहन नहीं कर सकता। तथापि मैं श्रावक होने के नाते साधु बनने के लिए इन्कार नहीं करता। किन्तु बारह महीने तक मैं तुम्हारे वैराग्य की परीक्षा लूंगा और यदि उन कसौटियों पर तुम खरे उतर गये तो तुम्हें सहर्ष अनुमति दे दूंगा।'

श्रेष्ठी सुजानमलजी ने विविध दृष्टियों से पुत्र की परीक्षा ली। जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि मेरा पुत्र वय की दृष्टि से भले ही छोटा है,

किन्तु इसमें तीक्ष्ण प्रतिभा है। यह श्रमण बनकर जैनधर्म की ज्योति को जागृत करेगा। इसकी हस्तरेखाएँ यह बता रही हैं कि यह कभी भी गृहस्थाश्रम में नहीं रह सकता। यह एक ज्योतिर्धर आचार्य बनेगा। मैं स्वयं दीक्षित नहीं हो सकता तो इसे क्यों रोकूं। उन्होंने पुत्र व पत्नी को सहर्ष दीक्षा की अनुमति प्रदान की। गर्भ के सवा नौ मास मिलने से बालक की उम्र नौ वर्ष की हो गयी थी। अत: आचार्य प्रवर सुजानमलजी महाराज ने योग्य समझकर १८३४ में माँ के साथ बालक जीतमल को दीक्षा प्रदान की और उनका नाम जीतमुनि रख दिया गया।

बालक जीत मुनि ने गम्भीर अध्ययन प्रारम्भ किया। संस्कृत, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं का अध्ययन किया। आगम, दर्शन, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, मंत्र-तंत्र और आयुर्वेद शास्त्र का भी गहराई से अध्ययन किया। उनकी लिपि बहुत ही सुन्दर थी। वे दोनों हाथों और दोनों पैरों से एक साथ लिख सकते थे। प्राचीन प्रशस्तियों के आधार से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने तेरह हजार ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ की थीं। स्थानकवासी परम्परा मान्य बत्तीस आगमों को उन्होंने बत्तीस बार लिखा था। आपके द्वारा लिखित एक आगम बत्तीसी जोधपुर के अमर जैन ज्ञान भण्डार में उपलब्ध है और कुछ आगम उदयपुर तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, शास्त्री सर्कल, के संग्रहालय में हैं। आपके द्वारा लिखित नौ आगम बत्तीसी आपके सम्प्रदाय की साध्वियाँ चम्पाजी जो अजमेर में लाखन कोठड़ी में अवस्थित (चम्पाजी का स्थानक) स्थानक में स्थानापन्न थीं, उनके पास रखी गयी थीं। पर परिताप है कि स्थानकवासी समाज की साहित्य के प्रति उपेक्षा होने के कारण वे नौ बत्तीसियाँ और हजारों ग्रन्थ कहाँ चले गये, आज उसका कुछ भी पता नहीं है। जैन श्रमण होने के नाते से सारा साहित्य जो आपने लिखा था वह गृहस्थों के नेश्राय में कर देने से और उनकी, साहित्य के प्रति रुचि न होने से नष्ट हो गया है। उन्होंने उर्दू-फारसी में भी ग्रन्थ लिखे थे, उसमें से एक ग्रन्थ अभी विद्यमान है। एक फारसी के भाषा-विशेषज्ञ को हमने वह ग्रन्थ बताया था। उसने कहा यह बड़ा ही अद्‌भुत ग्रन्थ है इस ग्रन्थ में महाराजश्री ने अपने अनुभूत अद्‌भुत प्रयोग लिखे हैं। इस ग्रन्थ को देखने से ऐसा ज्ञात होता है कि महाराजश्री का ज्ञान बहुत ही गहरा था। एक जैन श्रमण विविध विषयों में कितनी तलस्पर्शी जानकारी रख सकता है, इससे स्पष्ट होता है। यह ग्रन्थ ज्ञान का अद्‌भुत भण्डार है।

आप कुशल कवि भी थे। आपने अनेक ग्रन्थ कविता में भी बनाये हैं।

चन्द्रकला रास यह आपकी एक महत्वपूर्ण रचना है जो आपश्री के हाथ से लिखा हुआ है। उसके अठारह पन्ने हैं। प्रत्येक पन्ने में सत्रह पंक्तियाँ हैं और सूक्ष्माक्षर है। ग्रन्थ में लेखक ने अपना नाम नहीं दिया है और नाम न देने का कारण बताते हुए उसने लिखा है—

"हूं मतिमन्द बालकवत कीधो, हुकम सामियां दीधो रे।
लोपी जे मर्याद प्रसिद्धो, मिच्छामि दुक्कडं लीधो रे॥

अर्थात्, आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज की परम्परा में उस समय ऐसा नियम बनाया गया था कि कविता आदि न लिखी जाय, क्योंकि कवि को कभी-कभी अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भी करना पड़ता है और उस वर्णन से सत्य महाव्रत में दोष लगने की संभावना है। अतः कवि ने कविता लिख करके भी अपना नाम नहीं दिया। सम्भव है, जीतमलजी महाराज से पूर्व भी आचार्य प्रवरों ने तथा अन्य मुनिगणों ने कविताएँ आदि लिखी हों पर नाम न देने से यह पता नहीं चलता कि ये कविताएँ किन की बनाई हुई हैं।

आपका द्वितीय ग्रन्थ शंखनृप की चौपाई है। यह चार खण्डों में विभक्त है। इसमें छत्तीस ढालें हैं और बाईस पन्ने हैं। ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति में कवि ने लिखा है—

सम्मत अठारे चोपने, जेठ वद बारस दिन में रे।
नगर बालोतरो भारी, रिख जीत भणे सुखकारी रे॥

आपकी तृतीय रचना कौणिक संग्राम प्रबन्ध है। इस प्रबन्ध में सत्तावीस ढालें हैं और दस पन्ने हैं और प्रत्येक पन्ने में चौदह पंक्तियां हैं और सूक्ष्माक्षर हैं। उसके अन्त में प्रशस्ति में लिखा है—

एम सुणी ने चेतजाए, लोभ थकी मन वाल।
सेठा रह जो सन्तोष में ए, भयो जीत रसाल॥

एक बार आचार्यश्री जीतमलजी महाराज जोधपुर राज्य के रोइट ग्राम में विराज रहे थे। उस समय साम्प्रदायिक वातावरण था और उस युग में एक दूसरे की आलोचना-प्रत्यालोचना की जाती थी। उस समय के ग्रन्थ इस बात की साक्षी हैं। रात्रि का समय था! तेरह पन्थ के चतुर्थ आचार्य जीतमलजी भी वहाँ आये हुए थे और आपश्री भी वहाँ पर विराज रहे थे। आपने उस समय उनके दयादान के विरोध में एक लघु-काव्य का सृजन किया जिसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

छांड रे जीव पत पात पाखण्डली, समकीत रहत नहीं मूल बाकी।
देव गुरु धर्म उत्थापियो पापियाँ, नागडा होधी छे खोव नाकी॥

साधु मुख सांभली वाणी सिद्धान्त री सावण में जवासी जेम सूखे।
नाम चर्चा रो लिया थका लागड़ा, सियालिया जेम दिन रात रुके ॥

आपकी पांचवीं रचना पूज्य गुणमाला प्राप्त होती है। आचार्यश्री तुलसीदासजी महाराज के गुणों का उत्कीर्तन करते हुए अन्त में लिखा है—

संमत अठारें वर्ष गुणचासे, महाबद आटम भारी जी।
शहर जोधाणें जोड़ी जुगत सु, थे सुणजो सहु नर नारी जी ॥

आचार्यश्री सुजानमल जी महाराज के गुणों पर प्रकाश डालते हुए भी अन्त में उन्होंने लिखा है—

म्हारा गुरां रा गुण कहूं किस्या, म्हारा दिल में तो म्हारा गुरु जी बस्या।
जोड़ी जुगति सु ढाल हरखोर प्रामी, मनें वल्लभ लागें सुजाण जी स्वामी ॥
संमत अठारे वर्ष पचासे, पूज जीतमल तो इम भाखे।
बद फागुण शुक्र तिथ छट्ठ पामी ॥ मनें वल्लभ लागें.......... .....॥

आचार्यश्री जीतमल जी महाराज के द्वारा लिखित रचनाएँ मुझे जितनी भी उपलब्ध हो सकी हैं वे सारी रचनाएँ मैंने 'अणविन्ध्या मोती' के नाम से संग्रह की हैं जो अभी तक अप्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त भी आपकी अनेक रचनाएँ थीं और उनकी संख्या पचास-साठ ग्रन्थों की थी। ऐसा मुझे एक प्राचीन पत्र में उल्लेख मिला है। किन्तु वे सारी रचनाएँ आज मिलती नहीं हैं।

आपश्री कुशल चित्रकार भी थे। आपने संग्रहणी अढाई-द्वीप का नक्शा, त्रसनाड़ी का नक्शा, केशी गौतम की चर्चा, परदेशी राजा के स्वर्ग का मनोहारी दृश्य, द्वारिका दृश्य, भगवान अरिष्टनेमि की बरात, स्वर्ग और नरक आदि विविध विषयों पर, लगभग दो हजार चित्र आपने बनाये हैं। सूर्य पन्नी आपकी बहुत ही उत्कृष्ट कलाकृति है जिसे देखकर भारत के प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद और प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू मुग्ध हो गये थे। आपने सूई की नोंक से काटकर कटिंग की है, वह कटिंग अत्यन्त चित्ताकर्षक है। साथ ही आपने कटिंगों में श्लोक आदि भी लिखे हैं। आपका एक कटिंग तो बड़ा ही अद्‌भुत और अनूठा है। उसमें आपने इस प्रकार अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है कि एक पन्ना होने पर भी आगे और पीछे पृथक-पृथक् श्लोक पढ़े जाते हैं। भारत के मूर्धन्य मनीषी इसे विश्व का एक महान आश्चर्य मानते हैं।

एक बार आपश्री अपने शिष्यों के साथ संवत् १८७१ में जोधपुर

विराज रहे थे। उस समय आपके प्रवचनों की अत्यधिक धूम थी। जैन-अजैन सभी आपके प्रवचनों में उपस्थित होते थे और प्रवचनों को सुनकर मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। कुछ ईर्ष्यालु विपक्षियों को आचार्यश्री का बढ़ता हुआ तेज सहन नहीं हुआ। उन्होंने आचार्यश्री से कहा—आप कहते हैं कि पानी की एक बूंद में असंख्य जीव होते हैं, कृपया हमें प्रत्यक्ष बतायें। आचार्यश्री ने विविध युक्तियाँ देकर उन्हें समझाने का प्रयास किया, किन्तु वे कहाँ समझने वाले थे? उनके अन्तर्मानस में तो ईर्ष्याग्नि जल रही थी। वे आचार्यश्री का अपमान करने हेतु तत्पर थे। उन्होंने उस समय जोधपुर के नरेश मानसिंह के पास जाकर निवेदन किया कि हुजूर, आपके राज्य में जैन-साधु मिथ्या प्रचार करते हैं। वे कहते हैं कि जल की एक बूंद में असंख्य जीव हैं। आप जरा उन्हें पूछें तो सही कि कुछ जीव निकालकर हमें बतावें। इस प्रकार मिथ्या प्रचार कर जन-मानस को गुमराह करना कितना अनुचित है। आपश्री को चाहिए कि उस पर प्रतिबन्ध लगाया जाय।

राजा मानसिंह एक प्रतिभासम्पन्न राजा थे। वे कवि थे, विचारक थे। उन्होंने महाराजश्री के पास सन्देश भिजवाया। महाराजश्री ने उत्तर में कहा—जिन्हें जिज्ञासा है, वे स्वयं आकर जिज्ञासाओं का समाधान कर सकते हैं। जिज्ञासु राजा आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् आचार्यश्री से पूछा—

आचार्य-प्रवर, जैन आगमों में हजारों बातें ऐसी हैं जो बुद्धिगम्य नहीं हैं और पागलों के प्रलाप-सी प्रतीत होती है। यही कारण है कि बनियों के अतिरिक्त जैन धर्म को कोई नहीं मानता।

आचार्यश्री ने मधुर मुस्कान बिखेरते हुए कहा—राजन्! आपका यह मानना भ्रांतिपूर्ण है। स्वयं भगवान महावीर क्षत्रिय थे। वे सम्राट् सिद्धार्थ के पुत्र थे। उनके नाना चेटक गणतन्त्र के अधिपति थे। उनके शिष्य उस युग के जाने-माने हुए विद्वान् थे और शास्त्रार्थ करने में निपुण थे। भगवान महावीर के अनेक राजागण उपासक थे। आठ राजाओं ने महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर जैन धर्म की प्रभावना की और अनेक राजकुमारों ने, महारानियों ने भी संयम स्वीकार किया था और सम्राट श्रेणिक जैसे अनेक राजागण भी महावीर के परम भक्त थे। उसके पश्चात् भी सम्राट चन्द्रगुप्त ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। कुमारपाल जैसे प्रभावी राजा भी जैन धर्म के दिव्य प्रभाव से प्रभावित थे। अतः आपका यह कहना कि जैन धर्म बनियों का धर्म है, यह उचित नहीं है। आचार्य भद्रबाहु, समन्तभद्र, उमास्वाति,

सिद्धसेन दिवाकर, हेमचन्द्र, अभयदेव, हरिभद्र, यशोविजय आदि अनेकों ज्योतिर्धर आचार्य हुए हैं जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में हजारों ग्रन्थों की रचना की। इसलिए जैन धर्म एक वैज्ञानिक धर्म है। जैन आगम साहित्य में प्रत्येक पदार्थ का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। राजन्! आपने आगम साहित्य को पढ़ा नहीं है। अतः आपको ऐसा भ्रम हो गया है कि जैन आगमों में अनर्गल बातें हैं। वस्तुतः जैन आगमों में एक भी बात ऐसी नहीं है जो असंगत हो।

राजा मानसिंह ने कहा—

आचार्य प्रवर! आप कहते हैं कि आगम साहित्य में अनर्गल बातें नहीं है, तो देखिए जैन आगमों में बताया गया है कि जल की एक बूंद में असंख्य जीव हैं। यह कितनी बड़ी गप्प है। यदि कोई विद्वान् इसे सुने तो वह जैन आगमों का उपहास किये बिना नहीं रह सकता।

आचार्यश्री ने पुनः गंभीर वाणी में कहा—

राजन्! जिसकी दृष्टि जितनी तीक्ष्ण होगी वह उतनी सूक्ष्म वस्तु देख सकता है। तीर्थंकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते हैं। उनका कथन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। उन्होंने जो कहा है वह अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से देखकर कहा है।

मानसिंह—आचार्य प्रवर! आपको ताज्जुब होगा कि हमारे वैदिक परम्परा के शास्त्रों में इस प्रकार की कहीं पर भी गप्पें नहीं हैं जैसे कि जैन शास्त्रों में हैं।

आचार्यश्री ने कहा—

राजन्! किसी भी मत और सम्प्रदाय के सम्बन्ध में खण्डन करना हमारी नीति नहीं है। हम तो हंस की तरह जहाँ भी सद्गुण होते हैं वहाँ से ग्रहण कर लेते हैं, पर आपने जो कहा वह उचित नहीं है। आप कहते हैं इसीलिए मैं कहता हूँ कि वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में भी आपकी दृष्टि से अनेक गप्पें हैं। उदाहरणस्वरूप एक गाय की पूँछ में तेतीस कोटि देवताओं का निवास मानते हैं। वह कैसे सम्भव हो सकता है? क्या, आपने गाय की पूँछ में एकाध देवता भी कभी देखा है?

राजा मानसिंह—जैसे जैन शास्त्रों में असम्बद्ध बातें भरी पड़ी हैं, वैसे ही वैदिक परम्परा के शास्त्रों में भी हैं। मुझे दोनों ही बातें मान्य नहीं

हैं। मैं तो राजा हूँ जो न्याययुक्त बात होती है, उसे ही मैं स्वीकार करता हूँ, मिथ्या बातें नहीं मानता।

आचार्यश्री—राजन् ! आपका चिन्तन अपूर्ण है। मैं सप्रमाण सिद्ध कर सकता हूँ कि जैन आगम साहित्य में एक बात भी ऐसी नहीं है जिसे गप्प कहा जाय। हम भी लकीर के फकीर नहीं हैं। भगवान महावीर ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है—"**पन्ना समिक्खए धम्मतत्तं**"—बुद्धि की कसौटी पर कसकर देखें धर्म तत्व को। आपके अन्तर्मानस में जो यह शंका है कि जल की एक बूंद में असंख्यात जीव कैसे हो सकते हैं, मैं इसे सप्रमाण आपको आज से सातवें दिन बताऊंगा।

राजा मानसिंह नमस्कार कर लौट गये, किन्तु कहीं आचार्यश्री यहाँ से प्रस्थान न कर जायें अत: अपने एक सेवक को वहाँ पर नियुक्त कर दिया। उस समय आधुनिक विज्ञान इतना विकसित नहीं हुआ था और न ऐसे साधन ही थे जिससे सिद्ध किया जा सके। आचार्यश्री ने अपनी कमनीय कल्पना से चने की दाल जितनी जगह में एक कागज पर एक चित्र अंकित किया और जब सातवें दिन राजा मानसिंह उपस्थित हुआ तब उन्होंने वह चित्र सामने रखते हुए कहा—जरा देखिए, इस चित्र में क्या अंकित है ? राजा मानसिंह ने गहराई से देखने का प्रयास किया किन्तु यह स्पष्ट नहीं हो रहा था कि उसमें क्या चीज है ? तब आचार्य प्रवर ने उस पन्ने पर लिखित दोहे पढ़े—वे दोहे इस प्रकार हैं—

पृथ्वी अप तेऊ पवन, पंचमी वणसई काय।
तिल जितनी मांहि कह्या, जीव असंख्य जिनराय ॥१॥

कर्म शरीर इन्द्रियप्रजा, प्राण जोग उपयोग।
लेश्यादिक ऋद्धिवन्त को, लूटें अन्धा लोग ॥२॥

जीव सताओ जु जुवा, अनघड नर कहे एम।
कृत्रिम वस्तु सूझे नहीं, जीव बताऊं केम ॥३॥

दाल चिणों की तेह में बाधत है कछु घाट।
शंका हो तो देख लो, हाथी एक सौ आठ ॥४॥

जीव जतन निर्मल चित्ते, किधौ जीव उद्धार।
एक कर्म भय आदि को, मेटे यह उपगार ॥५॥

आचार्यश्री ने एक कांच के टुकड़े को विशेष औषध लगाकर तैयार किया था जो आइग्लास की तरह था, उसे राजा मानसिंह को देते हुए

कहा—आप इसकी सहायता से देखिए, इसमें क्या चित्र है ? राजा ने ज्यों ही देखा उनके आश्चर्य का पार न रहा। उस लघु स्थान में हाथी चित्रित थे, जिस पर लाल झूलें थी। जब राजा ने गिना तो वे १०८ की संख्या में थे। आचार्यश्री ने कहा—

पशुओं में सबसे बड़ा हाथी है, और उसे मैंने चित्रित किया है। वे भी आपकी आँखों से नहीं दिखायी दिये तो जल की बूंद में असंख्यात जीव आपको किस प्रकार दिखाई दे सकते हैं ? राजा मानसिंह के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। वह श्रद्धा से नत था। उसके हृत्तन्त्री के तार झनझना उठे कि वस्तुतः जैन आगमों में कोई मिथ्या कल्पना नहीं है। जैन श्रमणाचार्य के प्रति वे अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने कहा—

काहू की न आश राखे, काहू से न दीन भाखे,
करत प्रणाम ताको, राजा राणा जेबड़ा।
सीधी सी आरोगे रोटी, बैठा बात करे मोटी,
ओढ़ने को देखो जांके, धोला सा पछेवड़ा।
खमा खमा करें लोक, कदियन राखें शोक,
बाजे न मृदंग चंग, जग मांहि जे बड़ा।
कहे राजा मानसिंह, दिल में विचार देखो,
दुःखी तो सकल जन, सुखी जैन सेवड़ा॥

आचार्यश्री को नमस्कार कर श्रद्धा के साथ राजा मानसिंह विदा हुए। आचार्यश्री के सत्संग से राजा मानसिंह के जीवन में परिवर्तन हो गया और वे अब जैन श्रमणों का सम्मान करने लगे। जैन साहित्य के प्रति भी उनके मन में आस्था अंकुरित हो गयी।

आचार्य जीतमल जी महाराज ने प्रज्ञापना सूत्र के वनस्पति पद का सचित्र लेखन किया। जिन वनस्पतियों का उल्लेख टीकाकार ने वनस्पति-विशेष में किया उन वनस्पतियों के चित्र आपश्री ने बनाये और वे वनस्पतियाँ किन-किन रोगों में किस रूप में काम आती हैं और वनस्पतियों के परस्पर संयोग होने पर किस प्रकार सुवर्ण आदि निर्मित होते हैं आदि पर भी प्रकाश डाला।

अंगस्फुरण, पुरुष का कौन-सा शुभ है या कौन-सा अशुभ है, हाथ की रेखाएँ और उनमें कौनसे लक्षण अपेक्षित होते हैं, विजयपताका यन्त्र, ह्रींकार यन्त्र, सर्वतोभद्र यन्त्र तथा मन्त्र साहित्य, तन्त्र साहित्य पर आपने बहुत

लिखा था। आपने सूक्ष्माक्षर में एक पन्ने पर दशवैकालिक सूत्र, वीर स्तुति (पुच्छिसुर्ण) और नमि पवज्जा का लेखन किया था। राजस्थान, मध्यप्रदेश में आपका मुख्य रूप से विचरण रहा और आपने जैन धर्म की विजय-वैजयन्ती फहरायी।

आपने अठत्तर वर्ष तक शुद्ध संयम का पालन किया। जीवन की सान्ध्य वेला में आपश्री कुछ दिनों तक जोधपुर विराजे। जैन साधना में समाधिमरण का वरण करने वाला व्यक्ति धन्य माना जाता है। संयम की आराधना करते हुए परम आह्लाद के साथ जो मृत्यु का वरण करता है वह जागृत मृत्यु है। जिनमें भेद-विज्ञान होता है, आत्मा और शरीर की भिन्नता का जिसे बोध हो जाता है, वह देह के प्रति आसक्त नहीं होता और न वह मृत्यु से ही भयभीत होता है। किन्तु वह तो मृत्यु को सहर्ष स्वीकार करता है। आचार्य प्रवर ने चतुर्विध संघ से क्षमायाचना की और सन्थारा ग्रहण किया। एक मास तक सन्थारा चलता रहा। दिन-प्रतिदिन आपके परिणाम उज्ज्वल और उज्ज्वलतर होते गये। उस समय आपके सन्निकट योग्यतम शिष्य का अभाव था। आपने अपने एक शिष्य से गरम पानी मँगवाया और जो अत्यन्त श्रम से प्रज्ञापना सूत्र का वनस्पति पद, सचित्र तैयार किया था उसका कहीं दुरुपयोग न हो जाय, अतः आपने उसे पानी में डालकर नष्ट कर दिया। उस समय जोधपुर के प्रसिद्ध श्रावक वैदनाथ जी ने आपश्री से सनम्र प्रार्थना की कि भगवन्! आप यह अनमोल वस्तु क्यों नष्ट कर रहे हैं। आपश्री ने उन्हें कहा—इन सबका सारांश मैंने एक पन्ने में लिख दिया है जो समर्थ विद्वान होगा वह उससे सब कुछ समझ जायेगा और शेष व्यक्ति इसका दुरुपयोग नहीं करेंगे। अन्त में ज्येष्ठ शुक्ला दशमी के दिन संवत् १९१३ में आपका स्वर्गवास हो गया।

आपश्री के वर्षावास की सूची प्राचीन पत्र के अनुसार इस प्रकार है :—

१. उदयपुर	८. पाली
२. चावर	९. बालोत्तरा
३. जुनिया	१०. सोजत
४. बड़ोदरा	११. जालोर
५. चित्तौड़गढ़	१२. जोधपुर
६. अजमेर	१३. मेड़ता
७. जोधपुर	१४. उदयपुर

१५. पाली
१६. सोजत
१७. विशलपुर
१८. बीकानेर
१९. बघेरा
२०. बालोत्तरा
२१. जोधपुर
२२. जोधपुर
२३. रूपनगर
२४. जोधपुर
२५. बघेरा
२६. समदड़ी
२७. जोधपुर
२८. जालोर
२९. पाली
३०. जोधपुर
३१. बालोत्तरा
३२. नागौर
३३. जोधपुर
३४. पाली
३५. जयपुर
३६. जोधपुर
३७. कोटा
३८. बीकानेर
३९. जोधपुर
४०. बालोत्तरा
४१. जालोर
४२. उदयपुर
४३. जोधपुर
४४. कुचामण
४५. किशनगढ़
४६. जोधपुर
४७. जोधपुर
४८. अजमेर
४९. अजमेर
५०. जोधपुर
५१. सोजत
५२. अजमेर
५३. जोधपुर
५४. किशनगढ़
५५. उदयपुर
५६. जोधपुर
५७. जोधपुर
५८. अजमेर
५९. जोधपुर
६०. पाली
६१. अजमेर
६२. जोधपुर
६३. पाली
६४. जोधपुर
६५. जोधपुर
६६. जोधपुर
६७. अजमेर
६८. अजमेर
६९. जोधपुर
७०. जोधपुर
७१. जोधपुर
७२. पाली
७३. जोधपुर
७४. जोधपुर
७५. चौपासनी
७६. जोधपुर
७७. जोधपुर
७८. जोधरपु

श्रमण भगवान महावीर स्वामी के राजगृह नगर में १४ चातुर्मास हुए तो आपश्री के जोधपुर में ३० चातुर्मास हुए। उसका मुख्य कारण कुछ सन्त वृद्धावस्था के कारण वहाँ पर अवस्थित थे तो उनकी सेवा हेतु आपश्री को वहाँ पर चातुर्मास करना आवश्यक हो गये थे।

आचार्यश्री जीतमलजी महाराज की शिष्य परम्परा

आचार्यश्री जीतमलजी महाराज एक महान् प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य थे। उनके कुल कितने शिष्य हुए ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर यह सत्य है कि उनके दो मुख्य शिष्य थे—प्रथम किशनचन्दजी महाराज और द्वितीय ज्ञानमलजी महाराज। ज्ञानमलजी महाराज और उनकी परम्परा का परिचय विस्तार के साथ मैंने अगले पृष्ठों में दिया है। किशनचन्दजी महाराज एक प्रतिभासम्पन्न सन्त रत्न थे। आपका जन्म अजमेर जिले के मनोहर गाँव में वि० सं० १८४३ में हुआ। आपके पिता का नाम प्यारेलालजी और माता का नाम सुशीलादेवी था। जाति से आप ओसवाल थे। आपने वि० सं० १८५३ में आचार्यश्री के पास दीक्षा ग्रहण की। आपको आगम साहित्य, स्तोक साहित्य का अच्छा परिज्ञान था। आपके हाथ के लिखे हुए पन्ने जोधपुर के अमर जैन ज्ञान भण्डार में आज भी सुरक्षित हैं। उनमें मुख्य रूप से आगम, थोकड़े व रास, भजनादि साहित्य है।

वि० सं० १६०८ में आचार्यश्री जीतमलजी महाराज के सान्निध्य में ही आपश्री का स्वर्गवास हुआ। किशनचन्दजी महाराज के शिष्य हुकमचन्दजी महाराज थे। आपकी जन्मस्थली जोधपुर थी। वि० सं० १८८२ में आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम नथमलजी तथा माता का नाम राजीबाई था और वे स्वर्णकार थे। आपके गृहस्थाश्रम का नाम हीराचन्द था। आपश्री ने वि० सं० १८९८ में किशनचन्द जी महाराज साहब के शिष्यत्व को ग्रहण किया। आप कवि भी थे। आपकी कुछ लिखी हुए कविताएँ जोधपुर के अमर जैन ज्ञान भण्डार में प्राप्त होती हैं और बहुत-सा कविता साहित्य जो सन्तों के पास में था, वह नष्ट हो गया। आपका आगम साहित्य का अध्ययन बहुत ही अच्छा था। गणित विद्या के विशेषज्ञ थे। चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति के रहस्यों के ज्ञाता थे। आपके मुख्य चातुर्मास जोधपुर, पाली, जालोर, जूठा, हरसोल, रायपुर, सालावास, बड़ और समदड़ी में हुए थे। सं० १९४० के भादवा बदी दूज को चार दिन के संथारे के पश्चात् जोधपुर में आपका स्वर्गवास हुआ। आपश्री के रामकिशनजी महाराज मुख्य शिष्य थे। आपकी

जन्मस्थली जोधपुर थी। सं० १९११ में भादवा कृष्ण चौदस मंगलवार को आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम गंगारामजी और माता का नाम कुन्दन कुंवर था। गृहस्थाश्रम में आपका नाम मिट्ठालाल था। वि० सं० १९२५ के पौष बदी ११ को गुरुवार बडु ग्राम में आपने दीक्षा ग्रहण की। आपकी लिपि बड़ी सुन्दर थी। आपने पालनपुर, सिद्धपुर, पाटन, सूरत, अहमदाबाद, खम्भात और मौर्वी आदि महागुजरात के क्षेत्रों में विचरण किया। राजस्थान में जोधपुर, सोजत, पाली, समदड़ी, जालोर, सिवाना खण्डप, हरसोल, जूठा, रायपुर, बडु, बोरावल, कल्याणपुर, दूंदाड़ा, बालोत्तरा, कर्मावस प्रभृति क्षेत्रों में आपका मुख्य रूप से विहार क्षेत्र और वर्षावास हुए। वि० सं० १९६० ज्येष्ठ वदी १४ को संथारापूर्वक जोधपुर में आपका स्वर्गवास हुआ।

श्री रामकिशनजी महाराज के शिष्य-रत्न थे, नारायणचन्दजी महाराज। आपका जन्म बाड़मेर जिले के सणदरी ग्राम में हुआ। आपके पिताश्री का नाम चेलाजी और माता का नाम राजाजी था। वि० सं० १९५२ पौष कृष्णा १४ के दिन आपका जन्म हुआ। जब आपकी उम्र ५ वर्ष की थी, आपके पिताश्री का देहान्त हो गया, तब आपकी मातेश्वरी अपने पितृगृह थोब ग्राम में रहने लगीं। वहीं पर आचार्यश्री अमरसिंहजी महाराज की सम्प्रदाय की आनन्द कुंवरजी ठाणा ९ वहाँ पधारीं। उनके उपदेश से माता और पुत्र दोनों को वैराग्य भावना उत्पन्न हुई और आत्मार्थी श्री ज्येष्ठमलजी महाराज के सन्निकट आपने मातेश्वरी के साथ सं० १९६७ में माघ पूर्णिमा के दिन दीक्षा ग्रहण की। ज्येष्ठमलजी महाराज ने आपको रामकिशनजी महाराज का शिष्य घोषित किया और आपश्री ने उन्हीं के नेश्रय में रहकर आगम साहित्य का व स्तोक साहित्य का अच्छा अभ्यास किया। आपकी लिपि बड़ी सुन्दर थी। आपकी प्रवचन-कला मधुर, सरस व चित्ताकर्षक थी। आपश्री के दो शिष्य हुए—प्रथम शिष्य का नाम **मुलतानमलजी महाराज** था जिनकी जन्मस्थली बाड़मेर जिले का वागावास थी। आपके पिता का नाम दानमलजी और माता का नाम नैनीबाई था। सं० १९५७ में आपका जन्म हुआ। आपकी बुद्धि तीक्ष्ण थी। आपने वि० सं० १९७० में समदड़ी में दीक्षा ग्रहण की। वि० सं० १९७५ में आपका स्वर्गवास हुआ।

नारायणचन्दजी महाराज के दूसरे शिष्य **प्रतापमलजी महाराज** थे। आपका जन्म सं० १९६७ में हुआ। आप गृहस्थाश्रम में जाट परिवार के थे।

आपका नाम रामलालजी था। उपाध्याय पुष्कर मुनिजी के साथ सं० १९८१ ज्येष्ठ शुक्ला १० को जालोर में दीक्षा हुई और आपका नाम मुनिश्री प्रतापमलजी महाराज रखा गया। आप बहुत ही सेवाभावी सन्त रत्न थे। आपने अपने गुरुवर्य नारायणचन्दजी महाराज की अत्यधिक सेवा की। नारायणचन्दजी महाराज का दिनांक १८-९-१९५४ के आसोज सुदी ५ शुक्रवार को दुन्दाड़ा ग्राम में संथारे से स्वर्गवास हुआ और स्वामी नारायणचन्दजी महाराज के स्वर्गवास के चार महीने के पश्चात् प्रतापमलजी महाराज का जोधपुर में स्वर्गवास हुआ। उनके कोई शिष्य नहीं थे। इस प्रकार किशनचन्दजी महाराज की पद-परम्परा रही।

ज्योतिर्धर आचार्यश्री जीतमलजी महाराज का व्यक्तित्व बहुत ही तेजस्वी था और कृतित्व अनूठा था। आप में वे सभी सद्गुण थे जो एक महापुरुष में अपेक्षित होते हैं। आपकी आकृति में बिजली-सी चमक थी। आपकी आँखों से छलकता हुआ वात्सल्य रस का स्रोत दर्शक को आनन्द-विभोर कर देता था। आपश्री के शासन काल में सम्प्रदाय की हर दृष्टि से काफी अभिवृद्धि हुई। आपके ग्रन्थ, आपकी चित्रकला आपके ज्वलन्त कीर्तिस्तम्भ के रूप में आज भी विद्यमान हैं।

●

४

महामहिम आचार्य

पूज्य श्री ज्ञानमलजी महाराज

महामनस्वी आचार्यश्री ज्ञानमलजी महाराज का व्यक्तित्व विराट था। उनका तेजस्वी व्यक्तित्व जन-जन के लिए प्रेरणा-स्रोत था। उन्होंने अपने जीवन का ही निर्माण नहीं किया किन्तु अनेकों व्यक्तियों का भी निर्माण किया। उनके जीवन की समताओं को पल्लवित, पुष्पित और फलित होने का सुअवसर प्रदान किया। जीवन का निर्माण वही व्यक्ति कर सकता है जिसके हृदय में सद्भावना हो, स्नेह का सागर लहराता हो। आचार्यप्रवर ज्ञानमल जी महाराज का मानस जहाँ कुसुम-सा कोमल था वहाँ अनुशासन की दृष्टि से वज्र से भी अधिक कठोर था। स्नेह-सहानुभूतियुक्त अनुशासन ही निर्माण में सहायक होता है।

आचार्यश्री ज्ञानमलजी महाराज का जन्म राजस्थान के सेतरावा ग्राम में हुआ था। आपके पूज्य पिताश्री का नाम जोरावरमलजी गोलेछा और माता का नाम मानदेवी था। ओसवाल वंश और गोलेछा जाति थी। वि० संवत् १८६० की पौष कृष्णा छठ मंगलवार को आपका जन्म हुआ। जन्म के पूर्व माता ने स्वप्न में एक प्रकाशपुञ्ज को अपनी ओर आते हुए देखा और उस प्रकाशपुञ्ज में से एक आवाज आयी—माँ, मैं तुम्हारे पास आ रहा हूँ। माता मानदेवी ने कहा—जरूर आओ, मैं तुम्हारा स्वागत करती हूँ। मानदेवी ने प्रातः अपने पति जोरावरमल जी से स्वप्न की बात कही कि आज मुझे इस प्रकार का श्रेष्ठ स्वप्न आया है। जोरावरमलजी ने प्रसन्नता से कहा—तुम्हारे पुत्र होगा, प्रकाशपुञ्ज ज्ञान का प्रतीक है। लगता है तुम्हारा पुत्र लक्ष्मी-पुत्र के साथ सरस्वती-पुत्र भी बनेगा और वह हमारे कुल के नाम को रोशन करेगा।

सवा नौ मास पूर्ण होने पर बालक का जन्म हुआ। जोरावरमलजी ने ज्योतिषी से कुण्डली बनवाई। कुण्डली के आधार पर ज्योतिषी ने कहा—यह बालक योगीराज बनेगा। यह बहुत ही भाग्यशाली है, किन्तु तुम्हारे घर

पर नहीं रहेगा। जिसने भी बालक को देखा वह हर्ष से नाच उठा। उस बालक का नाम ज्ञानमल रखा गया।

वि० संवत् १८६६ में आचार्यप्रवर जीतमलजी महाराज अपने शिष्यों के साथ विहार करते हुए सेतरावा पधारे। आचार्यप्रवर के पावन प्रवचन को सुनकर बालक ज्ञानमल के अन्तर्मानस में वैराग्यांकुर उद्‌बुद्ध हुआ। उसने अपने माता-पिता से दीक्षा की अनुमति माँगी। माता-पिता ने विविध उदाहरण देकर संयम-साधना की दुष्करता बताकर और संसार के सुखों का प्रलोभन देकर उसके वैराग्य के रंग को मिटाने का प्रयास किया, किन्तु उसका वैराग्य-रंग हल्दी का रंग नहीं था जो जरा-से प्रलोभनों की धूप लगते ही धुल जाता। बालक ज्ञानमल की उत्कृष्ट वैराग्य भावना को देखकर माता-पिता को अनुमति देनी पड़ी और संवत् १८६६ पौष कृष्णा तीज बुधवार को झाला मण्डप, जो जोधपुर के सन्निकट है, वहाँ हजारों मनुष्यों की उपस्थिति में दीक्षा की विधि सम्पन्न हुई। दीक्षा देने वाले थे आचार्य अमरसिंहजी महाराज के चतुर्थ पट्टधर आचार्य जीतमलजी महाराज और दीक्षित होने वाले ज्ञानमलजी।

मुनि ज्ञानमलजी में विनय और विवेक का मणि-कांचन योग था। उनकी बुद्धि बहुत ही प्रखर थी। साथ ही चारित्र की अनुपालना में भी वे अत्यधिक जागरूक थे। उनकी विशेषताओं ने आचार्यश्री को आकर्षित किया। आचार्यश्री ने आगम ग्रन्थों का अध्ययन कराया, लिपि-कौशल सिखाया, और साथ ही अन्य तत्वों का भी परिज्ञान कराया। आप बहुत ही शान्त, दान्त और गम्भीर प्रकृति के सन्तरत्न थे। अन्त में आचार्य जीतमलजी महाराज ने आपको अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। जब वि० संवत् १९१२ में आचार्य जीतमलजी महाराज का स्वर्गवास हो गया तब शासन की बागडोर आपके हाथ में आयी। आपने आचार्यकाल में राजस्थान, मध्यप्रदेश के विविध अंचलों में विचरण कर धर्म की प्रभावना की।

आचार्यप्रवर का वि० संवत् १९३० में चातुर्मास जालोर में था। प्रतिदिन आचार्यश्री के प्रभावशाली प्रवचन होते। जैन संस्कृति का महान् पर्व पर्युषण सानन्द सम्पन्न हुआ। आचार्यश्री ने चतुर्विध संघ से प्रातःकाल क्षमायाचना की और स्वयं एक पट्ट पर पद्मासन की मुद्रा में विराजकर भक्तामर स्तोत्र का पाठ किया और "अरिहन्ते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि, साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि" का उच्चारण करते हुए स्वर्गस्थ हो गये।

आचार्यप्रवर का एकाएक स्वर्गवास समाज के लिए एक चिन्ता का विषय था, किन्तु आपश्री के योग्यतम शिष्य पूनमचन्दजी थे। उन्हें आपके पट्ट पर आसीन किया गया। आचार्यप्रवर के द्वारा लिखे गये अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ ज्ञानभण्डारों में हैं। आपकी लिपि चित्ताकर्षक थी। आपने मौलिक ग्रन्थों का सृजन भी किया, किन्तु वे ग्रन्थ मुझे प्राप्त नहीं हुए।

आचार्य श्री पूनमचन्दजी महाराज

महापुरुषों के जीवन में कुछ ऐसी स्वाभाविक विशेषताएँ होती हैं जो जन-मानस को एक अभिनव प्रेरणा और आलोक प्रदान करती हैं। उनका जीवन जन-जन के लिए एक वरेण्य, वरदान सदृश होता है। महामनस्वी, प्रतिभा-मूर्ति आचार्यश्री पूनमचन्दजी महाराज इसी कोटि के महामानव थे। उनके जीवन में अध्यात्म की ज्योत्स्ना, साधना की आभा और ज्ञान की ज्योति सर्वत्र अनुस्यूत थी। उनकी चिन्तनधारा सत्योन्मुखी थी। वे अध्यात्म वैभव के धनी महापुरुष थे। वे स्वयं प्रकाशपुञ्ज थे। उन्होंने आसपास के वातावरण को भी प्रकाशमय बनाया। वे पारदर्शी स्फटिक थे। उनकी स्वच्छता में प्रत्येक व्यक्ति अपना प्रतिबिम्ब देख सकता था।

आपश्री का जन्म राजस्थान के सुप्रसिद्ध नगर जालोर में हुआ था। आपके पिताश्री का नाम 'ऊमजी' था और माता का नाम फूलादेवी। आपका वंश ओसवाल और गोत्र राय गान्धी था। वि० संवत् १८९२ की मार्गशीर्ष शुक्ला नवमी शनिवार के दिन आपका जन्म हुआ था। आपका प्रारम्भिक अध्ययन जालोर में प्रारम्भ हुआ। आचार्यप्रवर ज्ञानमलजी महाराज के पावन उपदेश को श्रवण कर ग्यारह वर्ष की लघुवय में आपके अन्तर्मानस में वैराग्य भावना जागृत हुई। आपकी ज्येष्ठ भगिनी तुलसाजी के मन में तो पहले से ही दीक्षा की भावना थी और आचार्यश्री के उपदेश से उसकी भावना अधिक बलवती हो गयी। आप दोनों ने पूज्य पिता से दीक्षा के लिए अनुमति चाही। किन्तु पूज्य पिताजी ने साधना की अतिदुष्करता बताकर पहले तो दीक्षा लेने की अनुमति नहीं दी, किन्तु अन्त में पुत्र-पुत्री के अत्यधिक आग्रह को देखकर पिता ने अनुमति दे दी।

पूनमचन्दजी के चाचा का लड़का जो जालोर में ही कोतवाल था,

जब उसने भाई-बहन की दीक्षा की बात सुनी तो समझाने का प्रयास किया। जब आपको पूर्ण रूप से दीक्षा के लिए कटिबद्ध देखा तो उसने अन्य उपाय न देखकर एक कमरे में आपको बन्द कर दिया। किन्तु भाग्यवशात् कमरे की खिड़की जो मकान से बाहर की ओर थी, वह खुली रह गयी। उस खिड़की में से आप निकलकर जंगलों में लुकते-छिपते जोधपुर पहुँचे और पिताश्री का आज्ञा पत्र आचार्यश्री के चरणों में रखकर दीक्षा के लिए प्रार्थना की। पिता की आज्ञा होने से आचार्यश्री को दीक्षा देने में किसी प्रकार की बाधा नहीं थी। शुभ मुहूर्त में दीक्षा की तैयारी प्रारम्भ हुई। बालक पूनमचन्द शोभा-यात्रा के रूप में दीक्षा के लिए घोड़े पर बैठकर मध्य बाजार के बीच में से जा रहा था। आचार्य ज्ञानमलजी महाराज दीक्षास्थल पर पहुँच चुके थे। बालक पूनमचन्द के फूफाजी जोधपुर में रहते थे। उन्हें पता लगा कि बालक पूनमचन्द जालोर से भागकर यहाँ आया है और वह श्रमणदीक्षा ग्रहण करने जा रहा है। अतः वे शीघ्र ही आरक्षक दल के अधिकारी के पास पहुँचे और आरक्षक दल के अधिकारी को लेकर बालक पूनमचन्द जो दीक्षा लेने के लिए जा रहा था उसके घोड़े को रोक दिया और अपने घर ले आये। बुआ ने बालक को विविध दृष्टियों से रूपक देकर समझाने का प्रयास किया कि तू बालक है; अतः दीक्षा ग्रहण न कर। हमारे घर में किसी भी बात की कमी नहीं है। जोधपुर नरेश भी हमारे पर प्रसन्न हैं। फिर तू संयम क्यों ले रहा है ? बालक पूनमचन्द ने कहा—बुआजी, दीक्षा किसी वस्तु की कमी के कारण नहीं ली जाती। जो किसी वस्तु की कमी के कारण दीक्षा लेता है वह दीक्षा का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता। बुभुक्षु दीक्षा का अधिकारी नहीं, किन्तु सच्चा मुमुक्षु ही दीक्षा लेता है। आप चाहे कितना भी प्रयास करें तथापि मैं संसार में न रहूँगा और दीक्षा ग्रहण कर जैन श्रमण बनूँगा। तथापि मोह के कारण बुआ ने उसे कमरे में बन्द कर दिया और द्वार तथा खिड़कियों के ताले लगवा दिये। एक महीने तक वह कमरे में बन्द रहा। किन्तु एक दिन बुआ एक खिड़की का ताला लगाना भूल गयी थी। अतः उस खिड़की के रास्ते से बालक पूनम घर से बाहर निकल गया और लुकता-छिपता जालोर पहुँच गया और अपनी बहन तुलसाजी को उन्होंने अपने हृदय की बात कही। बहन तुलसा ने कहा—भाई, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करती-करती परेशान हो गयी हूँ। पता नहीं, तुम्हारी दीक्षा कब होगी। आचार्यप्रवर अभी यहाँ आये हुए हैं। अतः मैं पिता को कहकर दीक्षा ग्रहण करती हूँ। पिता की अनुमति से पुनः दोनों भाई-बहन दीक्षा के लिए तैयार हुए और ज्यों ही दीक्षा के लिए वे नगर के द्वार पर पहुँचे त्यों ही काका का पुत्र जो कोतवाल

था, वह वहाँ आ पहुँचा और बालक पूनम का हाथ पकड़कर अपने घर ले चला। सभी इनकार होते रहे, किन्तु उसने किसी की भी न सुनी। बहन तुलसा ने वहीं पर सत्याग्रह कर दिया कि अब मैं पुनः घर नहीं जाऊँगी। अतः विवश होकर बहन तुलसा को उसी दिन दीक्षा देने की अनुमति प्रदान की। बालक पूनम ने भी अत्यधिक आग्रह किया तो कोतवाल का कठोर दिल पिघल गया और उसने कहा—तू जालोर में तो दीक्षा नहीं ले सकता। यदि तुझे दीक्षा लेनी ही है तो जालोर के अतिरिक्त कहीं पर भी दीक्षा ले सकेगा। तीन वर्ष तक मैं तेरी हर दृष्टि से परीक्षा कर चुका। अतः तुझे मैं अब अनुमति देता हूँ। बालक पूनम ने अपने भ्राता कोतवाल की बात स्वीकार कर ली और जालोर से २०-२५ मील दूर भँवरानी ग्राम में बड़े ही उत्साह के साथ आपकी दीक्षा सम्पन्न हुई। दीक्षा का दिन वि० संवत् १९०६ माघ शुक्ला नवमी मंगलवार था। इस प्रकार ग्यारह वर्ष की उम्र में वैराग्य भावना जागृत हुई थी किन्तु तीन वर्ष तक विविध बाधाओं को सहन करने के पश्चात् चौदह वर्ष की उम्र में आपकी दीक्षा सम्पन्न हुई। आपने आचार्य श्री के सान्निध्य में आगम और दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। आपका रूप पूनम के चाँद की तरह सुहावना था। आपके रूप और प्रतिभा पर मुग्ध होकर एक यति ने आपसे निवेदन किया कि स्थानकवासी परम्परा के श्रमणों को अत्यधिक कष्ट उठाना पड़ता है। न उन्हें समय पर खाने को मिलता है और न सुन्दर भवन ही मिलते हैं। आपका शरीर बहुत ही सुकुमार है, वह इन सभी कष्टों को सहन करने में अक्षम है। एतदर्थ मेरा नम्र निवेदन है कि आप यति बन जायँ तो मैं आपको यतियों का श्रीपूज्य बना दूँगा। यतियों का श्रीपूज्य बनना बहुत ही भाग्य की निशानी है। क्योंकि श्रीपूज्य के पास लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति होती है। उनके पास अधिकार होते हैं। वे जमीन पर पैर भी नहीं रखते। चलते समय उनके पैरों के नीचे पावडे बिछा दिये जाते हैं और खाने के लिए बढ़िया से बढ़िया मन के अनुकूल पदार्थ मिलते हैं। जीवन की प्रत्येक सुविधा उन्हें उपलब्ध है।

मुनि पूनमचन्दजी ने यति को कहा—यतिवर, मेरे स्वय के घर में कौनसी कमी थी? यदि मुझे खाना-पीना और मौज-मजा ही करना होता तो फिर साधु क्यों बनता? साधु बनकर इस प्रकार का संकल्प करना ही मन की दुर्बलता है। मैं साधना के महापथ पर वीर सेनानी की तरह निरन्तर आगे बढ़ूँगा। शरीर भले ही मेरा कोमल हो, किन्तु मन मेरा दृढ़ है। मैं तो तुम्हें भी प्रेरणा देता हूँ कि भौतिकवाद की चकाचौंध में साधना को विस्मृत होकर आत्मवंचना न करो।

यति के पास कोई उत्तर नहीं था। वह नीचा सिर किये हुए वहाँ से चल दिया। आपश्री ने प्रवचन कला में विशेष दक्षता प्राप्त की। आपश्री के प्रवचनों में आगम के गहन रहस्य सुगम रीति से व्यक्त होते थे। कठिन से कठिनतर विषय को भी आप सरल, सुबोध रीति से प्रस्तुत करते थे जिसे सुनकर श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। आपश्री ने जोधपुर, बीकानेर, उदयपुर, कोटा, ब्यावर, पाली, शहापुरा, अजमेर, किसनगढ़, फलौदी, जालोर, बगड़ुंदा, कूचामण, समदडी, पंचभद्रा प्रभृति क्षेत्रों में वर्षावास किये। आप जहाँ भी पधारे वहाँ पर धर्म की अत्यधिक प्रभावना हुई।

आपश्री के मानमलजी महाराज, नवलमलजी महाराज, ज्येष्ठमलजी महाराज, दयालचन्दजी महाराज, नेमीचन्दजी महाराज, पन्नालालजी महाराज और ताराचन्दजी महाराज—ये सात शिष्य थे जो सप्तर्षि की तरह अत्यन्त प्रभावशाली हुए।

आचार्य पूनमचन्दजी महाराज के प्रथम शिष्य मानमलजी महाराज थे। उनकी जन्मस्थली गढ़जालोर थी। वे लूणिया परिवार के थे। उन्होंने अपनी माँ और बहन के साथ आर्हती दीक्षा ग्रहण की थी। उनके शिष्य बुधमलजी महाराज थे, जो कवि, वक्ता और लेखक थे।

आचार्यश्री के द्वितीय शिष्य नवलमलजी महाराज थे, जो एक विलक्षण मेधा के धनी थे। किन्तु आपका पाली में लघुवय में ही स्वर्गवास हो गया।

आचार्यश्री के तीसरे शिष्य ज्येष्ठमलजी महाराज थे जो महान् चमत्कारी थे। उनका परिचय स्वतन्त्र रूप से अगले पृष्ठों में दिया गया है। ज्येष्ठमलजी महाराज के दो शिष्य थे। प्रथम शिष्य नेणचन्दजी महाराज थे जो समदड़ी के निवासी और लुंकड़ परिवार के थे। आपका अध्ययन संस्कृत और प्राकृत भाषा के साथ आगम साहित्य का बहुत ही सुन्दर था। आपकी प्रवचनकला चित्ताकर्षक थी। आपश्री के द्वितीय शिष्य तपस्वी श्री हिन्दूमल जी महाराज थे। इनकी जन्मस्थली गढ़सिवाना में थी। इन्होंने अपने भरे-पूरे परिवार को छोड़कर दीक्षा ग्रहण की थी और जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन से पाँच विगयों का परित्याग कर दिया और उसके साथ ही उत्कृष्ट तप भी करते रहते थे और पारणे में वही रुखी रोटी और छाछ ग्रहण करते थे।

आचार्यश्री के चतुर्थ शिष्य दयालचन्दजी महाराज थे। आप मजल (मारवाड़) के निवासी थे। मुथा परिवार में आपका जन्म हुआ था। नौ

वर्ष की लघुवय में पूज्यश्री के पास वि० संवत् १९३१ में गोगुन्दा (मेवाड़) में दीक्षा ग्रहण की। आपका स्वभाव बड़ा ही मधुर था। आपके हेमराजजी महाराज शिष्यरत्न थे जिनकी जन्मस्थली पाली—मारवाड़ थी। आप जाति से मालाकार थे। आपने वि० सं० १९६० में दीक्षा ग्रहण की थी। आप ओजस्वी वक्ता थे। आपका गंभीर घोष श्रवण कर श्रोता झूम उठते थे। आपका स्वभाव बहुत ही मिलनसार था। आपश्री ने गढ़जालोर में एक विराट् पुस्तकालय की संस्थापना की थी। पर, खेद है कि श्रावकों की पुस्तकों के प्रति उपेक्षा होने से वे सारे बहुमूल्य ग्रन्थ दीमकों के उदर में समा गये। पंडित मुनिश्री हेमराज महाराज का वि० संवत् १९९७ में दुन्दाड़ा ग्राम में संथारापूर्वक स्वर्गवास हुआ और वि० संवत् २००० में दयालचन्दजी महाराज साहब का गढ़ जालोर में स्वर्गवास हुआ।

आचार्यश्री के पांचवें शिष्य कविवर नेमीचन्दजी महाराज थे। आपका विशेष परिचय अगले लेख में स्वतन्त्र रूप से दिया है। आपश्री के तीन शिष्य थे। सबसे बड़े वर्दीचन्दजी महाराज थे। वे मेवाड़ के बगड़ुंडा गाँव के निवासी थे। आपने लघुवय में दीक्षा ग्रहण की। वि० संवत् १९५६ में पंजाब के प्रसिद्ध सन्त मायारामजी महाराज मेवाड़ पधारे। कविवर नेमीचन्दजी महाराज के साथ उनका बहुत ही मधुर सम्बन्ध रहा। वर्दीचन्दजी महाराज की इच्छा मायारामजी महाराज के साथ पंजाब क्षेत्र स्पर्शने की हुई। कविवर्य नेमीचन्दजी महाराज ने उन्हें सहर्ष अनुमति दी। वे पंजाब में पधारे। उनके शिष्य शेरे-पंजाब प्रेमचन्दजी महाराज हुए जो प्रसिद्ध वक्ता और विचारक थे। उनकी प्रवचन-कला बहुत ही अद्भुत थी। जब वे दहाड़ते थे तो श्रोता दंग हो जाते थे।

कविवर्य नेमीचन्दजी महाराज के द्वितीय शिष्य हंसराजजी महाराज थे। वे मेवाड़ के देवास ग्राम के निवासी थे और बाफना परिवार के थे।

आपकी प्रकृति बहुत ही भद्र थी। आप महान् तपस्वी थे, आपने अनेक बार साठ उपवास किये, कभी इकावन किये, कभी मासखमण किये। वि० संवत् में आपका स्वर्गवास हुआ। आपके तीसरे शिष्य दौलतरामजी महाराज थे जो देलवाड़ा के निवासी थे और आपका जन्म लोढा परिवार में हुआ था। आप जपयोगी सन्त थे।

आचार्यश्री के छठे शिष्य पन्नालालजी महाराज थे। आप गोगुन्दा—मेवाड़ के निवासी थे। लोढा परिवार में आपका जन्म हुआ था। वि०

संवत् १९४२ में आपने दीक्षा ग्रहण की थी। आपका गला बहुत ही मधुर था। कविवर नेमीचन्दजी और आप दोनों गुरुभ्राता जब मिलकर गाते थे तो रात्रि के शांत वातावरण में आपकी आवाज २-३ मील तक पहुँचती थी। आपश्री का स्वर्गवास मारवाड़ के राणावास ग्राम में हुआ। आपके सुशिष्य तपस्वी प्रेमचन्दजी महाराज थे जो उत्कृष्ट तपस्वी थे। भीष्म ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की चिलचिलाती धूप में आप आतापना ग्रहण करते थे और जाड़े में तन को कँपाने वाली सनसनाती सर्दी में रात्रि के अन्दर वे वस्त्रों को हटाकर शीत-आतापना लेते थे। आप आगम साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। वि० संवत् १९८३ में मोकलसर ग्राम में आपका स्वर्गवास हुआ। आपके सुशिष्य उत्तमचन्दजी महाराज थे जो मेवाड़ के कपासन ग्राम के सन्निकट एक लघु ग्राम के निवासी थे। आप जाति के मालाकार थे। वि० संवत् १९५६ में आपने दीक्षा ग्रहण की। आप आगम साहित्य व थोकड़े साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। आपकी प्रकृति बहुत ही भद्र थी। आपका प्रवचन मधुर होता था। वि० संवत् २००० में मोकलसर ग्राम में आपका स्वर्गवास हुआ। आपश्री के दो शिष्य थे—जुवारमलजी महाराज और बाघमलजी महाराज, जिनकी जन्मभूमि क्रमशः बागावास और पाटोदी थी। जुवारमलजी महाराज तपस्वी थे। आपकी प्रकृति सरल और भद्र थी। बाघमलजी महाराज को थोकड़ों का बहुत ही अच्छा परिज्ञान था। आपको सैकड़ों थोकड़े कण्ठस्थ थे।

आचार्यश्री के सातवें शिष्य ताराचन्दजी महाराज थे, जिनका परिचय अगले पृष्ठों में दिया गया है। आपश्री के सुशिष्य उपाध्याय पुष्कर मुनिजी महाराज, पंडित हीरामुनिजी महाराज और तपस्वी भैरूलालजी महाराज—ये तीन शिष्य हैं। उपाध्यायश्री के देवेन्द्रमुनि, शांतिमुनि, गणेशमुनि, रमेश-मुनि, दिनेशमुनि और नरेशमुनि शिष्य हैं और देवेन्द्रमुनि के राजेन्द्रमुनि तथा गणेशमुनि के जिनेन्द्रमुनि और प्रवीणमुनि शिष्य हैं। इनका परिचय वर्तमान युग के सन्त-सती वृन्द के परिचय के अन्तर्गत दिया गया है। हीरामुनि के भगवतीमुनि शिष्य हैं।

पंडित प्रवर श्री पूनमचन्दजी महाराज महान प्रतिभासम्पन्न थे। विक्रम संवत् १९५० में माघ कृष्णा सप्तमी को जोधपुर में चतुर्विध संघ ने आपश्री को योग्य समझ कर आचार्य पद प्रदान किया। आचार्यश्री ज्ञानमलजी महाराज का स्वर्गवास संवत् १९३० में हुआ था। उसके पश्चात् बीस वर्ष तक आचार्य पद रिक्त रहा, यद्यपि आपश्री आचार्य की तरह संघ

का संचालन करते रहे। किन्तु पारस्परिक मतभेद की स्थिति के कारण एकमत से निर्णय नहीं हुआ था। इसका मूल कारण यह भी था कि आचार्य प्रवर ज्ञानमलजी महाराज ने अपना उत्तराधिकारी पूर्वघोषित नहीं किया था जिसके फलस्वरूप यह स्थिति उत्पन्न हुई थी। किन्तु आपश्री संघ का कुशल संचालन करते रहे जिससे प्रभावित होकर अन्त में संघ ने आपश्री को आचार्य चुना।

वि० सं० १९५२ का चातुर्मास आचार्यप्रवर का अपनी जन्मभूमि गढ़-जालोर में था। प्रस्तुत वर्षावास में आचार्यश्री के तेजस्वी व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रभावित होकर शताधिक व्यक्ति जैनधर्म के अभिमुख हुए। जैनधर्म और जैन संस्कृति में पण्डित-मरण का अत्यधिक महत्व है। प्रतिपल प्रतिक्षण साधक की यही प्रशस्त भावना रहती है कि वह दिन कब होगा जब मैं पंडित-मरण को प्राप्त करूँगा। आचार्यप्रवर जागरूक थे। शरीर में कुछ व्याधि समुत्पन्न होने पर आचार्यश्री ने वीर सेनानी की तरह मुस्कराते हुए संल्लेखना सहित संथारा ग्रहण किया। ग्यारह दिन का संथारा आया और सं० १९५२ के भाद्रपद पूर्णिमा के दिन आपने समाधिपूर्वक स्वर्ग की राह ली।

सहस्राधिक भावुक भक्तगण जय-जय के गगनभेदी नारों से चतुर्दिशाओं को मुखरित करते हुए शोभायात्रा की तैयारी करने लगे। जनता ने श्रद्धावश एक भव्य विमान का निर्माण किया था। उसमें आचार्यप्रवर का विमुक्त शरीर रखा गया था। सभी उसे लेकर श्मशान पहुँचे। शरीर का दाहसंस्कार करने के लिए चन्दन की चिता लगायी गयी। ज्योतिपुञ्ज का वह विमुक्त शरीर ज्योति से प्रज्वलित हो उठा। अगरु की सुगन्ध से वातावरण महक उठा। घी, कपूर और नारियलों का प्रज्वलन वातावरण को सुरभित कर रहा था। लोगों ने देखा आचार्यप्रवर का दिव्य देह विमान सहित जल गया है किन्तु विमान पर जो तुर्रा था वह अग्निस्नान करने पर भी प्रह्लाद की तरह जला नहीं है। श्रद्धालु श्रावकगण वीर हनुमान की तरह उसे लेने के लिए लपके किन्तु वह इन्द्र-धनुष की तरह रंग-बिरंगे रंग परिवर्तन करता हुआ पक्षी की तरह उड़कर अनन्त गगन में विलीन हो गया। अद्भुत आश्चर्य से सभी विस्मित थे।

वहाँ से सभी श्रावकगण स्नान के लिए जलकुंड पर पहुँचे। वहाँ का जल केशर की तरह रंगीन, गुलाबजल की तरह सुगन्धित और गंगाजल की

तरह निर्मल व शीतल था जिसे देखकर सभी चकित हो गये और उनके हृत्तन्त्री के सुकुमार तार झनझना उठे। आश्चर्य ! महान् आश्चर्य !! धन्य है आचार्यश्री को जिन्होंने स्वर्ग में पधार करके भी नास्तिकों को आस्तिक बनाया। प्रस्तुत घटना प्रत्यक्षद्रष्टा श्रावकों के मुँह से मैंने सुनी। वस्तुतः आचार्यप्रवर का जीवन महान् था। वे महान् प्रभावशाली आचार्य थे। उन्होंने अपने आचार्यकाल में हर दृष्टि से शासन का विकास करने का प्रयत्न किया।

●

५

अध्यात्मयोगी सन्तश्रेष्ठ ज्येष्ठमलजी महाराज

भगवान महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् यद्यपि जैन गगन में किसी सहस्ररश्मि सूर्य का उदय नहीं हुआ किन्तु यह एक ज्वलन्त सत्य है कि समय-समय पर अनेक ज्योतिष्मान नक्षत्र उदित हुए हैं जो अज्ञान अन्धकार से जूझते रहे। अपने दिव्य-प्रभामण्डल के आलोक से विश्व का पथ प्रदर्शन करते रहे। ऐसे प्रभापुञ्ज ज्योतिष्मान नक्षत्रों से जप-तप, सेवा-सहिष्णुता और सद्भावना की चमचमाती किरणें विश्व में फैलती रही हैं। ऐसे ही एक दिव्य नक्षत्र थे अध्यात्मयोगी ज्येष्ठमलजी महाराज। आपका जन्म बाड़मेर जिले के समदड़ी ग्राम में विक्रम संवत् १९१४ पौष कृष्णा तीज को हुआ था। आपके पूज्य पिताश्री का नाम हस्तिमलजी और माताजी का नाम लक्ष्मीबाई था जिन्हें प्रेम के कारण लोग हाथीजी और लिछमाबाई भी कहा करते थे। आपका वंश ओसवाल और लूंकड़ गोत्र था। आपके पूज्य पिताश्री और मातेश्वरी दोनों ही धर्मनिष्ठ थे। पिताश्री व्यापारकला में कुशल थे। वे न्याय और नीति से और कठोर परिश्रम से धन कमाते थे। मातेश्वरी लक्ष्मी बहन को सत्संगति बहुत ही प्यारी थी। जब भी समय मिलता उस समय को वह निरर्थक वार्तालाप या किसी की निन्दा विकथा न कर धर्मस्थानक में पहुँचती और मौन रहकर समभाव की साधना करती जिसे जैन परिभाषा में सामायिक कहते हैं। माता के ये संस्कार बालक ज्येष्ठमलजी के जीवन में झलकने स्वाभाविक थे।

नेपोलियन से किसी जिज्ञासु ने पूछा कि आपने यह वीरता कहाँ से सीखी? उसने उत्तर में कहा कि माता के दूध के साथ मुझे प्राप्त हुई थी। यदि कोई साधक ज्येष्ठमलजी महाराज से पूछता कि आपके जीवन में आध्यात्मिकता कैसे आयी तो सम्भव है कि वे यही कहते कि माता की जन्मघूंटी के साथ ही मिली। सत्य-तथ्य यह है कि माता के दूध के साथ जो संस्कार मिलते हैं वे चिरस्थायी होते हैं। बालक का हृदय निर्विकारी

होता है। वह कच्ची मिट्टी के पिण्ड के सदृश है। माता-पिता जैसा संस्कार उसमें भरना चाहें जैसी मूर्ति निर्माण करना चाहें वैसा ही कर सकते हैं।

बालक ज्येष्ठमलजी का अध्ययन समदड़ी में ही सम्पन्न हुआ। उस युग में गाँवों में उच्चतम अध्ययन की कोई व्यवस्था नहीं थी। जीवनोपयोगी अध्ययन कराया जाता था। अध्ययन सम्पन्न होने पर हस्तीमलजी ने अपने पुत्र का विवाह सम्बन्ध करना चाहा। पुत्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मुझे अभी विवाह नहीं करना है। मेरे अन्तर्मानस में संसार के प्रति किंचित् मात्र भी आसक्ति नहीं है।

ज्योतिर्धर जैनाचार्य श्री पूनमचन्दजी महाराज जन-जन के अन्तर्मानस में धर्म-दीप जलाते हुए समदड़ी पधारे। आचार्यश्री के पावन उपदेशों को सुनकर किशोर ज्येष्ठमलजी के मन की कलियाँ उसी प्रकार खिल गयीं जैसे सूर्य की किरणों का स्पर्श पाकर सूरजमुखी फूल खिलता है। किशोर ज्येष्ठमलजी के भीतर दिव्य संस्कारों की झलक थी। सत्संग से शनैः-शनैः विचारों में एक रासायनिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और किशोर ज्येष्ठमलजी ने एक दिन अपने विचार माता-पिता के सामने रखे। माता-पिता ने कहा—वत्स! अभी तुम युवावस्था में प्रवेश करने जा रहे हो। तुम हमारे कुल-दीपक हो। पहले विवाह करो और तुम्हारी सन्तान होने के पश्चात् तुम साधना के मार्ग को स्वीकार करना। भगवान महावीर ने भी तो माता-पिता के आग्रह से विवाह किया था। फिर तुम्हें इतनी क्या जल्दी है?

किशोर ज्येष्ठमल ने कहा—पूज्यप्रवर, आपका कथन उचित है। वे विशिष्ट ज्ञानी थे, किन्तु मुझे विशेष ज्ञान नहीं है जिससे मैं कह सकूं कि मेरी इतनी उम्र है। विषय तो विष के समान भयंकर है। क्या कभी रक्त से सना हुआ वस्त्र रक्त से साफ हो सकता है? वैसे ही विषय-विकारों से किसी की तृप्ति नहीं हुई है। मुझे उनके प्रति किसी भी प्रकार का आकर्षण नहीं है। आप मुझे सहर्ष अनुमति प्रदान करें जिससे मैं आचार्य प्रवर के सन्निकट प्रव्रज्या ग्रहण कर जीवन को निर्मल बना सकूं।

पुत्र की उत्कृष्ट विरक्त-वृत्ति को देखकर माता-पिता ने सहर्ष अनुमति प्रदान की और सत्रह वर्ष की उम्र में सं० १९३१ में आपने दीक्षा ग्रहण की। आपकी दीक्षा समदड़ी में ही सम्पन्न हुई। आचार्यश्री के सान्निध्य में रहकर आपने आगम साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। आपकी लिपि

बहुत ही सुन्दर थी। आपके जीवन की महान् विशेषता थी स्वाध्याय और ध्यान। दिन में अधिकांश समय आपका स्वाध्याय में व्यतीत होता था। आपका अभिमत था कि जैसे शरीर की स्वस्थता के लिए भोजन आवश्यक है, वैसे ही जीवन की पवित्रता के लिए स्वाध्याय आवश्यक है। जैसे नन्दनवन में परिभ्रमण करने से अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है वैसे ही स्वाध्याय के नन्दनवन के विचरण करने से जीवन में आह्लाद होता है। स्वाध्याय वाणी का तप है। उससे हृदय का मैल धुलकर साफ हो जाता है। स्वाध्याय एक अन्तःप्रेरणा है जिससे आत्मा परमात्मा बन जाता है। स्वाध्याय से योग और योग से स्वाध्याय की साधना होती है। स्वाध्याय का अर्थ है अपनी आत्मा का अपने अन्तरात्मा में डुबकी लगाकर अध्ययन करना। मैं कौन हूँ और मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है इत्यादि का चिन्तन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय से समस्त दुःखों से मुक्ति मिलती है, जन्म-जन्मान्तरों में संचित किये हुए कर्म स्वाध्याय से क्षीण हो जाते हैं। स्वाध्याय अपने आप में एक तप है। उसकी साधना-आराधना में साधक को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। निरन्तर स्वाध्याय से मन निर्मल और पारदर्शी बन जाता है और शास्त्रों के गम्भीर भाव उसमें प्रतिबिम्बित होने लगते हैं।

रात्रि का अधिकांश समय आप जप-साधना में लगाते थे। मन को स्थिर और तन्मय बनाने के लिए अशुभ विचारों से हटकर शुभ विचारों में लीन होने के लिए जप किया जाता है। जप के निष्काम और सकाम ये दो भेद हैं। किसी कामना व सिद्धि के लिए इष्टदेव का जप करना सकाम-जप है और बिना कामना के एकान्त निर्जरा के लिए जप करना निष्काम-जप है। जप के भाष्यजप, उपांशुजप और मानसजप ये तीन प्रकार हैं। सर्वप्रथम भाष्यजप करना चाहिए, उसके पश्चात् उपांशु और उसके पश्चात् मानसजप करना चाहिए। ज्येष्ठ मुनि रात्रि के प्रथम प्रहर में प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर जिस समय उपाश्रय में लोग बैठे रहते थे उस समय वे सो जाते थे और ज्यों ही लोग चले जाते त्यों ही एकान्त शान्त स्थान पर खड़े होकर जप की साधना करते थे और प्रातःकाल जब लोग आते तो पुनः सो जाते थे। इस प्रकार उनकी साधना गुप्त रूप से चलती थी। लोग उन्हें आलसी समझते थे, किन्तु वे अन्तरंग में बहुत ही जागरूक थे। स्वाध्याय और जप की साधना से उन्हें वचनसिद्धि हो गयी थी। अतः लोग उन्हें पंचम आरे के केवली कहते थे।

एक बार आपश्री आहोर से विहार कर वादनवाड़ी पधार रहे थे। रास्ते में उस समय के प्रकाण्ड पण्डित विजयराजेन्द्र सूरिजी अपने शिष्यों के साथ आपसे मिले। आपश्री ने स्नेह-सौजन्यता के साथ वार्तालाप किया। राजेन्द्रसूरिजी ने अहंकार के साथ कहा कि आप मेरे से शास्त्रार्थ करें। आपश्री ने कहा—आचार्यजी! शास्त्रार्थ से कुछ भी लाभ नहीं है। न आप अपनी मान्यता छोड़ेंगे, और न मैं अपनी मान्यता छोड़ूँगा। फिर निरर्थक शास्त्रार्थ कर शक्ति का अपव्यय क्यों किया जाय? शास्त्रार्थ में राग-द्वेष की वृद्धि होती है, किन्तु अन्य कुछ भी लाभ नहीं होता। अतः आप अपनी साधना करें और मैं अपनी साधना करूँ, इसी में लाभ है।

राजेन्द्र सूरिजी ने जरा उपहास करते हुए कहा—ये ढूँढिया पढ़ा हुआ नहीं है। लगता है, मूर्खराज शिरोमणि है। इसीलिए शास्त्रार्थ से कतराता है। राजेन्द्र सूरिजी के सभी शिष्य खिलखिला कर हँस पड़े।

महाराजश्री ने उसी शान्तमुद्रा में कहा—अभी इतनी शास्त्रार्थ की जल्दी क्यों कर रहे हो? कल ही आपका शास्त्रार्थ हो जायगा। यह कहकर महाराजश्री अपने लक्ष्य की ओर चल दिये और राजेन्द्र सूरिजी भी आहोर पहुँच गये। आहोर पहुँचते ही दस्त और उलटिएँ प्रारम्भ हो गयीं। वैद्य और डाक्टरों से उपचार कराया गया किन्तु कुछ भी लाभ नहीं हुआ। इतनी अधिक दस्त और उलटी हुई कि राजेन्द्रसूरिजी बेहोश हो गये। सारा समाज उनकी यह स्थिति देखकर घबरा गया। जरा-सा होश आने पर उन्हें ध्यान आया कि मैंने अभिमान के वश उस अध्यात्मयोगी सन्त का जो अपमान किया उसके फलस्वरूप ही मेरी यह दयनीय स्थिति हुई है। उन्होंने उसी समय अपने प्रधान शिष्य विजय धनचन्द्रजी सूरि को बुलाकर कहा—तुम अभी स्वयं वादनवाड़ी जाओ और मुनि ज्येष्ठमल जी महाराज से मेरी ओर से क्षमायाचना करो। मुझे नहीं पता था कि वह इतना चमत्कारी महापुरुष है। यदि तुमने विलम्ब किया तो मेरे प्राण ही संकट में पड़ जायेंगे। राजेन्द्रसूरि के आदेश को शिरोधार्य कर शिष्य वादनवाड़ी पहुँचे और महाराजश्री से क्षमाप्रार्थना की। महाराजश्री ने कहा कि इस इस प्रकार ज्ञानियों को ज्ञान का अभिमान करना योग्य नहीं है। यदि उन्हें शास्त्रार्थ करना है तो मैं प्रस्तुत हूँ।

शिष्यों ने राजेन्द्रसूरिजी की ओर से क्षमायाचना की और कभी भी किसी सन्त का अपमान न करेंगे ऐसी प्रतिज्ञा ग्रहण की। महाराजश्री ने

कहा—सूरिजी ठीक हो चुके हैं। आपः पुनः सहर्ष जा सकते हैं। शिष्यों ने ज्यों ही जाकर देखा त्योंही सूरि जी की उल्टी और दस्तें बन्द हो चुकी थीं और वे कुछ स्वस्थता का अनुभव कर रहे थे।

एक बार आपश्री जालोर विराज रहे थे। प्रवचन के पश्चात् आपश्री स्वयं भिक्षा के लिए जाते थे। ज्यों ही आप स्थानक से निकलते त्यों ही प्रतिदिन एक वकील सामने मिलता जिसके मन में साम्प्रदायिक भावना के कारण आपके प्रति अत्यधिक घृणा की भावना थी। महाराजश्री ज्यों ही आगे निकलते त्यों ही वह अपने पैर के जूते निकालकर अपशकुन के निवारणार्थ उसे पत्थर पर तीन बार प्रहार करता था। प्रतिदिन का यही क्रम था। एक दिन किसी सज्जन ने गुरुदेव को बताया कि वह प्रतिदिन इस प्रकार का कार्य करता है।

महाराजश्री ने उसे समझाने की दृष्टि से दूसरे दिन मुड़कर देखा तो वह पत्थर पर जूते का प्रहार कर रहा था। महाराजश्री ने मधुर मुसकान बिखेरते हुए कहा—वकील साहब, यह क्या कर रहे हैं? आप जैसे समझदार बुद्धिमान व्यक्तियों को इस प्रकार सन्तों से नफरत करना उचित नहीं है। सन्त तो मंगलस्वरूप होते हैं। उनका दर्शन जीवन में आनन्द प्रदान करता है।

वकील साहब ने मुँह को मटकाते हुए कहा—आपके जैसों को हम सन्त थोड़े ही मानते हैं। ऐसे तो बहुत नामधारी साधु फिरते रहते हैं।

महाराजश्री ने कहा— आपका यह भ्रम है। सन्त किसी भी सम्प्रदाय में हो सकते हैं। किसी एक सम्प्रदाय का ही ठेका नहीं है। सन्तों का अपमान करना उचित नहीं है। एक सन्त का अपमान सभी सन्त-समाज का अपमान है। अतः आपको विवेक रखने की आवश्यकता है।

वकील साहब ने कहा— ऐसे तीन सौ छप्पन सन्त देखे हैं।

महाराजश्री ने कहा—यहाँ पत्थर पर जूते क्यों मारते हैं? सिर पर ही जूते पड़ जायेंगे। यों कहकर महाराजश्री आगे बढ़ गये और वकील साहब कोर्ट में पहुँचे। वकील साहब के प्रति गलतफहमी हो जाने के कारण न्यायाधीश ने आज्ञा दी कि वकील साहब के सिर पर इक्कीस जूते लगाकर पूजा की जाय।

वकील साहब अपनी सफाई देश करना चाहते थे, पर कोई सुनवाई नहीं हुई और जूतों से उनकी पिटाई हो गयी।

उस दिन से वकील साहब किसी भी सन्त का अपमान करना भूल गये और महाराजश्री के परम भक्त बन गये। इसको कहते हैं 'चमत्कार को नमस्कार'।

आचार्यप्रवर श्रीलालजी महाराज के एक शिष्य थे जिनका नाम धन्ना मुनि था। वे मारवाड़ में सारण गाँव के निवासी थे। उन्होंने आचार्य श्रीलालजी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की और तेले-तेले पारणा करते थे। लोग कहते थे चतुर्थ आरे का धन्ना तो बेले-बेले पारणा करता था और यह पंचम आरे का धन्ना उससे भी बढ़कर है जो तेले-तेले पारणा करता है। एक बार आत्मार्थी ज्येष्ठमलजी महाराज ब्यावर के सन्निकट 'बर' गाँव में पधारे। उधर धन्ना मुनि जी भी वहाँ पर अन्यत्र स्थल से विहार करते हुए पहुँच गये। जंगल में महाराजश्री उनसे मिले। किन्तु धन्ना मुनि को अपने तप का अत्यधिक अभिमान था। महाराजश्री के स्नेह सद्भावना भरे शब्दों में सुख-साता पूछने पर भी वे नम्रता के साथ पेश नहीं आये। अभिमान के वश होकर उन्होंने कहा—ज्येष्ठमलजी, पूज्य श्रीलालजी महाराज के साधु ही सच्चे साधु हैं। अन्य सम्प्रदाय के साधु तो भाड़े के ऊँट हैं, जो इधर-उधर घूमते रहते हैं। उनमें कहाँ साधुपना है? वे तो रोटियों के दास हैं।

महाराजश्री ने कहा—धन्ना मुनि! आप तपस्वी हैं, साधु हैं। कम से कम भाषा समिति का परिज्ञान तो आपको होना ही चाहिए। सभी सम्प्रदायों में अच्छे साधु हो सकते हैं। इस प्रकार मिथ्या अहंकार करना उचित नहीं है।

धन्नामुनि—मुनिजी! सत्य बात कहने में कभी संकोच नहीं करना चाहिए। मैं साधिकार कह सकता हूँ कि पूज्य श्रीलालजी महाराज के सम्प्रदाय के अतिरिक्त कोई सच्चे व अच्छे साधु नहीं हैं।

महाराजश्री ने एक क्षण चिन्तन के पश्चात् कहा—आप जिस सम्प्रदाय की इतनी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा कर रहे हैं, उस सम्प्रदाय को अमुक दिन आप छोड़ देंगे और जिस तप के कारण आपको अहंकार आ रहा है उससे भी आप भ्रष्ट हो जायेंगे। तप अच्छा है, चारित्र श्रेष्ठ है, किन्तु तप और चारित्र का अहंकार पतन का कारण है।

महाराजश्री इतना कहकर चल दिये। धन्ना मुनि व्यंग्य भरी हँसी हँसते हुए अपने स्थान पर चले आये और जिस दिन के लिए महाराजश्री ने

भविष्यवाणी की थी, उसी दिन उन्होंने सम्प्रदाय का परित्याग कर दिया और तप आदि को छोड़कर विषय-वासना के गुलाम बन गये।

इसी तरह आचार्यश्री श्रीलालजी महाराज के शिष्य चेवर मुनि थे। उन्हें अपने ज्ञान तथा सम्प्रदाय का भयंकर अभिमान था। वे एक बार रोहट गाँव में महाराजश्री से मिले। उन्होंने भी अहंकार से महाराजश्री का भयंकर अपमान किया। उन्हें यह अभिमान था कि सबसे बढ़कर ज्ञानी मैं हूँ और हमारा सम्प्रदाय साधुओं की दृष्टि से और श्रावकों की दृष्टि से समृद्ध है। महाराजश्री ने कहा—चेवर मुनिजी! आप इतना अभिमान न करें। आप अपने आपको महान् ज्ञानी समझते हैं। यह बड़ी भूल है। गणधर, श्रुतकेवली और हजारों ज्योतिर्धर जैनाचार्य हुए हैं। उनके ज्ञान के सामने आपका ज्ञान कुछ भी नहीं है। सिन्धु में बिन्दु सदृश ज्ञान पर भी आपको इतना अहंकार है। यह सत्य ज्ञान की नहीं किन्तु अज्ञान की निशानी है। ज्ञानी वह है जिसमें अहंकार न होकर विनय हो। रहा सम्प्रदाय का प्रश्न? मैं स्वयं मानता हूँ कि पूज्य श्रीलालजी महाराज क्रियानिष्ठ श्रेष्ठ सन्तों में से हैं। आपका सम्प्रदाय भी बड़ा है, किन्तु अहंकार करना योग्य नहीं है।

चेवर मुनि ने अहंकार की भाषा में ही कहा कि सत्य को छिपाना पाप है। किसी भी सम्प्रदाय में इतने ज्ञानी-ध्यानी व तपस्वी सन्त नहीं हैं। वस्तुतः श्रीलालजी महाराज का सम्प्रदाय ही एक उत्कृष्ट सम्प्रदाय है और तो सभी नामधारी व पाखण्डी साधु हैं।

महाराजश्री ने कहा—ऐसा कहना सर्वथा अनुचित है। आप जिस सम्प्रदाय की प्रशंसा करते हुए फूले जा रहे हैं, अमुक दिन आप स्वयं इस सम्प्रदाय को छोड़ देंगे और मन्दिमार्गी सन्त बन जायेंगे।

वस्तुतः महाराजश्री ने जिस दिन के लिए उद्घोषणा की उसी दिन चेवर मुनि मन्दिरमार्गी सन्त बन गये और वे ज्ञानसुन्दरजी नाम से विश्रुत हुए। उन्होंने स्थानकवासी सम्प्रदाय के विरोध में बहुत कुछ लिखा। वे जब मुझे पीपलिया और जोधपुर में मिले तब स्वयं उन्होंने मुझे यह घटना सुनायी कि तुम उस महापुरुष की शिष्य परम्परा में हो जो महापुरुष वचन-सिद्ध थे। बड़े चमत्कारी थे।

समदड़ी में नवलमलजी भण्डारी आपश्री के परम भक्त थे। वे आपश्री को कहा करते थे कि गुरुदेव क्या मुझे भी संथारा आयगा? मेरी अन्तिम समय में संथारा करने की इच्छा है। वे पूर्ण स्वस्थ थे। सर्दी का समय था।

घर पर वे बाजरी का पटोरिया पी रहे थे। आपश्री उनके वहाँ सहजरूप से भिक्षा के लिए पधारे। भण्डारी नवलमलजी ने खड़े होकर आपश्री को वन्दन किया। महाराजश्री ने उनकी ओर देखकर कहा- नवलमल, तू मुझे संथारे के लिए कहता था। अब बाजरी का पटोरिया पीना छोड़ और जावजीव का संथारा कर ले।

नवलजी ने कहा—गुरुदेव मैं तो पूर्ण स्वस्थ हूँ। इस समय संथारा कैसे? महाराजश्री ने कहा यदि मेरे पर विश्वास है तो संथारा कर। नवलमलजी ने संथारा किया। सभी लोग आश्चर्यचकित थे। किन्तु किसी की भी हिम्मत नहीं हुई कि महाराजश्री के सामने कुछ कह सके। तीन दिन तक संथारा चला और वे स्वर्गस्थ हो गये।

एक बार जब महाराजश्री समदड़ी विराज रहे थे। उस समय एक युवक और युवती विवाह कर मांगलिक श्रवण करने के लिए आपके पास आये। महाराजश्री ने युवक को देखकर कहा—तुझे यावज्जीवन अब्रह्मसेवन का त्याग करना है। युवक कुछ भी नहीं बोल सका। लोगों ने कहा—गुरुदेव, अभी तो यह विवाह कर आया ही है। यह कैसे नियम ले सकता है? महाराजश्री ने कहा—मैं जो कह रहा हूँ। अन्त में महाराजश्री ने उसे पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन का नियम दिला दिया। सायंकाल चार पांच बजे उसे अकस्मात् ही हृदयगति का दौरा हुआ और उसने सदा के लिए आँख मूंद लीं। तब लोगों को पता लगा कि महाराजश्री ने यह नियम क्यों दिलाया था।

आपश्री का चातुर्मास विक्रम संवत् १९६३ में सालावास था। संवत्सरी महापर्व का आराधन उल्लास के क्षणों में सम्पन्न हुआ। प्रतिक्रमण पूर्ण हुआ। रात्रि के दस बजे होंगे कि महाराजश्री ने सभी श्रमणों को और श्रावकों को कहा कि वस्त्र पात्र आदि जो भी तुम्हारे नेश्राय की सामग्री है वह सारी सामग्री लेकर इस स्थानक से बाहर चले जाओ। श्रावकों को भी जो १११ व्यक्ति पौषध किये हुए थे उन सभी को कहा कि बाहर निकलो। श्रावकों ने और श्रमणों ने निवेदन किया—गुरुदेव, रिमझिम वर्षा आ रही है। इस वर्षा के समय हम कहा जाएँ? और रात भी अँधियारी है।

महाराजश्री ने कहा—मैं कहता हूँ, सभी मकान खाली कर दें। चाहे वर्षा है, उसकी चिन्ता न करें। महाराजश्री के आदेश से सभी बाहर निकल गये। महाराजश्री उसी मकान में विराजे रहे। जब सभी बाहर चले गये

तब महाराजश्री ने हाथ में रजोहरण लेकर सारे मकान को देखा कि कहीं कोई नींद में सोया हुआ तो नहीं है। सभी को देखने के पश्चात महाराजश्री बाहर पधारे और ज्यों ही बाहर पधारे त्यों ही वह तीन मंजिल का भवन एकाएक हड़हड़ करता हुआ ढह गया। तब लोगों को ज्ञात हुआ कि महाराजश्री ने सबको मकान से बाहर क्यों निकाला। यह थी उनकी आध्यात्मिक शक्ति जिससे भविष्य में होने वाली घटना का उन्हें सहज परिज्ञान हो जाता था।

पूज्य गुरुदेव ज्येष्ठमलजी महाराज एक बार समदड़ी विराज रहे थे। प्रातःकाल का समय था। एक श्रावक रोता हुआ धर्मस्थानक में आया— गुरुदेव, मैं आँखों की भयंकर व्याधि से अत्यधिक परेशान हो गया हूँ, अनेक उपचार किये किन्तु व्याधि मिट ही नहीं रही है अब तो आपकी ही शरण है।

आपश्री उस समय शौच के लिए बाहर पधारने वाले थे। आपने कहा— भाई, सन्तों के पास क्या है, यहाँ तो केवल धूल है। उस व्यक्ति ने आपके चरणों की धूल लगाई त्यों ही व्याधि इस प्रकार नष्ट हो गई कि उसे पता ही नहीं चला कि पहले व्याधि कभी थी। रोता हुआ आया था और हँसता हुआ लौटा। अनेकों व्यक्ति भूत-प्रेत आदि की पीड़ाओं से ग्रसित थे। वे आपश्री से मांगलिक सुनकर पूर्ण रूप से स्वस्थ हो जाते थे। पण्डितप्रवर नारायणदास जी महाराज जिनको आपश्री ने दीक्षा प्रदान की थी और उन्हें पण्डितप्रवर रामकिशनजी महाराज का शिष्य घोषित किया था, उनके एक शिष्य थे मुलतानमलजी महाराज। जब ज्येष्ठमलजी महाराज का स्वर्गवास हो गया तब उन्हें एकाएक खून की उल्टी और दस्त होने लगे और भयंकर उपद्रव भी करने लगे। उस समय नागौर से मन्त्रवादी जुलाहा आया। उसने मन्त्र के द्वारा जिन्द को बुलवाया कि तू मुनिश्री को कब से लगा हुआ है? जिन्द ने कहा— मैं आज से पाँच वर्ष पूर्व लगा था। इन्होंने मेरे स्थान पर पेशाब कर दिया था। किन्तु इतने समय तक ज्येष्ठमलजी महाराज जीवित थे, उनका आध्यात्मिक तेज इतना था कि मैं प्रकट न हो सका। यदि मैं प्रगट हो जाता तो वे एक दिन भी मुझे नहीं रहने देते। उनके स्वर्गवास के बाद ही मेरा जोर चला। यह थी उनकी आध्यात्मिक शक्ति जिससे उनके सामने भूत भी भयभीत हो जाते थे।

आपश्री के प्रमुख शिष्य थे नेणचन्दजी महाराज जो समदड़ी के ही निवासी थे और लुंकड परिवार के थे। आपका स्वभाव बहुत ही मिलनसार

तथा सेवापरायण था। आपके दूसरे शिष्य गढ़सिवाना के निवासी हिन्दूमल जी महाराज थे जो रांका परिवार के थे। हिन्दूमलजी महाराज ने आर्हती दीक्षा ग्रहण करते ही दूध, दही, घी, तेल, मिष्ठान्न इन पाँच विगय का परित्याग कर दिया था। साथ ही वे एक दिन उपवास और दूसरे दिन भोजन लेते थे। साथ ही अनेक बार ये आठ-आठ दस-दस दिन के उपवास भी करते थे। किन्तु पारणे में सदा रूक्ष आहार ग्रहण करते थे। बहुत ही उग्र तपस्वी थे। श्रद्धेय श्री ताराचन्दजी महाराज ज्येष्ठमलजी महाराज के लघु गुरुभ्राता थे। किन्तु आचार्य पूनमचन्द जी महाराज का, दीक्षा के तीन वर्ष पश्चात् स्वर्गवास हो जाने से आपश्री ज्येष्ठमल जी महाराज के पास ही रहे। उन्हीं के पास अध्ययन किया और गुरु की तरह उन्हें पूजनीय मानते रहे। आपकी उन्होंने बहुत ही सेवा की जिसके फलस्वरूप आपके हृदय से अन्तिम समय में यह आशीर्वाद निकला—ताराचन्द, तेरे आनन्द ही आनन्द होगा।

आपके जीवन के अनेकों चमत्कारिक संस्मरण हैं। किन्तु विस्तारभय से मैं यहाँ उन्हें उट्टंकित नहीं कर रहा हूँ। श्री ज्येष्ठमलजी महाराज को अनेक बार संघों ने आचार्य पद ग्रहण करने की प्रार्थना की। किन्तु आपश्री ने सदा यही कहा कि मुझे आचार्य पद नहीं चाहिए। मैं सामान्य साधु रहकर ही संघ की सेवा करना चाहता हूँ। आप में नाम की तनिक भी भूख नहीं थी। राजस्थान के सैकड़ों ठाकुर आपके परमभक्त थे। आप उपाधि के नहीं समाधि के इच्छुक थे।

संवत् १९७४ में आप समदड़ी पधारे और साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका चारों संघ को बुलाकर कहा- मेरा अब अन्तिम समय सन्निकट आ चुका है। आपने शान्त और स्थिर मन से निश्शल्य होकर आलोचना की, संलेखना व संथारा किया। श्रावकों ने निवेदन किया—गुरुदेव! आपश्री का शरीर पूर्ण स्वस्थ है। असमय में यह संथारा कैसे?

आपश्री ने कहा—मुझे तीन दिन का संथारा आयेगा। वैशाख शुक्ला चतुर्थी के दिन मध्याह्न में एक बजे जिस समय पाली से जो ट्रेन समदड़ी स्टेशन पर आती है, उसके यात्रीगण समदड़ी गाँव में आएँगे और मेरे दर्शन करेंगे, उसी समय मेरा स्वर्गवास हो जायगा। जैसे महाराजश्री ने कहा था—उसी दिन, उसी समय आपश्री का स्वर्गवास हुआ, स्वर्गवास के समय हजारों लोग बाहर से दर्शनार्थ उपस्थित हुए थे।

अध्यात्मयोगी ज्येष्ठमलजी महाराज अपने युग के एक महान चमत्कारी वचनसिद्ध महापुरुष थे। आपका जीवन सादगीपूर्ण था। आप आडम्बर से सदा दूर रहते थे और गुप्त रूप से अन्तरंग साधना करते थे। आपकी साधना मन्दिर के शिखर की तरह नहीं किन्तु नींव की ईंट की तरह थी। आज भी जो श्रद्धालु आपके नाम का श्रद्धा से स्मरण करते हैं वे आधि-व्याधि-उपाधि से मुक्त होते हैं। आपके नाम में भी वह जादू है जो जन-जन के मन में आह्लाद उत्पन्न कर देता है। आपसे जैन शासन की अत्यधिक प्रभावना हुई।

६

महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज

विश्व के मूर्धन्य मनीषियों ने जीवन के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन किया है। यह सत्य है कि संस्कृति की भिन्नता के कारण चिन्तन की पद्धति पृथक्-पृथक् रही। पाश्चात्य संस्कृति भौतिकता-प्रधान होने से उन्होंने भौतिक दृष्टि से जीवन पर विचार किया है, तो पौर्वात्य संस्कृति ने अध्यात्म-प्रधान होने से आध्यात्मिक दृष्टि से जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन किया। भारतीय जीवन बाहर से अन्दर की ओर प्रवेश करता है तो पाश्चात्य जीवन अन्दर से बाहर की ओर अभिव्यक्ति पाता है। महात्मा ईसा ने बाइबिल में जिस जीवन की परिभाषा पर चिन्तन किया है उस परिभाषा को शेक्सपियर ने अत्यधिक विस्तार दिया है। वेद, उपनिषद्, आगम और त्रिपिटक साहित्य में जीवन की जो व्याख्या की गयी है वह दार्शनिक युग में अत्यधिक विकसित हो गयी। भारतीय संस्कृति में जीवन के तीन रूप स्वीकार किये हैं—ज्ञानमय, कर्ममय और भक्तिमय। वैदिक परम्परा में जिस त्रिपुटी को ज्ञान, कर्म और भक्ति कहा है उसे ही जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहा है और बौद्ध परम्परा में वही प्रज्ञा, शील और समाधि के नाम से विश्रुत है। यह पूर्ण सत्य है कि श्रद्धा, ज्ञान और आचार से जीवन में पूर्णता आती है। पाश्चात्य विचारक टेनिसन ने भी लिखा है—

"Self-reverence, Self-knowledge and Self-control, these three alone lead life to sovereign power."

आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञान और आत्मसंयम इन तीन तत्वों से जीवन परम शक्तिशाली बनता है।

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी ने जीवन पर चिन्तन करते हुए लिखा है—जीवन का उद्देश्य आत्मदर्शन है और उसकी सिद्धि का मुख्य एवं एकमात्र उपाय पारमार्थिक भाव से जीव मात्र की सेवा करना है। महादेवी वर्मा ने

साहित्यिक दृष्टि से जीवन पर विचार करते हुए लिखा है—जीवन जागरण है, सुषुप्ति नहीं; उत्थान है पतन नहीं; पृथ्वी के तमसाच्छन्न अन्धकारमय पथ से गुजरकर दिव्यज्योति से साक्षात्कार करना है; जहाँ द्वन्द्व और संघर्ष कुछ भी नहीं है। जड़, चेतन के बिना विकास-शून्य है और चेतन, जड़ के बिना आकार-शून्य है। इन दोनों की क्रिया-प्रतिक्रिया ही जीवन है।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—जीवन का रहस्य भोग में नहीं, त्याग में है। भोग मृत्यु है और त्याग जीवन है। सुकरात ने लिखा है—जीवन का उद्देश्य ईश्वर की भाँति होना चाहिए। ईश्वर का अनुसरण करते हुए आत्मा भी एक दिन ईश्वरतुल्य हो जायगी। श्रेष्ठ जीवन में ज्ञान और भावना, बुद्धि और सुख दोनों का सम्मिश्रण होता है। टाल्सटाय ने लिखा—मानव का सच्चा जीवन तब प्रारम्भ होता है जब वह अनुभव करता है कि शारीरिक जीवन अस्थिर है और वह सन्तोष नहीं दे सकता। इस प्रकार जीवन के सम्बन्ध में चिन्तकों ने समय-समय पर विविध प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।

एक महान् दार्शनिक से किसी जिज्ञासु ने पूछा—जीवन क्या है? दार्शनिक ने गम्भीर चिन्तन के पश्चात् कहा—जीवन एक कला है, जो कुसंस्कारों को हटाकर सुसंस्कारों से संस्कृत किया जाता है। जीवन को संस्कारित बनाने के लिए चरित्र की आवश्यकता है। फ्रेडरिक सैण्डर्स ने सत्य ही कहा है—

"Character is the governing element of life, and is above genius."

चरित्र जीवन में शासन करने वाला तत्त्व है और वह प्रतिभा से उच्च है।

बर्टल ने भी लिखा है—

"Character is a diamond that scratches every other stone."

चरित्र एक ऐसा हीरा है जो हर किसी पत्थर को काट सकता है।

चरित्र से ही व्यक्ति का व्यक्तित्व निखरता है और चरित्र ही व्यक्ति को अमर बनाता है। भारत के महान् अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने व्यक्ति को क्षर और व्यक्तित्व को अक्षर कहा है। व्यक्ति वह है जो आकर लौट जाता है, बनकर बिगड़ जाता है, किन्तु व्यक्तित्व वह है जो आकर लौटता नहीं, बनकर बिगड़ता नहीं। व्यक्ति मरता है किन्तु व्यक्तित्व अमर रहता

है। महास्थविर परमश्रद्धेय सद्गुरुवर्य श्री ताराचन्दजी महाराज व्यक्तिरूप से हम से पृथक् हो गये हैं किन्तु व्यक्तित्वरूप से वे आज भी जीवित हैं और भविष्य में भी सदा जीवित रहेंगे।

महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज का जन्म वीरभूमि मेवाड़ में हुआ। मेवाड़ बलिदानों की पवित्र भूमि है, सन्त महात्माओं की दिव्यभूमि है, भक्त और कवियों की ब्रजभूमि है; एक शब्द में कहूँ तो वह एक अद्‌भुत खान है जिसने अगणित रत्न पैदा किये। मेवाड़ की पहाड़ी और पथरीली धरती में अद्‌भुत तत्त्व भरे हैं। वहाँ की जलवायु में विशिष्ट ऊर्जा है। वहाँ के कण-कण में आग्नेय प्रेरणा है जिससे मानव अतीत काल से ही राष्ट्र व धर्म के लिए बलिदान होता रहा है, परोपकार के लिए प्राणोत्सर्ग करता रहा है।

मैंने अनुभव किया है, यहाँ का मानव चट्टानों की भाँति दृढ़ निश्चयी है, अपने लक्ष्य और संकल्प के लिए परवाना बनकर प्राणोत्सर्ग करने के लिए भी तत्पर है। शंका और अविश्वास की आँधियाँ उसे भेद नहीं सकतीं। साथ ही वह अन्य के दुःख और पीड़ा को देखकर मोम की तरह पिघल जाता है। किसी की करुण कथा को सुनकर उसकी आँखें छलछलाती हैं और किसी क्षुधा से छटपटाते हुए याचक की गुहार सुनकर उसके मुँह का ग्रास हाथों में रुककर हाथ याचक की ओर बढ़ जाते हैं।

मेवाड़ की भूमि जहाँ वीरभूमि है वहाँ धर्मभूमि भी है। यहाँ धर्म शौर्य का स्रोत रहा है, वीरत्व को जगाने वाला रहा है। यहाँ पर वीरों का यह नारा रहा है—"जो दृढ़ राखे धर्म को, ताहि राखे करतार।" यहाँ के वीर धार्मिक थे, दयालु थे। वे राष्ट्र, समाज और धर्म के लिए त्याग, बलिदान और समर्पण हँसते और मुस्कराते हुए करने के लिए सदा कटिबद्ध थे।

महास्थविर ताराचन्दजी महाराज के जीवन में मेवाड़ की संस्कृति, धर्म और परम्परा, शौर्य और औदार्य, भक्ति और तपस्या का विलक्षण समन्वय था। उसके साहस, शौर्य, त्याग, तप, दृढ़ संकल्प और अजेय आत्मबल की गाथाएँ जब भी स्मरण आती हैं तब श्रद्धा से मस्तक नत हो हो जाता है।

मेवाड़ की एक सुन्दर पहाड़ी पर बंबोरा ग्राम बसा हुआ है। वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य अद्‌भुत है। गाँव के सन्निकट ही मेवाड़ की सबसे बड़ी

झील जयसमन्द है जिसमें मीलों तक पानी भरा पड़ा है, जो जीवन की सरसता का प्रतीक है और दूसरी ओर विराट् मैदान है जो विस्तार की प्रेरणा दे रहा है। तीसरी ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं जो जीवन को उन्नत बनाने का पावन संदेश दे रहे हैं। ऐसे पावन पुण्यस्थल में महास्थविर श्री ताराचन्दजी उत्पन्न हुए। उनके पिता का नाम शिवलालजी और माता का नाम ज्ञानकुंवर बहिन था। आश्विन शुक्ला चतुर्दशी के दिन वि० संवत् १६४० में आपका जन्म हुआ। आपका नाम हजारीमल रखा गया। बालक हजारीमल स्वभाव से सरल, गम्भीर तथा बालसुलभ चंचलता से युक्त था। जब आप तीन वर्ष के हुए तब आप इतने नटखट थे कि माता जब पानी भरने के लिए जाती तब वह आपके पाँव रस्सी से बाँध देती थी। आपकी चंचलता को देखकर माँ को कृष्ण की याद आ जाती थी। आप कभी रूठते, कभी मचलते और कभी किसी वस्तु के लिए हठ करके माता और पिता के मन को आह्लादित करते। जब आपकी उम्र सात वर्ष की हुई तब अकस्मात् पिताजी बीमार हुए और सदा के लिए उन्होंने आँखें मूंद लीं। पिता के स्वर्गस्थ होने पर सन्तान के पालन-पोषण की पूरी जिम्मेदारी माता पर आ गयी। किन्तु वह मेवाड़ की वीरांगना थी। वह अपने कर्तव्य को भली-भाँति समझती थी। अतः बम्बोरा से वह उदयपुर आकर रहने लगी। क्योंकि बम्बोरे में उस समय अध्ययन की इतनी सुविधा नहीं थी और श्रमण-श्रमणियों के दर्शन भी बहुत ही कम होते थे। उदयपुर में बालक हजारीमल पोशाल में अध्ययन के लिए प्रविष्ट हुआ, क्योंकि उस युग में स्कूल, हाई स्कूल व कालेज नहीं थे। पोशाल में आचार्य के नेतृत्व में अध्ययन कराया जाता था। अध्ययन के साथ जीवन को संस्कारित बनाने के लिए अधिक लक्ष्य दिया जाता था। बालक हजारीमल की बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, अतः स्वल्प समय में ही उन्हें अक्षरज्ञान हो गया था और वे पुस्तकें भी पढ़ने लगे थे।

विक्रम संवत् १६४६ में आचार्यप्रवर पूज्यश्री पूनमचन्दजी महाराज अपने शिष्यों के साथ उदयपुर पधारे और साथ ही परम विदुषी महासती गुलाबकुंवरजी, छगनकुंवरजी प्रभृति सती वृन्द भी वहाँ पर पधारीं। आचार्य-प्रवर के पावन प्रवचनों को सुनने के लिए माता ज्ञानकुंवर के साथ बालक हजारीमल प्रतिदिन पहुँचता। आचार्यप्रवर के प्रवचनों में जादू था। वे वाणी के देवता थे। जो एक बार उनके प्रवचन को सुन लेता वह मन्त्रमुग्ध हो जाता। बालक हजारीमल के निर्मल मानस पर प्रवचन अपना रंग जमाने

लगे। वह सुबह-शाम-मध्याह्न में गुरुदेव के चरणों में बैठता, उनसे धार्मिक अध्ययन करता। गुरुदेव ने सामायिक करने की प्रेरणा दी। उन्होंने मुँह-पत्ती लगाकर सामायिक की। मुँह-पत्ती लगाते ही उनका चेहरा चमकने लगा। उनका गेहुँवां वर्ण का गठा हुआ गुदगुदा शरीर, बड़ी-बड़ी कटोरे-सी आँखें, गोल मुँह, भव्य भाल को देखकर हमजोले साथियों ने मजाक किया कि तुम तो गुरुजी की तरह लगते हो। तुम्हारे चेहरे पर मुँह-पत्ती बहुत अच्छी जँचती है। बालक हजारीमल ने आचार्यप्रवर से पूछा—भगवन्, मेरे मुँह पर मुँह-पत्ती बहुत अच्छी लगती है न ? मुँह-पत्ती लगाकर तो मैं साधु-जैसा दीखने लगता हूँ।

आचार्यश्री ने बालक की ओर देखा। उसके शुभ लक्षणों को देखा। वे समझ गये कि यह बालक होनहार है और शासन की शोभा को बढ़ाने वाला है। गुरुदेव ने माता ज्ञानकुँवर को कहा—तुम्हारा यह पुत्र जैन शासन की शान को बढ़ायेगा। बालक का भविष्य उज्ज्वल है। अतीतकाल में भी अतिमुक्तक, ध्रुव, प्रह्लाद, आर्यवज्र, हेमचन्द्राचार्य आदि शताधिक बालकों ने बाल्यकाल में दीक्षा ग्रहण कर धर्म की प्रभावना की है।

आचार्यप्रवर के उद्बोधक वचनों को सुनकर ज्ञानकुँवर ने कहा—आचार्यप्रवर, यदि हजारीमल दीक्षा लेगा तो मैं इनकार न करूँगी और यह मैं अपना सौभाग्य समझूँगी कि मेरा पुत्र जैन शासन की सेवा के लिए तैयार हुआ है। यदि वह दीक्षा लेगा तो मैं स्वयं भी महासतीजी के पास प्रव्रज्या ग्रहण करूँगी।

बालक हजारीमल के मामा सेठ हंसराजजी भण्डारी थे जो उमड़ ग्राम के निवासी थे और बुद्धिमान थे। वे आसपास के गाँवों में प्रमुख पंच के रूप में भी थे। जब उन्हें पता लगा कि मेरी बहिन और भानजा आर्हती दीक्षा ग्रहण करने वाले हैं तो वे उदयपुर पहुँचे। आचार्यप्रवर के पास बालक हजारीमल को धार्मिक अध्ययन करते हुए देखकर वे घबरा गये और बहिन को यह समझाकर कि मैं कुछ दिनों के लिए हजारीमल को और तुम्हें लिवाने के लिए आया हूँ। तुम न चलो तो भी कुछ दिनों के लिए बालक को तो भेज ही दो ताकि मैं उसे प्यार कर सकूँ।

सरलहृदया माता ने बालक हजारीमल को उसके मामा के साथ भेज दिया। हजारीमल को उन्होंने संयम की कठिनता बताकर उसके वैराग्य को कम करने का प्रयास किया। उन्होंने प्रेम, भय, लालच और आतंक से समझाने की कोशिश की। किन्तु बालक हजारीमल तो गहरे रंग से रँगा

हुआ था। 'सूरदास की काली कामरिया चढ़ै न दूजो रंग।' उसके मुँह से एक ही बात निकली कि मैं आचार्यप्रवर के पास साधु बनूंगा। बालक के मामा भण्डारी हंसराज जी के जब अन्य प्रयत्न असफल हो गये तो उन्होंने न्यायालय में अर्जी पेश की कि बालक हजारीमल नाबालिग है, माता उसे जबरदस्ती दीक्षा दिलाना चाहती है। अतः रोकने का प्रयास किया जाय। न्यायाधीश ने बालक हजारीमल को अपने पास बुलाया और उससे पूछा कि कि क्या तुम अपनी माता के कहने से दीक्षा लेना चाहते हो? उन्होंने कहा—नहीं, मेरी स्वयं की इच्छा है। मेरी दीक्षा की बात को सुनकर माँ ने भी कहा कि यदि तू दीक्षा लेगा तो मैं भी दीक्षा लूंगी। दीक्षा की प्रेरणा देने वाला मैं स्वयं हूं, माँ नहीं।

हंसराजजी भण्डारी तो देखते ही रह गये। न्याय उनके विरुद्ध हुआ कि बालक सहर्ष दीक्षा ले सकता है तथापि उन्होंने अपना प्रयास नहीं छोड़ा। उन्होंने बालक को अपने पास ही रख लिया। माता ज्ञानकुंवर पुत्र के बिना छटपटाने लगी। अन्त में प्यारचन्दजी मेहता, जिनका महाराणा फतेहसिंह जी से बहुत ही मधुर सम्बन्ध था, उनके आदेश को लेकर वे उमड़ गाँव पहुँचे और बालक हजारीमल को उदयपुर ले आये।

आचार्यप्रवर वर्षावास पूर्ण होने पर उदयपुर से विहार कर जालोर पधारे। पुत्र ने माँ से कहा—माँ, अपन आचार्यश्री की सेवा में पहुँचें और आर्हती दीक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को साधना में लगावें। किन्तु उदयपुर से जालोर पहुँचना एक कठिन समस्या थी। क्योंकि उदयपुर से साठ मील चित्तौड़गढ़ था जहाँ तक बैलगाड़ी से जाना होता और वहाँ से ट्रेन के द्वारा समदड़ी पहुँचना और समदड़ी से बत्तीस मील जालोर तक ऊँट पर जाना कितना कठिन होगा। अतः वत्स, कुछ समय के पश्चात् अपन जायेंगे। बालक हजारीमल ने कहा—माँ, शुभ कार्य में विलम्ब करना उचित नहीं है। विघ्न-बाधाओं से तो वह व्यक्ति भयभीत होता है जो कायर है। तुम तो वीरांगना हो। फिर यह कायरतापूर्ण बात क्यों करती हो?

पुत्र की प्रेरणा से प्यारचन्दजी मेहता की धर्मपत्नी के सहयोग से वे जालोर पहुँचे। आचार्यश्री के दर्शन कर अत्यन्त आह्लादित हुए और जब माता ज्ञानकुंवर को यह पूर्ण विश्वास हो गया कि मेरा पुत्र दीक्षा ग्रहण करने के लिए योग्य है तब उसने आज्ञापत्र लिखकर आचार्यप्रवर को समर्पित किया और स्वयं महासतीजी की सेवा में रहकर अध्ययन करने लगी। आचार्यप्रवर ने चैत्र सुदी दूज वि० सं० १९५० में ज्ञानकुंवर बहन को

दीक्षा प्रदान की और परम विदुषी महासती छगनकुंवर जी की शिष्या घोषित की। महासती ज्ञानकुंवरजी ने अपनी सद्गुरुणी के साथ विहार किया क्योंकि महासती गुलाबकुंवरजी उदयपुर में स्थानापन्न थीं। उनकी सेवा में रहना बहुत ही आवश्यक था।

बालक हजारीमल ने आचार्यप्रवर के पास धार्मिक अध्ययन प्रारम्भ किया और वि० सं० १९५० के ज्येष्ठ शुक्ला तेरस रविवार को समदड़ी ग्राम में संघ के अत्याग्रह को सम्मान देकर आचार्यश्री ने दीक्षा प्रदान की। बालक हजारीमल का नाम मुनि ताराचन्द रखा गया। आपश्री का प्रथम चातुर्मास जोधपुर में हुआ। उस समय आचार्य पूनमचन्दजी महाराज के अतिरिक्त जोधपुर में अन्य सन्तों के भी चातुर्मास थे। किन्तु परस्पर में किसी भी प्रकार का मन-मुटाव नहीं था। जैसे वर्षाऋतु में वर्षा की झड़ी लगती है, वैसी ही तप-जप, ज्ञान-ध्यान, संयम-सेवा की झड़ी लगती थी। नवदीक्षित बालक मुनि ताराचन्दजी मन लगाकर अध्ययन करने लगे। प्रतिभा की तेजस्विता से उन्होंने कुछ ही समय में आगमों का तथा स्तोक साहित्य का खासा अध्ययन कर लिया। आचार्यश्री के चरणों में उन्हें अपूर्व आनन्द आ रहा था। उनके स्नेहाधिक्य से वे माता के वात्सल्य को और पिता के प्रेम को भूल गये। उनका द्वितीय चातुर्मास पाली में हुआ और तृतीय चातुर्मास जालोर में। महाकवि कालिदास ने कहा है—यह संसार बड़ा विचित्र है; यहाँ पर न किसी को एकान्त सुख मिलता है और न किसी को एकान्त दुःख ही। नियति का चक्र निरन्तर घूमता रहता है; कभी ऊपर और कभी नीचे। जन्म मानव का शुभ प्रसंग है और मृत्यु अशुभ प्रसंग है जो कभी टल नहीं सकते। जालोर वर्षावास में आनन्द की स्रोतस्विनी बह रही थी। सन्त समागम का अपूर्व लाभ जन मानस को मिल रहा था, और मुनिश्री ताराचन्दजी की श्रुत-आराधना भी अस्खलित गति से प्रवाहित थी। जैन संस्कृति का महापर्व पर्युषण का विशाल समारोह भी सानन्द सम्पन्न हो चुका था। आचार्यप्रवर को भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी के दिन वि० सं० १९५२ को तेज ज्वर ने आक्रमण किया। साथ ही अन्य व्याधियाँ भी उपस्थित हुईं। किन्तु आचार्यप्रवर समभावपूर्वक उन्हें सह रहे थे। व्याधि का प्रकोप प्रतिपल-प्रतिक्षण बढ़ रहा था। मृत्यु सामने आकर नाचने लगी तथापि आपश्री पूर्ण समाधिस्थ व शान्त थे। केवल उनके मन में एक विचार था—बालक मुनि ताराचन्द के व्यक्तित्व निर्माण का। अतः उन्होंने अपने प्रधान अन्तेवासी आत्मार्थी ज्येष्ठमलजी महाराज को और कविवर्य नेमिचन्दजी महाराज को कहा—मुनि ताराचन्द को तुम्हारे हाथ सौंप रहा हूँ। इसका

विकास करना तुम्हारा काम है और स्वयं शान्त व स्थिर मन से आलोचना, संलेखना-संथारा कर पूर्ण समाधिस्थ हो गये। अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवलीप्ररूपित धर्म इन चार महाशरण का स्मरण करते हुए उन्होंने पूर्णिमा के दिन देहत्याग किया। पूर्णिमा की चारु चन्द्रिका चमक रही थी, किन्तु वह ज्योतिपुञ्ज धरा से विलीन हो चुका था। बाल मुनि ताराचन्दजी के हृदय को गुरु-वियोग का वज्र-आघात लगा जिससे वे विचलित हो गये। जिस गुरुदेव की शीतल छाया में जीवन का यह नवीन पौधा संरक्षण व संवर्द्धन पा रहा था, अकस्मात् क्रूर काल की आँधी के एक ही वेग से वह शीतल छाया ध्वस्त हो गयी। इस स्थिति में बालक मुनि अपने को असहाय व आश्रयहीन अनुभव करने लगा। उस समय ज्येष्ठमलजी महाराज व नेमीचन्दजी महाराज ने मधुर स्नेह से उन्हें स्वस्थ किया। वे पुनः शान्त और स्थिरचित्त होकर संयम-साधना में लीन हो गये।

वर्षावास के पश्चात् जालोर से विहार हुआ। श्रमण ऋषियों के लिए विहार करना प्रशस्त माना गया है—'विहार चरिया इसिणं पसत्था'। सरिता की सरस धारा के समान श्रमणों की विहार यात्रा है। जैसी सरिता के सन्निकट की भूमि उर्वरा होती है वैसे ही सन्तों के सत्संग से जन-जीवन में सत्संस्कार, सद्विचार तथा सदाचार पनपने लगते हैं और स्नेह सद्भावना की सरस भावनाएँ अठखेलियाँ करने लगती हैं। एक कवि ने कहा भी है—

"साधु, सलिला, बादली, चले भुजंगी चाल।
जिण-जिण सेरी नीसरे, तिण-तिण करत निहाल॥"

बालक मुनि श्री ताराचन्दजी अपने गुरुभ्राता कविवर्य श्री नेमीचन्दजी महाराज के साथ मेवाड़ पधारे और मातेश्वरी ज्ञानकुंवरजी से मिले। माँ ने अपनी वाणी में स्नेह-सुधा घोलते हुए कहा—वत्स! मैं जानती हूँ कि गुरुदेवश्री का एकाएक स्वर्गवास हो गया है। तुम्हें साधना के क्षेत्र में अब अधिक जागरूकता से आगे बढ़ना है। दूध को गरम करते समय उफान आता है किन्तु समझदार रसोइया जल के छींटे डालकर उस उफान को शान्त कर देता है। जो व्यक्ति समुद्र की यात्रा करता है उसे तूफान का सामना करना पड़ता है। कुशल नाविक तूफानी वातावरण में भी नौका को खेता हुआ पार पहुँचा देता है। तो तुम्हें उफान और तूफान में शान्त रहना है। उफान जीवन में अनेक बार आते हैं। यदि साधक जागरूक न रहे तो उफान भी तूफान बन जाता है। अतः सतत जागरूकता की आवश्यकता है।

वत्स! अभी तेरी उम्र छोटी है। यह उम्र अध्ययन करने की है।

अध्ययन से बुद्धि मँजती है। विचारों में निखार व प्रौढ़ता आती है। अध्ययन के साथ ही विनय और विवेक भी आवश्यक हैं। नगीना स्वर्ण में जड़ने से से ही शोभा पाता है; वैसे ही विनय के साथ विवेक की भी शोभा होती है। विनय से जीवन में हजारों सद्गुण आते हैं। विनय वह चुम्बक है जो सद्गुणों को अपनी ओर आकर्षित करता है। साथ ही चाहे तुमसे बड़े हों चाहे छोटे हो उन सभी की, तन, मन से सेवा करना। सेवा से तेरे जीवन में नयी चमक और दमक आयेगी। देख बेटा, "चाम नहीं, काम वाल्हो है।" मेरी इन शिक्षाओं पर तू सदा ध्यान रखना। दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् तू पहली बार मुझसे मिला है। अतः मैंने अपने हृदय की बात तुझे कही है। इसे जीवन भर न भूलना।

माँ की शिक्षाभरी बातों को सुनकर बालकमुनि ताराचन्दजी ने कह—माँ! तू चिन्ता मत कर। मैं तेरे दूध को रोशन करूँगा। मैं ऐसा कोई भी कार्य नहीं करूँगा जिससे तुझे उपालंभ सुनना पड़े। माँ पुत्र के तेजस्वी और ओजस्वी चेहरे को देखकर प्रफुल्लित थी। उसे आत्मविश्वास था कि मेरा लाल साधना के महामार्ग में सदा आगे ही बढ़ता रहेगा। आपश्री ने विक्रम संवत् १९५३ का वर्षावास रंडेडा में किया और वर्षावास के पश्चात् अपनी जन्मस्थली बम्बोरा पधारे। उस समय वहाँ पर पूज्यश्री तेजसिंहजी महाराज की सम्प्रदाय के बड़े प्यारचन्दजी महाराज से आपका मिलना हुआ। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि आपश्री इसके पश्चात् पुनः अपनी जन्मभूमि में संवत् २००३ में पधारे, अर्थात् पचास वर्ष के बाद।

आपश्री का स्वभाव बहुत मधुर था। आपकी वाणी में मिश्री के समान मिठास था। सेवा और विनय के कारण आपश्री सन्तों के अत्यधिक प्रिय हो गये। आपकी प्रतिभा से सन्त प्रभावित थे। आपश्री ने छह चातुर्मास कविवर्य नेमीचन्दजी महाराज के साथ किये और दूज के चाँद की तरह आपका प्रेम निरन्तर बढ़ता ही रहा। रतलाम में श्री उदयसागरजी महाराज ने आपको देखकर नेमीचन्दजी महाराज से कहा—इसके शुभ लक्षण बताते हैं कि यह महान प्रभावशाली सन्त होगा और यह देश-विदेशों में भी लम्बी यात्राएँ करेगा।

विक्रम संवत् १९५९ में आपश्री आत्मार्थी ज्येष्ठमलजी महाराज की सेवा में पधार गये और वे जब तक जीवित रहे तब तक आपश्री उन्हीं की सेवा में रहे। आपश्री की सेवा से ज्येष्ठमलजी महाराज अत्यधिक प्रभावित हुए। आपने ज्येष्ठमलजी महाराज के सुशिष्य तपस्वी हिन्दूमलजी महाराज

जो गढ़सिवाना के थे, जिन्होंने भरे-पूरे परिवार का परित्याग कर आर्हती दीक्षा ग्रहण की थी, और दीक्षा ग्रहण करते ही जिन्होंने पाँचों विगयों का परित्याग कर दिया था एवं उग्र तप की साधना करते थे। एक बार वे सिवाना के सन्निकट उजियाना गाँव में थे। उस समय परस्पर कुत्ते लड़ रहे थे। उनकी झपट में आ जाने से तपस्वी हिन्दूमलजी महाराज नीचे गिर गये और उनके पैर की हड्डी टूट गयी, जिससे वे चल नहीं सकते थे। आप उन्हें अपने कन्धे पर बिठाकर उपचार हेतु छह मील चलकर गढ़ सिवाना लाये और उनकी अत्यधिक सेवा करके उन्हें स्वस्थ किया। तपस्वी हिन्दूमलजी महाराज ने चौदह वर्ष तक संयम-साधना और उग्र तप की आराधना की। अन्तिम चार वर्षों में वृद्धावस्था और रुग्णावस्था के कारण उनमें चलने का सामर्थ्य नहीं था। तब अध्यात्मयोगी ज्येष्ठमलजी महाराज के आदेश को शिरोधार्य कर चार वर्ष तक उनकी अत्यधिक सेवा की। नन्दीसेन मुनि की तरह अग्लानभाव से आपको सेवा करने में आनन्द की अनुभूति होती थी। अपनी सम्प्रदाय के सन्तों की तो सेवा करते ही थे, किन्तु अन्य सम्प्रदाय के सन्तों की सेवा का प्रसंग उपस्थित होने पर भी आप पीछे नहीं रहते थे।

एक बार आचार्य रघुनाथमलजी महाराज की सम्प्रदाय के सन्त कालूरामजी महाराज अत्यधिक अस्वस्थ हो गये थे। उस समय उनकी सेवा में कोई भी सन्त नहीं था। जब आपश्री को यह ज्ञात हुआ, तो गुरुजनों की आज्ञा लेकर उनकी सेवा में समदड़ी पहुँचे और मन लगाकर सेवा की। अन्त में कालूरामजी महाराज को बीस दिन का संथारा आया। उस समय आपकी सेवा प्रशंसनीय रही। आपश्री ने ज्येष्ठमलजी महाराज, नेमीचन्दजी महाराज, मुलतानमलजी महाराज, दयालचन्दजी महाराज, उत्तमचन्दजी महाराज, बाघमलजी महाराज, हजारीमलजी महाराज आदि सन्तों की अत्यधिक सेवाएँ कीं। सेवा आपका जीवन-व्रत था। जिस असिधारा व्रत पर चलते समय बड़े-बड़े वीर भी घबरा जाते हैं, किन्तु आपने सेवा का ज्वलन्त आदर्श उपस्थित किया।

आपश्री को जब सेवा से अवकाश मिलता तब आप ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ उतारते थे। आपके अक्षर मोती के समान सुन्दर थे। आपश्री ने रामायण, महाभारत, श्रेणिकचरित्र आदि चरित्र और सैकड़ों भजन, चौपाइयां लिखीं।

आपकी प्रवचन-कला अत्यन्त आकर्षक थी। जब आप प्रवचन करते

तब सभा मन्त्रमुग्ध हो जाती थी। हास्यरस, करुणरस, वीररस और शान्त-रस सभी रसों की अभिव्यक्ति आपकी वाणी में सहज होती थी। उसके लिए आपको किंचित्मात्र भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। आपकी वाणी में मृदुता, मधुरता और सहज सुन्दरता थी। वक्तृत्वकला स्वभाव से ही आपको प्राप्त हुई थी। किस समय क्या बोलना, कैसे बोलना, कितना बोलना यह आप अच्छी तरह से जानते थे। जहाँ-जहाँ भी आप गये वहाँ आपका जय-जयकार होता रहा।

आपश्री का वि० सं० १९९१ का चातुर्मास ब्यावर में था। ब्यावर सदा से संघर्ष का केन्द्र रहा है। वहाँ का संघ तीन विभागों में विभक्त है—प्रथम स्थानक के अनुयायी, दूसरे आचार्य जवाहरलालजी महाराज को मानने वाले और तीसरे जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज के अनुयायी थे। स्थानक वालों में तथा दिवाकरजी महाराज के अनुयायियों में परस्पर सद्भाव था जिससे एक वर्ष उनका चातुर्मास और द्वितीय वर्ष स्थानक का चातुर्मास होता था। किन्तु उस वर्ष ऐसा वातावरण बना कि तीनों संघों ने मिलकर आपश्री से चातुर्मास की प्रार्थना की। संगठन, स्नेह सद्भावना की वृद्धि को संलक्ष्य में रखकर आपने चातुर्मास स्वीकार किया और आपके प्रवचनों की ऐसी धूम मची कि सभी श्रोता विस्मित हो गये। आप प्रवचनों में आगमिक गम्भीर रहस्यों को रूपक, लोककथाओं, उक्तियों व संगीत के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त करते थे कि श्रोता झूम उठते।

आपश्री संगठन के प्रबल पक्षधर थे। स्थानकवासी परम्परा में विभिन्न मतों को देखकर आपका हृदय द्रवित हो गया था। आपने स्थानकवासी समाज की एकता के लिए प्रबल प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप सर्वप्रथम विक्रम संवत् १९८८ में पाली के पवित्र प्रांगण में मरुधर प्रान्त में विचरने वाले छह सम्प्रदायों के महारथियों का सम्मेलन हुआ और आपश्री के प्रबल पुरुषार्थ से संगठन का सु-मधुर वातावरण तैयार हुआ। उस सम्मेलन के कारण संघ में एक उत्साहपूर्ण वातावरण का निर्माण हुआ और बृहत् साधु-सम्मेलन, अजमेर की भूमिका तैयार हुई। अजमेर में विराट सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन में भी आपश्री ने स्थानकवासी समाज की एकता पर अत्यधिक बल दिया। सन् १९५२ में जो सादड़ी सम्मेलन हुआ उस वर्ष आपश्री का वर्षावास सादड़ी में था और आपकी ही प्रबल प्रेरणा से सादड़ी में सन्त सम्मेलन हुआ। उसमें आपश्री ने अत्यधिक निष्ठा के साथ कार्य किया। आपश्री का कार्य नींव की ईंट के रूप में था, यद्यपि वर्धमान स्थानकवासी

जैन श्रमण संघ में आप सबसे बड़े थे, तथापि आपश्री में तनिक मात्र भी अहंकार नहीं था। संघ की प्रगति किस तरह हो, यही चिन्तन आपश्री का था। आपश्री को पद का किंचित् मात्र भी लोभ नहीं था। यही कारण था कि सादड़ी सन्त सम्मेलन में आपको पद देने के लिए अत्यधिक आग्रह किया गया किन्तु पद लेना आपश्री ने स्वीकार नहीं किया। यह थी आपकी पूर्ण निस्पृहता।

शिक्षा के प्रति आपश्री की स्वाभाविक रुचि थी। स्वयं आपने तो पण्डित से डेढ़ दिन ही पढ़ा था। क्योंकि वह युग ऐसा था जिस युग में पण्डितों से पढ़ना उचित नहीं माना जाता था। केवल गुरुओं से अध्ययन किया जाता था। किन्तु समय ने करवट बदली; आपश्री ने देखा, संस्कृत, प्राकृत भाषा का जब तक गहरा अध्ययन नहीं होगा तब तक आगमों के रहस्य स्पष्ट नहीं हो सकते। अतः आपश्री ने अपने सुयोग्य शिष्य श्री पुष्कर मुनि जी महाराज को संस्कृत-प्राकृत भाषा का अध्ययन ही नहीं करवाया, अपितु क्विन्स कालेज बनारस की और कलकत्ता एसोसियेशन की काव्यतीर्थ, न्यायतीर्थ आदि परीक्षाएँ भी दिलवायीं। अपने अन्य शिष्य और प्रशिष्यों को भी तथा सती वृन्द को भी अध्ययन की दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा दी। आपश्री को एक बार प्रातःकाल स्वप्न आया था कि मेरे शिष्य-शिष्याएँ प्रकाश की ओर बढ़ रही हैं। आपश्री ने उसका यही अर्थ लगाया कि ज्ञान के क्षेत्र में ये प्रगति करेंगे।

ज्ञान के साथ ही आचार पर आपका बहुत अधिक बल था। आप स्वयं कम बोलते थे और गृहस्थों से निरर्थक वार्तालाप नहीं किया करते थे। आपका यह मानना था कि सन्तों को गृहस्थों का सम्पर्क कम से कम करना चाहिए। अधिक सम्पर्क से श्रमणों के जीवन में साधना की दृष्टि से न्यूनता आती है। मक्खन लम्बे समय तक छाछ में रहेगा तो मक्खन का ही नुकसान है, छाछ का नहीं। साधना की उत्कृष्टता के लिए आचार की निर्मलता अपेक्षित है। जितना आचार शुद्ध होगा उतना ही साधक के जीवन का प्रभाव बढ़ेगा।

आपके जीवन पर अध्यात्मयोगी ज्येष्ठमलजी महाराज के जीवन का प्रभाव था। यही कारण है आपको जप-साधना अत्यधिक प्रिय थी। मैंने स्वयं देखा है कि जीवन की सान्ध्यबेला में प्रमाद आ जाता है। सूर्य का तेज भी कम हो जाता है। किन्तु आपश्री जप-साधना के क्षेत्र के प्रतिक्षण आगे बढ़ते ही रहे। एक दिन मैंने पूछा—गुरुदेव, आप प्रतिदिन चौदह-पन्द्रह घण्टे

तक जप करते हैं। आपने आज दिन तक कितना जप किया है? आपने कहा—"देवेन्द्र! जप अपने लिए किया जाता है। जप में हिसाब की मनोवृत्ति नहीं होती। मैं नमस्कार मन्त्र का जाप करता हूँ।" आपश्री ने बात टालने का प्रयास किया। किन्तु मेरे बालहठ के कारण अन्त में आपने कहा "सवा करोड़ से भी अधिक जप हो चुका है।" मैं सोचने लगा सवा करोड़ का जप करना कितना कठिन है। उसके लिए कितना धैर्य अपेक्षित है। मैंने स्वयं यह देखा कि जप के कारण आपश्री को वचनसिद्धि भी हो गयी थी। किन्तु विस्तारभय से मैं वे सारे प्रसंग यहाँ नहीं दे रहा हूँ।

आपश्री एक फक्कड़ सन्त थे। चाहे धनवान हो चाहे गरीब, सभी के प्रति समतापूर्ण व्यवहार था। धनवानों को देखकर आपने कभी उनका विशेष आदर करना पसन्द नहीं किया और निर्धनों को देखकर कभी अनादर नहीं किया। जयपुर वर्षावास में सेठ विनयचन्द दुर्लभजी जौहरी जब भी दर्शन के लिए आते तब पूज्य गुरुदेवश्री की सेवा में घण्टा-आधा घण्टा बैठते थे, किन्तु गुरुदेव उनसे कभी भी बातचीत नहीं करते थे। वे अपनी जप-साधना में ही तल्लीन रहते थे। विनयचन्दभाई ने अनेकों बार पूज्य गुरुदेव श्री से प्रार्थना की कि मुझे कुछ सेवा का लाभ दीजिए। किन्तु गुरुदेव ने सदा यही कहा कि मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है। अन्त में पूज्य गुरुदेवश्री की स्मृति-सभा में बोलते हुए विनयचन्दभाई ने कहा—"मैंने ताराचन्दजी महाराज जैसे निस्पृह सन्त नहीं देखे जो मेरे द्वारा बीसों बार प्रार्थना करने पर भी कभी किसी वस्तु की या संस्था के लिए दान दिलवाने हेतु इच्छा व्यक्त नहीं की। सेठ सोहनलालजी दुग्गड़ जो महान दानवीर थे, वे आपश्री के दर्शन हेतु कलकत्ता से जयपुर आये। उस समय पूज्य गुरुदेवश्री शौच के लिए बाहर पधारे हुए थे। दुग्गड़जी गुरुदेव के साथ दो मील तक चलकर लालभवन आये। उन्होंने गुरुदेवश्री से अत्यधिक प्रार्थना की कि मुझे अवश्य ही लाभ दें। मैं कलकत्ता से ही यह संकल्प करके आया हूँ कि आप जहाँ भी फरमाएँगे, वहाँ मुझे अर्थ-सहयोग देना है। आपश्री ने कहा—जहाँ आपको सुख उत्पन्न होता हो वहाँ पर आप दान दे सकते हैं। मुझे कहीं पर भी नहीं दिलवाना। और आपश्री अपनी जप-साधना में लग गये। सेठ सोहनलालजी दुग्गड़ गुरुदेव के चरणों में डेढ़ घण्टे तक बैठे रहे। पुनः पुनः प्रार्थना करने पर भी आपश्री ने कुछ भी नहीं फरमाया। आपश्री के स्वर्गवास के पश्चात् श्रमण-संघ के उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज तथा उपाध्याय हस्तीमलजी महाराज के सामने सेठ सोहनलालजी दुग्गड़ ने

कहा कि मैं अपने जीवन में जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा के साधु-सन्तों के और आचार्यों के सम्पर्क में आया किन्तु जैसा निस्पृह सन्त महास्थविर ताराचन्दजी महाराज को मैंने देखा वैसा अन्य सन्त मुझे दिखायी नहीं दिया।

भारत के प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू ४ दिसम्बर, १९५४ को पूज्य गुरुदेवश्री से मिले थे, अन्य सन्तगण उनसे पचपन मिनट तक बातें करते रहे; किन्तु आपश्री उस समय भी जप-साधना में तल्लीन थे। आपश्री की निस्पृहता और आध्यात्मिक मस्ती को देखकर नेहरूजी के हृत्तन्त्री के तार भी झनझना उठे कि यह महात्मा अद्भुत है।

आपश्री ने छह महीने पूर्व ही कह दिया था कि अब मेरा अन्तिम समय सन्निकट है। अतः आपश्री ने अपने जीवन की, निःशल्य होकर आलोचना करली। और सदा मुझे या अन्य सन्त को अपने पास रखते। आपने यह भी कहा कि जब मुझे अर्धांग (लकवा) होगा, उस समय मेरा अन्तिम समय समझना। मैं तुम्हें अपने पास इसीलिए रखता हूँ कि कदाचित् उस समय मेरी वाचा बन्द हो जाय तो तू मुझे संथारा करा देना। वि० संवत् २०१३ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी के दिन मध्याह्न में आपश्री प्रधानमंत्री मदनलालजी महाराज के पास पधारे जो लालभवन में नीचे विराज रहे थे। वार्तालाप के प्रसंग में आपश्री ने कहा मदनलालजी, कल व्याख्यान नहीं होगा। मदनलालजी महाराज ने विनय के साथ पूछा—गुरुदेव, किस कारण से व्याख्यान नहीं होगा? आपश्री ने कहा—इसका रहस्य अभी नहीं, कुछ समय के बाद तुझे स्वयं ज्ञात हो जायेगा। सायंकाल पाँच बजे आपश्री ने आहार किया और हाथ धोने के लिए ज्यों ही लघुपात्र आपने उठाया त्यों ही लकवे का असर हो गया। लकवे के असर होते ही आपने कहा—मेरा अन्तिम समय आ चुका है। अब मुझे संथारा करा दो। उसी समय प्रधानमंत्री मदनलालजी महाराज ने आकर कहा—गुरुदेव, आपका शरीर पूर्ण स्वस्थ है? डाक्टर को अभी बुलवाते हैं। वे जाँच करेंगे क्योंकि लकवे का मामूली असर हुआ है और यह बीमारी तो ऐसी है कि समय का कुछ भी पता नहीं। गुरुदेवश्री ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि मेरा अब अन्तिम समय आ चुका है। यदि आप विलम्ब करते हैं तो मैं स्वयं चतुर्विध संघ की साक्षी से संथारा ग्रहण करता हूँ। आपश्री ने यह कहकर संथारा ग्रहण कर लिया। आपकी अत्युत्कृष्ट भावना देखकर अन्त में मदनलालजी महाराज ने संघ की साक्षी से संथारा करवाया। आपने चतुर्विध संघ से क्षमायाचना की और अपने शिष्यों को हित-शिक्षाएँ दीं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र में आगे

बढ़ने की प्रेरणा दी और अन्त में आपने प्रधानमंत्री मदनलालजी महाराज से प्रतिक्रमण सुना। आपके अन्तिम ये शब्द निकले कि—मदनलालजी, आपने प्रतिक्रमण अच्छा सुनाया। उसके बाद आपकी वाचा बन्द हो गयी। आपकी भावना उत्तरोत्तर निर्मल हो रही थी। और प्रातः ब्राह्ममुहूर्त में आपने महाप्रकाश की ओर प्रयाण कर दिया।

महास्थविर ताराचन्दजी महाराज का जीवन एक ज्योतिर्मय जीवन था। आप में चारित्रिक पवित्रता, वैचारिक उदारता और दृढ़ता तथा सेवापरायणता के सद्गुणों के सुमन सदा खिलते रहे। आप में अत्यधिक स्फूर्ति थी। अपना कार्य अपने हाथों से करना पसन्द था। लघुमुनियों की सेवा करने में भी आप सदा आगे रहते थे। आपका विहार-क्षेत्र पूर्वाचार्यों की अपेक्षा विस्तृत था। आपने भारत के विविध अंचलों में ६४ वर्षावास किये। उसकी तालिका इस प्रकार है—

		(वि० संवत्)
जोधपुर	(मारवाड़)	१९५०, १९६१, १९७७, २००१
पाली	(,,)	१९५१, १९६२, १९७०, १९८०
जालोर	(,,)	१९५२, १९६७, १९७५, १९७९, १९८५
रंडेडा	(मेवाड़)	१९५३
निंबाहेड़ा	(,,)	१९५४
सनवाड़	(,,)	१९५५, १९६६
भिंडर	(,,)	१९५६
गोगुंदा	(,,)	१९५७, १९८८
सादड़ी	(मारवाड़)	१९५८, २००८
सिवाना	(,,)	१९५९, १९६५, १९७८, १९८४, १९८६, १९९६, २००९
समदड़ी	(,,)	१९६०, १९६४, १९६९, १९७१, १९७२, १९७३, १९७४, १९८१, १९८३, १९९८
सालावास	(,,)	१९६३
बालोतरा	(,,)	१९६८
देलवाड़ा	(मेवाड़)	१९७६
नान्देशमा	(,,)	१९८२, २००२, २००७
खंडप	(मारवाड़)	१९८७, १९९७
पीपाड़	(,,)	१९८९, २०००

दुन्दाड़ा	(मारवाड़)	१९९०
ब्यावर	(राजपूताना)	१९९१
लीमड़ी	(गुजरात)	१९९२
नासिक	(महाराष्ट्र)	१९९३, २००४
मनमाड	(,,)	१९९४
कम्बोल	(मेवाड़)	१९९५
रायपुर	(मारवाड़)	१९९९
धार	(मध्य प्रदेश)	२००३
घाटकोपर	(बम्बई)	२००५
चूडा	(सौराष्ट्र)	२००६
जयपुर	(राजस्थान)	२०१०, २०१२, २०१३
दिल्ली	(,,)	२०११

महास्थविर श्री ताराचन्दजी महाराज के जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा यहाँ पर प्रस्तुत की गई है। जिससे विज्ञगण समझ सकते हैं कि उनका व्यक्तित्व कितना तेजस्वी, ओजस्वी और वर्चस्वी था। उनके विराट जीवन को शब्दों में बाँधना बड़ा ही कठिन है। उन्होंने जन-जन के सुषुप्त अन्तर्-जीवन को जागृत किया। श्रमणसंघ के संगठन के लिए भगीरथ प्रयास किया। ग्राम और नगरों में कलहाग्नि का उपशमन किया, शान्ति, सौमनस्य, एकता की स्थापना की, समाज की बुराइयों के विरुद्ध सिंहनाद किया और जैनधर्म के गौरव में चार चाँद लगाये।

७

उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी महाराज

उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज स्थानकवासी जैन श्रमण परम्परा के एक तेजस्वी प्रतिनिधि सन्त हैं। विद्या के साथ विनय, अधिकार के साथ विवेक, प्रतिष्ठा और लोकनिष्ठा के साथ सरलता का ऐसा अद्‌भुत संगम है, जो विरले व्यक्तियों में ही मिलता है। आपका बाह्य व्यक्तित्व आकर्षक और प्रभावक है तो आन्तरिक व्यक्तित्व निर्लेप और निर्विकार है। लम्बा और भरा-पूरा शरीर, कान्तिमय गौरवर्ण, मधुर मुस्कान से सुशोभित मुख, विशाल भाल, चौड़ा वक्षस्थल, प्रलम्ब बाहु, सिर पर धवल केश-राशि, झील सी गहराई लिए हुए उपनेत्र में से अमृत बरसाते हुए तेजोमय नेत्र। गुलाब सा मुस्कुराता हुआ प्रसन्न वदन, स्नेह और सौजन्य बरसाती हुई कोमल वाणी। जो प्रथम परिचय में ही अपना अमिट प्रभाव डाल देती है। हृदय में माधुर्य, चिन्तन के आलोक और जीवन के सारल्य से एक ऐसा सजीव चित्र निर्मित होता है—जो संगीत की तरह सरस, मोम सा मृदुल, अंगूर सा तरल और मधु सा मधुर है।

मानव जाति के अभ्युत्थान के लिए समर्पित उनका तेजस्वी और यशस्वी जीवन जन जन के लिए अभिवन्दनीय और अभिनन्दनीय है। उनके महामहिम व्यक्तित्व में सरल और सरस मानस, तर्कप्रवण प्रज्ञा और मृदु व मधुर वाणी इन तीनों तत्व का ऐसा अनूठा सामंजस्य हुआ है, जिसे देखकर कौन श्रद्धालु नत नहीं होता! आपका जीवन धर्म, सदाचार, सत्य, अहिंसा, विश्व प्रेम और विश्व मानवत्ता का पावन प्रतिष्ठान है। आपका अद्‌भुत व्यक्तित्व फूलों के गुलदस्ते की भांति विभिन्न गुणों की सुरभि से सुरभित है। आपका हृदय माधुर्य से लबालब भरा हुआ ऐसा पुष्कर सरोवर है, जो अपनी सीमा में आबद्ध नहीं रहता किन्तु विशाल मानवता के कल्याण हेतु लोकगंगा बन फूट पड़ता है। आपका चिन्तन श्रद्धा और विवेक से निर्मित ऐसा रसायन/पराग है, जो साहित्यरूपी सुमन वाटिका में विकसित ज्ञान-विज्ञान के बहुरंगी पुष्पों की सौरभ ग्रहण कर अपना माधुर्य निखारता है। सारग्राही

दृष्टि से अनेकता में एकता, भिन्नता में अभिन्नता के संदर्शन कर सांस्कृतिक समन्वय और विश्व-मानव-ऐक्य की अन्तःस्पर्शिनी स्वर-लहरियां झनझनाती रहती हैं। आपके जीवन में आध्यात्मिक आलोक जगमगा रहा है पर वह आलोक सूर्य के आलोक की तरह प्रचण्ड नहीं है, चन्द्र की ज्योत्स्ना की तरह शीतल है। आप एक ओर उच्च कोटि के मूर्धन्य मनीषी हैं तो दूसरी ओर पहुँचे हुए सफल साधक भी हैं। ज्ञान की गरिमा और साधना की महिमा से व्यक्तित्व के दोनों छोर कसे हुए हैं। आपकी प्रभावशाली वक्तृत्व कला हजारों-हजार श्रोताओं का हृदय क्षणमात्र में आन्दोलित/परिवर्तित कर सकती है। तो आपका ध्यान-साधनायुक्त एक विरल संकेत अपार श्रद्धालु वर्ग को सर्वस्व न्यौछावर करने को आतुर भी कर सकता है। आप में एक साथ अनेक विरोधी गुण देखकर किसे आश्चर्य नहीं होता! विनम्रता के साथ सिद्धान्त-निष्ठा और आचारदृढ़ता, मधुरता के साथ अनुशासन, कठोरता, सरलता-कोमलता के साथ उत्कृष्ट तपःसाधना, जप-योग एवं ध्यानयोग की अन्तःस्रावित अमृत साधना—वस्तुतः बड़ी विचित्र, आश्चर्यजनक है तथा मन को सहसा प्रभावित करती है।

आपश्री का जागतिक व्यक्तत्व किसी परम्परित धातु से निर्मित नहीं, पर जिस धातु से निर्मित है—वह खरी है और कालसह्य है। वे किसी समाज और परम्परा तक ही सीमित नहीं हैं अपितु खुले मन-मस्तिष्क के श्रमण हैं। मानवता से आपको प्यार है और उसी के उत्थान के लिए आप सतत प्रयत्नशील हैं। इस विरल व्यक्तित्व के धनी श्रद्धेय उपाध्यायश्री का जन्म विक्रम संवत् १९६७ आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को वीर भूमि राजस्थान में उदयपुर के जिलान्तर्गत सिमटार ग्राम में हुआ, जो गोगुन्दा का ही एक विभाग है। जहाँ पर महाराणा प्रताप का राजतिलक हुआ था, वहीं पर आपका जन्म हुआ पर लालन-पालन ननिहाल नान्देशमा ग्राम में हुआ, इसीलिए जन्मभूमि नान्देशमा भी मानी जाती है।

उस दिन माता का हृदय आनन्द से विभोर था, मन प्रमुदित था। शरद की निर्मल ज्योत्स्ना में एक शिशु ने जन्म लिया। माँ ने स्वप्न निहारा था, उसके मुंह में एक रसदार आम के फल ने प्रवेश किया है। माँ ने चिन्तन किया कि आम फलों का राजा है, वह गरीब और अमीर सभी को समान रूप से प्राप्त है। इसी तरह यह मेरा फूल सा सुकोमल शिशु भी अपने विमल-विचारों का रस सभी को प्रदान करेगा। अतः शिशु का नाम अम्बालाल रखा जाए। माता वालीबाई की बात को पिता सूरजमल ने सहर्ष

स्वीकार किया और नामकरण-संस्कार का उत्सव उल्लास के साथ सम्पन्न हुआ। उत्सव के बाद माँ अपने पुत्र को लेकर अपने पीहर नान्देशमा आ गई।

बालक ठुमक-ठुमक कर किलकारियाँ मारता, बाल-गोपाल की तरह माता के मन को मोद से भर देता और अपने संगी-साथियों के दिल हर लेता। उसमें सहज स्फूर्ति थी। वह खेलने में चुस्त था और पूर्ण स्वस्थ भी था। जो भी बालक को निहारता वह प्यार से उसे चूमने लगता। नान्देशमा के ग्रामीण परिवेश में, प्रकृति के सुरम्य अंचल में खेलते-कूदते हुए बालक नौ वर्ष का हो गया।

एक दिन यकायक माता ज्वर की व्याधि से ग्रसित हो गई। माँ को सुस्त मुद्रा में सोई देखी तो बालक अम्बालाल ने माँ से पूछा—माँ! तुम्हें आज क्या हो गया है? आज तुम्हारे चेहरे पर मुस्कान क्यों नहीं है?

माँ ने कृत्रिम मुस्कान बिखेरते हुए कहा—वत्स! आज मैं बहुत थक गई हूँ। इसलिए लेट गई हूँ। तुम्हारा भोजन सामने रखा है। तुम भोजन कर लो।

बालक ने माँ के शरीर को छुआ तो चौंक कर हाथ हटा लिया। शरीर तप्त तवे की भाँति तप रहा था। अरे माँ! तुम तो बीमार हो गई हो। लो, मैं अभी जाकर वैद्य जी को बुला लाता हूँ।

माँ ने बालक को समझाते हुए कहा—वत्स! तुम मुझे छोड़कर न जाओ, नहीं तो मैं तुम्हें छोड़कर चली जाऊँगी।

माँ की सांकेतिक बात को बालक न समझ सका, और वह सोचने लगा कि माँ मुझे छोड़कर कहाँ जाएगी? उसने माँ के हाथ को कसकर पकड़ लिया और कहा—बोल माँ! मुझे छोड़कर कहाँ जाएगी? मैंने ऐसी कौन सी गलती की है जो तू मुझसे नाराज हो गई है?

माँ बोलने की स्थिति में नहीं थी। वह अपने प्यारे लाल को टकटकी लगाए देख रही थी। उसकी आँखों से टप-टप आँसू टपक रहे थे। माँ को रोते हुए देखकर बालक ने कहा, "माँ! तुम दुःखी न होओ। अब मैं तुम जैसा कहोगी, वैसा ही करूँगा। मैं अब खेलने के लिए भी बाहर नहीं जाऊँगा।" कहते-कहते बालक भी रो पड़ा। पर यह क्या? माँ बोल क्यों नहीं रही है? माँ का हाथ ठण्डा-ठण्डा सा क्यों हो गया है? बालक ने पकड़ा हुआ हाथ छोड़ा तो वह निर्जीव सा गिर पड़ा। बालक का अबोध

मन भयभीत हो उठा। उसने माँ को जोर से पुकारने का प्रयास किया पर आवाज कण्ठ में ही अटक गई। वह घबरा कर रोते-रोते पड़ोसी के घर तूफान सा पहुँचा और बोला—देखो! मेरी माँ को न जाने क्या हो गया है? वह न तो बोलती है और न हिलती-डोलती है। रुदन से अवरुद्ध कण्ठ से बालक इतने से शब्द भी कठिनता से कह पाया और जोर-जोर से सिसकियाँ भर रोने लगा। पड़ोसी ने जाकर देखा—पिंजरा खाली था। पंछी उड़ चुका था। उन्होंने बालक को प्यार से सहलाते हुए गोद में उठा लिया और कहा, "वत्स! तू चिन्ता न कर। अभी तेरी माँ ठीक हो जाएगी।" वह बालक को समझा-बुझाकर अपने घर ले आया।

ग्राम-निवासियों ने एक व्यक्ति को तुरन्त वालीबाई की ससुराल सिमटार ग्राम में सूरजमलजी को सूचित करने हेतु भेजा। सिमटार और नान्देशमा के बीच की दूरी मात्र सात कि० मी० है। सूचना प्राप्त होते ही सूरजमलजी नान्देशमा पहुँचे। ग्रामवासियों ने पहले ही सब तैयारी कर रखी थी। अर्थी उठाई जाने वाली थी कि बालक अम्बालाल रोता-रोता वहाँ पहुँचा और पिता को झंझोड़ कर पूछने लगा—"माँ को क्या हुआ है? माँ को इस तरह क्यों बाँधा है? माँ बोलती क्यों नहीं?" उत्तर न मिलने पर वह दौड़ा और अर्थी से जा चिपटा। बड़ी मुश्किल से उसे अर्थी से अलग किया गया और एक ग्रामवासी ने उसे थाम लिया। शवयात्रा प्रारम्भ हुई तो वह चीख पड़ा "मेरी माँ को बाँधकर कहाँ ले जा रहे हो?" वह विक्षिप्त की भाँति ग्रामवासी की पकड़ से छूट गया और पीछे-पीछे दौड़ने लगा। पति के कन्धों पर चढ़ वालीबाई का पार्थिव शरीर श्मशान पहुँचा। जब चिता पर रखा गया तो बालक रुदन से भर गया, हिचकियाँ बँध गई। जब अग्नि दी जाने लगी तो उसके हृदय के सारे बाँध टूट गए, वह चीख उठा, उसके सारे स्नायु तनाव से खिंच गये। उसकी चीख लोगों के सरों पर मंडरा रही थी—"मैं माँ को जलाने नहीं दूँगा।" यदि उसे मजबूती से पकड़ कर न रखा गया होता तो वह चिता में कूद पड़ता। परवश वह रोता रहा, ग्रामजनों और पिता को कोसता रहा। देखते-देखते उसकी माँ का शरीर पंच-तत्वों में विघटित हो राख बन गया। यह था, बालक अम्बालाल के शिशु मन का मृत्यु से पहला साक्षात्कार! जिसने उसकी संसार से प्यारी संज्ञा माँ को उससे अलग कर आग के हवाले कर दी थी।

बालक रोता-रोता मूर्च्छित हो गया। बालक को पिता प्यार से उठाकर सिमटार ले पहुँचे। किन्तु सिमटार में माँ के अभाव में उसे सूना-सूना लगने

लगा। वह वहाँ से नान्देशमा आ गया। किन्तु वहाँ भी माँ कहाँ थी ? माँ के अभाव में बालक गुमसुम रहने लगा। उसके चेहरे की मुस्कान जाने कहाँ खो गई थी। वह एकान्त/शान्त स्थान पर बैठकर सोचता कि माँ मृत्यु को वरण कर चुकी है तो क्या मैं भी इसी तरह मृत्यु को प्राप्त होऊँगा ? जीवन सत्य है या मृत्यु सत्य है ? मृत्यु क्या है ? जीवन क्या है ? और बालक का भोला-भाला मन इस गुत्थी को सुलझा नहीं पा रहा था। वह घण्टों तक इन प्रश्नों पर चिन्तन करता रहता। माँ की मृत्यु ने उसे उस खोज से जोड़ दिया था, उस चिरन्तन-चिन्तन से जोड़ दिया था, जिसका उत्तर पाने को व्यक्ति साधना मार्ग पर चरण बढ़ाता है। विश्व की यह उपेक्षित घटना उसके लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हो उठी। प्रश्नों का समाधान खोजते अम्बालाल की दार्शनिक मुद्रा देखकर ग्राम निवासियों ने सोचा कि माँ के वियोग में कहीं यह पागल न हो जाए ! अतः मादड़ा से आए हुए सेठ अम्बालाल से कहा कि आप इस बालक को अपने साथ ले जाएँ। स्थान परिवर्तन होने से यह बालक माँ की याद को भूल सकेगा और प्रसन्न रहने लगेगा।

सेठ अम्बालाल संतान-सुख से वंचित थे। जब अम्बालाल सेठ ने बालक अम्बालाल को देखा तो उसके उदास पर सुन्दर चेहरे की अबोधता ने उनके मन को छू लिया। उनका वात्सल्य उमड़ पड़ा। वर्षों की तृष्णा जैसे तृप्ति पाने लगी। उन्होंने आगे बढ़ बालक को अंक में समेट लिया। अपने आप में खोए बालक अम्बालाल को यों अनायास ही मिली वत्सलता ने प्रभावित किये बगैर नहीं छोड़ा, और वह भी सेठ के साथ जाने को तैयार हो गया।

सेठजी बालक को स्नेह सहित परावली लिवा ले गए। दस-बारह वर्ष से सेठानी जी का तरसता मातृत्व बालक को देखकर हर्षित हुआ। इस प्रकार बालक फिर से स्नेह की छांव पाकर सहज होने लगा। बालक अम्बालाल के चरण इस घर में जब से आये थे, तभी से घर में श्री की अभिवृद्धि होने लगी थी। व्यवसाय चमक उठा था और सम्पत्ति में भी अभिवृद्धि होने लगी थी। वर्षों की अभिलाषा भी पूर्ण हुई और सेठानी की वर्षों की सूनी गोद भर गई। सेठ अम्बालाल को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई थी। वर्षों की सूनी गोद क्या भरी, चहुँ ओर खुशियाँ छा गई। बालक अम्बालाल भी खूब प्रसन्न था। आखिर क्यों न हो ? उसे भी तो संग खेलने वाला एक साथी मिला था। उसके दिन अच्छे बीत रहे थे। अल्लसुबह वह सेठानी से कलेवा और ब्यालु बंधवा, चल देता जंगल की ओर। सेठजी की

पशुशाला में बँधने वाला हर पशु बालक का आत्मीय हो गया था। बांसुरी की टेर सुनते ही वे खूंटे खेंचने लगते। बँधी रस्सी खुलते ही वे चल देते—बालक अम्बालाल के पीछे। चरवाहा तो पीछे चलता है, पर यहाँ पशु चलते पीछे और आगे होता—बालक अम्बालाल खेलता, कूदता, दौड़ता। दिन भर जंगल में बीतता उसका, और शाम वह लौटता धूल सना, अपनी गायों के साथ। शाम का भोजन, और निर्द्वंद्व नींद। यह थी उसकी दिनचर्या और रात्रि-विश्राम।

पर "अपने मन कछु और है विधना के कछु और"। सेठजी और सेठानी जी अब अपने आत्मज पुत्र में ही मगन रहने लगे थे। बालक अम्बालाल का भावुक मन बदलती स्थितियों को भांप रहा था। अब उसे सुबह समय पर कलेवा और भोजन नहीं मिलता था। कभी-कभी बिना भोजन लिए ही खिन्न मन चल देता था—जंगल की ओर।

और एक दिन नियति ने इस ममता के मोह-बन्धनों को शिथिल करने का निर्णय कर लिया। उस दिन बालक अम्बालाल जब पशुओं को चराने जंगल में गया तो खेलते-खेलते जोर से ठोकर लगी। पीड़ा से मानो आँखें बाहर उबल पड़ीं। रक्त बह रहा था। अश्रु झर रहे थे। पर उस जंगल में कौन था जो उसकी चिकित्सा करता? शाम हुई, अम्बालाल गिरते-पड़ते पशुओं के साथ घर पहुँचा। यह सोचते-सोचते कि वह घर पहुँचेगा तो माँ दौड़कर दुलरायेगी। पांव पर पट्टी भी कर देगी। हो सकता है आज के बाद मेरे जंगल का स्वच्छन्द जीवन भी मुझसे छिन जाय। क्योंकि ऐसी चोट खाने के बाद शायद माँ स्नेहवश भविष्य में मुझे पशु चराने न भेजे। पर जब बालक घर पहुँचा तो बालक के कच्चे सपने टूटकर बिखर गये। द्वार पर कोई उसकी प्रतीक्षा नहीं कर रहा था। घर में प्रवेश करते ही सेठजी ने कठोर शब्द में विलम्ब से आने का कारण पूछा तो बालक ने पैर की चोट दिखा दी। उसने सोचा कि शायद अब सेठजी द्रवित होंगे पर गर्म शीशे की तरह कान में शब्द पड़े—"देखकर नहीं चला जाता क्या?" वज्र की तरह कठोर शब्द सवेदनशील मन पर चाबुक से गिरे। आँखों तक आए आंसू बाहर आने से पहले ही सूख गये। मरहम-पट्टी तो दूर स्नेह के दो बोल भी नहीं मिले, मिली सिर्फ उपेक्षा। निष्ठुर संसार की स्वार्थपरता से बिंधा बाल-मन रात भर सो नहीं पाया। पैर की पीड़ा तो थी ही। प्रातः उठा तो शरीर ज्वर से तप रहा था। मरहम-पट्टी के अभाव में पैर सूज गया था। इतने में सेठजी के भृत्य ने आकर कहा—सेठजी ने कहा है,

पशु चराने जाओ। मन के अनुताप और ज्वर के परिताप से बालक झुलस गया। वह ठीक से चल भी नहीं पा रहा था, पीड़ा से दांत भिच जाते थे, पर शरीर को घसीटता हुआ वह ढोर चराने जंगल की ओर चल पड़ा। आज पशु आगे थे और अम्बालाल पीछे। शारीरिक और मानसिक पीड़ा से बालक जंगल में पहुँचते ही फूट पड़ा। भूली हुई माँ की स्मृतियाँ उसे कोंच रही थी। आँसुओं की धारें लग गई। बालक जी भरकर रोया। शाम को जब वह घर लौटा तो उस घर में वह पराया बनकर लौटा। ज्वर से चेहरा लाल हो रहा था। सन्ताप में सान्त्वना ही सबसे बड़ी औषधि होती है, पर वह नहीं मिली। स्नेह के तन्तु क्षीण हो चुके थे। बालक का मन सेठ परिवार के प्रति विद्रोह से भरा था।

वह अनमना सा नित्यक्रम निबाहता रहा। पंर के घाव के लिए मिट्टी ही औषधि थी। कुछ दिन बीते बालक ने देखा गाँव में साध्वियाँ आई हुई हैं। उनके पावन प्रवचन को सुनने के लिये जनता बरसाती नदी की तरह उमड़ रही है। यह देखकर वह भी एक दिन महासती जी के प्रवचन सुनने के लिए पहुँचा। प्रवचन चल रहा था। वह एक अकेले कोने में जाकर बैठ गया। प्रवचन समाप्त हुआ। लोग अपने घरों की ओर चल दिये। वह बैठा ही रहा। वह विचारों के सागर में गोते लगा रहा था। सोया हुआ प्रश्न हवा लगते ही फिर जाग गया था—जीवन क्या है? मृत्यु क्या है? जीवन सत्य है या मृत्यु सत्य है?

महासती जी की पैनी दृष्टि बालक पर पड़ी। वे उसके सन्निकट पहुँच गयीं और वाणी में मिश्री घोलते हुए महासती जी ने कहा—"वत्स! तुम कौन हो?"

बालक ने सहज भाव से कहा—"मैं लम्बे समय से इसी पहेली को बूझने में लगा हूँ कि मैं कौन हूँ?"

बालक की मनोदशा को अभिव्यक्त करता उत्तर सुन महासती जी की दृष्टि बदल गई। उन्होंने गौर से बालक को आपादमस्तक निहारा। धूल अटे शरीर में छुपी दिव्य आत्मा के दर्शन हुए। उन्हें लगा कि यह बालक जैन शासन की प्रबल प्रभावना करने की सामर्थ्य रखता है। अतः उन्होंने बालक के मन को सहलाते हुए कहा—"क्या तुम साधु बनने की इच्छा रखते हो?"

बालक ने सोत्साह कहा—"मैं साधु बनना तो चाहता हूँ पर उन

महाराज का शिष्य बनूंगा जो नान्देशमा में तीन वर्ष पहले आए थे। मेरी माँ की उन पर बहुत भक्ति थी। उन महाराज ने कहा था कि यदि तू मेरा नाम भूल जाए तो आकाश में तारे देखना। उन्होंने मुझे उस समय एक कहानी भी सुनाई थी जिसमें छह व्यक्तियों ने दीक्षा ली थी।"

महासती जी धूलकुँवरजी ने कहा—"उन महाराज का नाम ताराचन्द जी महाराज था। और उन्होंने तुझे भृगु पुरोहित की कथा सुनाई थी, ना? बालक ने स्वीकृति में सर हिलाया तो महासती जी आगे बोलीं—"वह महाराज हमारे भी गुरु हैं। यदि तेरी इच्छा हो तो हम तुझे उनके पास भेज दें।"

बालक ने कहा—"यदि महाराज मुझे लेने के लिए यहाँ आयेंगे तो मैं सहर्ष उनके साथ हो लूंगा। महाराज लेने नहीं आयेंगे तो नहीं जाऊँगा।"

महासतीजी ने गुरुदेव श्री ताराचन्दजी महाराज को सूचना प्रेषित की कि आप मारवाड़ से शीघ्र मेवाड़ पधारें क्योंकि यहाँ पर अम्बालाल नामक एक बालक है, जो प्रतिभासम्पन्न है और उसने वचन दिया है कि आपके यहाँ आने पर वह संयम धर्म को स्वीकार करेगा।

महासती जी के द्वारा प्रेषित संदेश मिलने पर श्री ताराचन्दजी महाराज बाड़मेर जिले से विहार कर मेवाड़ पधारे। बालक अम्बालाल ने अपने वचन के अनुसार महाराज के साथ जाने के लिए अपने अभिभावकों से अनुमति माँगी और वह महाराजश्री के साथ चल दिया। उस समय अम्बालाल की आयु मात्र तेरह वर्ष की थी। एक वर्ष तक निरन्तर साथ में रहकर अध्ययन किया। इस मध्य पिता सूरजमलजी ने बालक को समझा-बुझाकर घर लौटाने का कई बार प्रयत्न किया और कहा कि तू मेरा कुलदीपक है। इसलिए जो यह राजकीय जागीरी है उसका उपभोग कर, संन्यास तो जीवन की सांध्य बेला में ग्रहण करने की चीज है न कि उषाकाल में।

बालक ने सहज मुद्रा में उत्तर दिया—"पिताजी यदि आपको यह आत्मविश्वास हो कि बुढ़ापा आयेगा ही और उसके पश्चात् ही मृत्यु होगी तो मैं बाद में दीक्षा ले लूंगा। पर जीवन का तो कोई भरोसा नहीं है अतः ज्ञानियों ने कहा है कि क्षण मात्र का भी प्रमाद न करो।"

पिता सूरजमलजी चिन्तन करने लगे कि मैं क्या उत्तर दूं? जीवन का तो कोई भरोसा नहीं है। मेरे देखते-देखते ही पत्नी ने संसार से विदा ले ली। अतः उन्होंने मौन स्वीकृति दे दी और विक्रम संवत् १६८१ ईस्वी

सन् १६२४ में ज्येष्ठ शुक्ला दशमी के दिन वैरागी अम्बालाल ने गुरुदेव ताराचन्दजी महाराज के पास गढ़ जालोर में आर्हती दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित अम्बालाल का नाम पुष्कर मुनि रखा गया क्योंकि पुष्कर निर्लेपता व पवित्रता का प्रतीक है। श्रमण बनने पर पुष्कर मुनिजी ने अपने जीवन का प्रथम लक्ष्य बनाया—अध्ययन। अध्ययन से बुद्धि मंजती है, चिन्तन में निखार आता है अतः आपने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं का गम्भीर अध्ययन किया। आगम, त्रिपिटक, वेद, उपनिषद्, पुराण, न्याय, दर्शन, व्याकरण का तलस्पर्शी अध्ययन किया। उर्दू, फारसी आदि भाषाओं पर भी खासा अधिकार प्राप्त कर लिया। अध्ययन और अध्यापन—ये आपको प्रिय रहे हैं। आपने अनेक शिष्य-शिष्याओं को जैन आगम, दर्शन आदि का अध्ययन करवाया। आपकी प्रेरणा से अनेक विद्या केन्द्र संस्थापित हुए। आपकी प्रेरणा से ही पूना विश्वविद्यालय में जैन चेयर की संस्थापना हुई। और आपके सदुपदेश से ही श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय की संस्थापना हुई जिसने विविध विधाओं में विपुल साहित्य प्रकाशित कर एक कीर्तिमान स्थापित किया। अनेक स्थानों पर गृहस्थों के धर्मध्यान के लिए स्थानक बने। मद्रास में दक्षिण भारतीय स्वाध्याय संघ का निर्माण हुआ।

आपश्री के जीवन की अनेक विशेषताएँ हैं। आपश्री एक समर्थ साहित्यकार हैं। आपने साहित्य की हर विधा में लिखा है। आप जीवन के उषाकाल में गीतकार रहे हैं, जीवन के वसन्त में कोमल कवि और जीवन मध्य में दार्शनिक, चिन्तक और समाज-संगठन के सजग प्रहरी हैं। आपका साहित्य शब्द-क्रीड़ा या वाग्-विलास न होकर उमड़ते हृदय का भावोल्लास है। आपने आगम, निगम, शास्त्र, पुराण, इतिहास प्रभृति जितने भी विषय हैं—उन्हें अपने अनुभव की आग में तपाकर लोक-मंगल की भव्य-भावना से बिना किसी भेद-भाव के विभिन्न विधाओं में प्रस्तुत किया है। कभी कथा का माध्यम लिया तो कभी प्रवचन का, कभी निबन्ध का और कभी काव्य का। आपके द्वारा लिखित जैन कथाएँ श्रेणी के ६८ भाग प्रकाशित हो चुके हैं और शीघ्र ही १०८ भागों में यह कथामाला सम्पन्न होने जा रही है। इस कथामाला में हजारों बोधपरक कथाएँ संकलित हैं जिनका अंग्रेजी, गुजराती और मराठी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और प्रकाशन भी।

कल्पना सापेक्ष गद्य-काव्य दो भागों में विभक्त है—एक कहानी है तो दूसरा उपन्यास है। सुप्रसिद्ध लेखक प्रेमचन्द ने कहानी की परिभाषा

लिखते हुए लिखा है कि जीवन के किसी एक अंग या भाव को प्रदर्शित करना कहानी है तो पश्चिमी कहानीकार एडगर एलिन पो का मन्तव्य है कि एक ही प्रभाव डालने वाली संक्षिप्त रचना कहानी है।

श्रद्धेय गुरुदेवश्री के कथा साहित्य का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि वस्तु, पात्र, संवाद, शैली और उद्देश्य—ये सभी तत्व उनकी कहानियों में सुन्दर और सहज रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। भाव, भाषा, शैली और कथोपकथन अपने ढंग के निराले हैं। शैली की मधुरता के कारण कहानियाँ बोझिल नहीं हुई हैं। कहानियों का उद्देश्य है—नैतिक जीवन, सांस्कृतिक उत्थान, कर्म का फल और पाप से मुक्त होने का सन्देश। कथावस्तु की दृष्टि से उनकी कहानियाँ ऐतिहासिक और पौराणिक हैं।

आपके प्रवचन साहित्य के भी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। आपके प्रवचन साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है कि जहाँ उसमें भावों का गाम्भीर्य है, वहाँ उसमें भाषा की प्रांजलता है और शैली की मधुरता है। प्रवचन साहित्य को पढ़ते-पढ़ते पाठक आनन्द से झूमने लगता है। स्थान-स्थान पर विषय को स्पष्ट करने के लिए रूपक, कथाएँ और सूक्तियों का भी प्रयोग है। प्रवचन साहित्य में केवल साधना क्षेत्र के ही अनुभव नहीं है, अपितु जीवन के बहुव्यापी, बहुआयामी अनुभव छलक रहे हैं। नीति, व्यवहार, धर्म, साधना प्रत्येक क्षेत्र के अनुभवों का अमृत इनमें मिलता है। उसे पढ़ते-पढ़ते कभी यह अनुभव होता है कि वह कन्फ्युशस की नीति शिक्षाएँ पढ़ रहा है, कभी उससे यह अनुभव होता है कि ईसप और विष्णु शर्मा की मर्मस्पर्शी कहानियों के माध्यम से जीवन के भाष्य को उद्घाटित किया जा रहा है, कभी उसे उसमें चिन्तन की गहराई के दर्शन होते हैं तो कभी धर्म और दर्शनशास्त्र की मौलिक चिन्तन मणियाँ बिखरी हुई दिखाई देती हैं। इस प्रकार आपका प्रवचन साहित्य ज्ञान, विज्ञान और अनुभव का खजाना है।

इसी प्रकार आपका निबन्ध साहित्य भी सशक्त है। गद्य का पूर्ण विकसित और शक्तिशाली रूप निबन्ध में व्यक्त होता है। सामान्य लेखन और निबन्ध में अन्तर है। सामान्य लेखन में लेखक का व्यक्तित्व प्रच्छन्न रहता है किन्तु निबन्ध में उसका व्यक्तित्व सबसे ऊपर उभर कर आता है। गुरुदेवश्री के निबन्धों में निबन्ध कला का पूर्ण विकास निहारा जा सकता है। आपश्री के निबन्ध भावात्मक और विचारात्मक दोनों ही शैलियों में लिखे हुए हैं। निबन्धों की शैली सरस, सरल और हृदय की भावनाओं को

व्यक्त करने में सक्षम है। उनके निबन्धों के विषय हैं—धर्म, दर्शन, समाज, संस्कृति, जीवन और साहित्य आदि। निबन्धों की कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। उनमें 'ओंकार : एक अनुचिन्तन', 'संस्कृति के स्वर' आदि मुख्य हैं।

कविता जीवन की व्याख्या है। कविता मानव को वे पक्ष प्रदान करती है जिनके सहारे वह आकाश की उन्मुक्तता अपनी सीमित दृष्टि से निहार पाता है और संकुचितता से मुक्त हो विस्तृतता की ओर कदम बढ़ाता है। कविता मानव जीवन की कलापूर्ण विवेचना है; सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की वह अभिव्यक्ति है जिसके पाथेय को प्राप्त कर जन-जीवन धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक सन्तरण की क्षमता को प्राप्त करता है। काव्य जन-जीवन की दीप्ति का सहज प्रकाशन है। यह सत्य है कि राष्ट्रीय, सांस्कृतिक, धार्मिक भावनाएँ कविता के माध्यम से मूर्त्त रूप ग्रहण करती हैं।

गुरुदेवश्री के सहज कवित्व को प्रकृति नटी की सौन्दर्य सुषमा, प्रभात की मधुरिमा, संध्या की रमणीयता, चन्द्र की ज्योत्स्ना, कल-कल छल-छल बहती नदियों के संगान या गगनचुम्बी पर्वत-मालाओं का सौन्दर्य लुभा नहीं पाया है। उनका काव्य इन सबसे ऊपर उठकर आत्मा और परमात्मा की दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाता है और आध्यात्मिक चिन्तन को उद्बुद्ध करता है। उनकी काव्यधारा वासना के क्षार जल में विलीन नहीं हुई है किन्तु सांस्कृतिक परम्पराओं का समन्वय करती सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के क्षीर सागर में विसर्जित होती है। गुरुदेवश्री ने विपुल काव्य-साहित्य का सृजन किया है। विमल विभूतियाँ, वैराग्यमूर्ति जम्बूकुमार, ज्योतिर्धर जैनाचार्य, महाभारत के प्रेरणा प्रदीप प्रभृति अनेक ग्रन्थ हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं और श्रीमदमरसूरिकाव्यम् संस्कृत भाषा में प्रकाशित है। प्रकाशित रचनाओं से भी अधिक हैं—अप्रकाशित रचनाएँ। इसी तरह आपने विविध विषयों पर धार्मिक गीत और गीतिकाएँ भी लिखी हैं जो विभिन्न राग और रागनियों पर आधृत हैं। आपश्री के पुष्कर प्रभा, संगीत सुधा, भक्ति के स्वर आदि गीतों के अनेक संकलन भी प्रकाशित हुए हैं।

इस प्रकार साहित्य की अनेक विधाओं में आपश्री ने जमकर लिखा है। भाव, भाषा, शैली सभी दृष्टियों से वह साहित्य उत्कृष्ट है। आप भारतीय प्राच्य विद्या के अनुसंधान, संपादन और विवेचन में सर्वात्मना समर्पित हैं। दो सौ से भी अधिक कृतियाँ हिन्दी, संस्कृत, गुजराती, राजस्थानी और मराठी भाषा में प्रकाशित हो चुकी हैं।

आपश्री संगठन के प्रबल पक्षधर रहे हैं। समाज के बिखरे तारों को

आपने अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा से एक डोर में गूंथा है। आपश्री के प्रबल प्रयास से सन् १९५२ में सादड़ी में सन्त सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में लगभग पचास हजार नर-नारी एकत्रित हुए थे। सभी सम्प्रदायों की सरिताओं ने मिलकर श्रमण संघ रूपी महासागर का निर्माण किया। आप श्री की विलक्षण प्रतिभा, सूझ-बूझ, संगठन-निष्ठा ने श्रमण सम्मेलन की सफलता में चार चाँद लगाये। इस सम्मेलन में सर्वानुमति से जैन धर्म दिवाकर आत्मारामजी महाराज को आचार्य पद प्रदान किया गया। आगम मर्मज्ञ गणेशीलालजी महाराज को प्रधानमन्त्री पद प्रदान किया गया। सोलह विद्वान मुनिराजों का एक मन्त्रिमण्डल बनाया गया। उसमें आपश्री को साहित्य शिक्षण मन्त्री का दायित्व दिया गया। उसके पश्चात् सोजत मन्त्रि-मण्डल की बैठक, भीनासर सम्मेलन (१९५५), अजमेर शिखर सम्मेलन (१९६४) और सांडेराव, राजस्थान प्रान्तीय सम्मेलन (१९७१) में आपश्री ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। श्रमण संघ अखण्ड बना रहे इस हेतु आपका अथक प्रयास रहा। उसके लिए आपश्री ने लम्बे-लम्बे विहार भी किये और जी-जान से प्रयास भी किये। आपश्री चाहते हैं कि श्रमण संघ और श्रावक संघ दोनों ही आचार और विचार की दृष्टि से उन्नत हों। आपश्री स्थानकवासी जैन समाज के ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण जैन समाज की एकता के लिए प्रयत्नशील हैं। आपका यह स्पष्ट अभिमत है कि एकता ही जीवन है। सन् १९७६ में आपश्री की प्रताप-पूर्ण प्रतिभा से प्रभावित होकर आचार्य सम्राट आनन्द ऋषिजी महाराज ने आपको उपाध्याय पद से अलंकृत किया।

आपश्री को जप और ध्यान अत्यधिक प्रिय है। आपकी नमस्कार महामन्त्र पर अपूर्व निष्ठा है और स्वयं उसी का एकनिष्ठा के साथ दिन में तीन बार जप करते हैं, और ध्यान की साधना भी। आपकी जप-साधना ने हजारों व्यक्तियों को प्रेरणा दी है और उन्हें जप और ध्यान की महत्ता से परिचित करवाया है। आधुनिक युग में वैज्ञानिक साधनों की प्रचुरता होने पर भी जो तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो रही है, उस तनावपूर्ण स्थिति पर नियन्त्रण पाने का सरलतम और सुगम साधन है—जप और ध्यान। जप से वाणी में निखार आता है तो ध्यान से मन की शुद्धि होती है। जप और ध्यान के साथ आसन भी अनिवार्य है। आसन से तन की शुद्धि होती है। इस प्रकार तन, मन और वचन की शुद्धि के लिए यह त्रिपुटी आवश्यक है।

आपका स्वभाव बहुत ही सरल है। माया आपको पसन्द नहीं। जो आपके मन में है, वही वचन में है और वही आचरण में भी है। आपका यह

स्पष्ट मन्तव्य है कि सिद्ध बनने के लिए सीधा होना आवश्यक है। सरलता के साथ विनय का मणिकांचन संयोग आपके जीवन और व्यवहार में देखा जा सकता है। बड़ों का विनय और छोटों से प्यार करना आपको प्रिय है।

आप परिव्राजक हैं। आपके जीवन का मूलमन्त्र है—चरैवेति, चरैवेति ! चले चलो, बढ़े चलो, क्योंकि "चरन्वै मधु विन्दति" जो चलता है वही अमृत को प्राप्त होता है। और "चरति चरतो भगः" जो चलता रहेगा उसका भाग्य भी गतिशील होगा। अतः आप केवल "स्वान्त: सुखाय" नहीं, "सर्वजन सुखाय सर्वजन हिताय" परिभ्रमण करते रहते हैं। यही कारण है कि आपने भारत के विविध अचलों में परिभ्रमण कर धर्म की प्रबल प्रभावना की है तथा भारत के मूर्धन्य मनीषी गणों से आपने धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति आदि विविध विषयों पर गम्भीर चर्चाएँ भी की हैं। आपश्री के सम्पर्क में भारत के गणमान्य राजनीतिज्ञ व्यक्ति भी आए हैं। जैसे—डा० राजेन्द्रप्रसाद, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, श्रीमती इन्दिरा गांधी, श्री मोरारजी भाई देसाई, राजर्षि टण्डन, श्री गोविन्दवल्लभपन्त, श्री जगजीवनराम, डा० कालूलाल श्रीमाली, श्री मोहनलाल सुखाड़िया, अशोक गहलोत, प्रभुदास पटवारी आदि शताधिक व्यक्ति आपके चिन्तन से लाभान्वित हुए हैं तो अनेक साहित्यिक मूर्धन्य मनीषी गण भी आपके सम्पर्क में आये हैं। डा० डी० एस० कोठारी, श्री जैनेन्द्रकुमारजी, श्री जिनविजयजी, पण्डित सुखलालजी, डा० दभोलकर, डा० तुकोल, डा० पशुपतिनाथ भण्डारी, डा० एन० के० उपाध्ये, पण्डित दलसुख मालवणिया, डा० आनन्दप्रसाद दीक्षित आदि। इसी तरह हजारों मजदूर, किसान और धर्मनेता भी आपके सम्पर्क में आये और उन्होंने अपने जीवन का काल्याकल्प किया।

क्रान्तचेता, सरलता का मानदण्ड, साहित्य और संस्कृति का प्रतिमान, जैन धर्म का अनुशास्ता, यह अमाप/अकूत व्यक्तित्व अपने जीवन के चौहत्तर वर्ष समाज और धर्म जागरण को अर्पित कर चुका है। चौहत्तर वर्षों की इस यशोगाथा का एक-एक शब्द अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह से अनुप्राणित है। उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी आज भी धर्म की प्रभावना में उतने ही तल्लीन हैं, उतने ही एकाग्र हैं, जितने अपनी युवावस्था में थे। उनकी अध्यात्म पगी वाणी न जाने कितने सुप्त अन्तर्मनों के कपाटों पर ध्वनि दे रही है—आत्म-जागरण की। साधना की यह अप्रकम्प, निर्धूम ज्योति आज भी उतनी ही प्रखर है, उतनी ही तेजोदीप्त है, जितनी सूर्य की जीवन-दायिनी रश्मियाँ होती हैं। ●

उत्तरकालीन आचार्य

आचार्य श्री लवजी ऋषिजी महाराज

[पिछले श्रमण परम्परा के क्रियोद्धार प्रकरण में मैंने आचार्य जीवराज जी महाराज के जीवन वृत्त पर संक्षेप में प्रकाश डाला है। आचार्य श्री जीवराज जी महाराज ने वि० सं० १६६६ में क्रियोद्धार किया और वि० सं० १६८० तक वे विद्यमान थे, यह उनकी तीर्थंकर स्तुतियों के परिशीलन से निश्चित होता है।

आचार्य श्री जीवराज जी महाराज द्वारा क्रियोद्धार का जो कठोर मार्ग अपनाया गया, वह सचमुच में असिधारा पथ था, उस असिधारा पथ पर चलने वाले महान साधक आये आचार्य श्री लवजी ऋषि। यहाँ प्रस्तुत है आचार्य श्री लवजी ऋषि के सम्बन्ध में प्राप्त ऐतिहासिक विवरण।]

लवजी ऋषि स्थानकवासी जैन परम्परा के एक तेजस्वी सन्त रत्न थे। आपके पिताश्री का बहुत ही लघुवय में देहान्त हो गया था जिसके कारण आपकी मातेश्वरी फूलाबाई अपने पिता के घर रहती थी। नाना वीरजी वोरा सूरत के लब्ध प्रतिष्ठित श्रेष्ठी थे। उनके पास करोड़ों की सम्पत्ति थी।

लवजी ऋषि तीक्ष्ण मेधा का धनी बालक था। माता फूलाबाई प्रतिदिन प्रातः और संध्या को प्रतिक्रमण किया करती थी। बालक लवजी भी माता के साथ ही सामायिक प्रतिक्रमण किया करता था, माता के मुखारविन्द से प्रतिदिन प्रतिक्रमण आदि सुनने से उसे सहज ही प्रतिक्रमण आदि कण्ठस्थ हो गया था।

सूरत में लोकागच्छ की गादी थी। उस गादी के अधिपति उस समय ऋषि बजरंग जी यति थे। वीरजी वोरा और उनका परिवार यति बजरंग जी के परम भक्तों में थे। वह प्रतिदिन धर्म श्रवणार्थ बजरंग के उपाश्रय में जाया करता था। फूलाबाई की प्रेरणा से बालक लवजी ने यति जी से उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आचारांग आदि आगमों का अध्ययन किया। आगम साहित्य के अध्ययन से लवजी को संसार से विरक्ति हो गई। वह सोचने लगा कि इस संसार के सुख और वैभव किंपाक फल की तरह मधुर और सुहावने हैं पर इनका परिणाम बहुत ही कटु है, अतः मुझे संयम-

साधना स्वीकार कर अपने जीवन को चमकाना चाहिए। वीरजी वोरा के एक पुत्री के अतिरिक्त कोई सन्तान नहीं थी अतः सम्पूर्ण सम्पत्ति के अधिकारी लवजी ही थे। धन-वैभव का आकर्षण उन्हें अपने पथ से विचलित न कर सका। बालक ने अपने दृढ़ विचार को माता और नाना के सामने प्रस्तुत किया। माता ने और नाना ने बालक को बहुत कुछ समझाया कि तू ही एक हमारा सहारा है। तू हमें छोड़कर न जा। पर बालक अपने दृढ़ निश्चय से विचलित नहीं हुआ। अतः माता ने और नाना वीरजी वोरा ने आज्ञा प्रदान की और लवजी ने वीर निर्वाण २१६२ (विक्रम १६६२) में बजरंग जी यति के पास दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व लवजी ने बजरंग जी से कहा "जब तक आपका और मेरा विचार-भेद नहीं होगा तब तक मैं आपके साथ रहूँगा, विचार-भेद और आचार-भेद होने पर मैं पृथक् भी रह सकूँगा।" बजरंग जी यति ने स्वीकृति दी। वे यह सोचते थे कि यह मुझे छोड़कर कहाँ जायेगा।

दीक्षा लेने पर आगमों का अध्ययन द्रुतगति से प्रारम्भ हुआ। दो वर्ष तक अध्ययन चलता रहा। आगमों का अध्ययन करते हुए लवजी सोचने लगे कि आज का यति वर्ग विराट् सम्पत्ति अपने पास रखता है। वह अनगार होकर भी आगारी हो गया है। आचार शैथिल्य भी पराकाष्ठा पर पहुंच चुका है अतः उन्होंने अपने गुरु से निवेदन किया कि गुरुदेव ! हम शास्त्र में वर्णित आचार का पालन कहाँ तक कर रहे हैं। हम श्रमण मर्यादा को कितनी विस्मृत हो गये हैं। उनका मन ग्लानि से भर गया पर बजरंग जी का यही उत्तर था कि वत्स ! मैं वृद्ध हो चुका हूँ अब कठिन आचार का पालन करना मेरे लिये सम्भव नहीं है। तुम चाहो तो कठिन क्रिया का पालन कर सकते हो, मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है।

बजरंग जी यति का आशीर्वाद प्राप्त कर लवजी ऋषि—थोभनजी ऋषि और भाणजी ऋषि के साथ सूरत से विहार कर खम्भात पधारे और विक्रम सम्वत् १७०४ (वीर निर्वाण २१७४) में उन्होंने नई दीक्षा ग्रहण की।

लवजी ऋषि का आगम का अध्ययन गम्भीर था। वे दृढ़ता के साथ श्रमणाचार का पालन कर रहे थे। उनके आचार-कौशल की चर्चा सर्वत्र होने लगी। जिससे यति-वर्ग की प्रतिष्ठा धूमिल होने लगी। यति वर्ग लवजी का प्रतिद्वन्द्वी हो गया। उन्होंने वीरजी वोरा को जाकर कहा कि श्रेष्ठि प्रवर ! लवजी आगमों में आये हुए श्रमणाचार की चर्चा कर संघ में भेद

समुत्पन्न कर रहा है। वह अपने आपको श्रेष्ठ और हमें कनिष्ठ बता रहा है। यदि इसके प्रचार को नहीं रोका गया तो लोकागच्छ का नामोनिशान भी नहीं रहेगा।

यतियों की बात का असर नाना वीरजी वोरा पर गहरा हुआ। उन्होंने यह दृढ़ निश्चय किया कि मुझे इस कार्य को रोकना है। इस कार्य को रोकने के लिए खम्भात के नवाब को उन्होंने निवेदन किया। खम्भात के नवाब ने लवजी को कारागृह में बन्द कर दिया। लवजी कारागृह में बन्द होकर भी सोचने लगे कि यह एकान्त स्थान ध्यान-साधना व स्वाध्याय आदि के लिए बहुत ही उपयुक्त है। वे साधना में तल्लीन हो गये। उनके चेहरे पर प्रसन्नता अठखेलियाँ कर रही थी। लवजी की प्रशान्त मुद्रा को निहार कर नवाब और उसकी बेगम बहुत प्रभावित हुई। उन्होंने लवजी को निर्दोष घोषित कर मुक्त कर दिया। लवजी का पहले से भी अधिक प्रभाव जनमानस पर गिरा।

लवजी ऋषि के विशुद्ध आचार से वीरजी वोरा भी अन्त में प्रभावित हुए और वह उनके परम भक्त बन गये। यतिवर्ग का षड्यन्त्र विफल हो गया। यतिवर्ग में प्रतिशोध की ज्वाला भड़क उठी। वे रात-दिन इसी विचार में रहने लगे कि किस तरह से कष्ट दिया जाय। यतिवर्ग के द्वारा समय-समय पर लवजी को कष्ट दिया गया तो भी वे उस कष्ट को शान्त भाव से सहन करते रहे। एक बार विरोधियों ने षड्यन्त्र कर लवजी ऋषि के तीन शिष्यों को मार दिया। लवजी के श्रद्धालु श्रावकों को बहुत ही बुरा लगा। वे सोचने लगे—हमारी शान्ति ही विरोधियों को इस प्रकार के कार्य करने के लिए उत्प्रेरित कर रही है। यदि इसी प्रकार हम शान्त बने रहे तो निरन्तर हमारे पर अत्याचार होते रहेंगे। उनका खून खौल उठा। उन्होंने शासन से यह शिकायत की। शासन के द्वारा जाँच करने पर तीनों मुनियों के शव जैन मन्दिर में गड़े मिले। उन्होंने रोष में आकर आदेश दिया कि जैन मन्दिर को तोड़ दो। पर लवजी ऋषि ने श्रावकों को उपदेश दिया जिससे श्रावकों ने काजी से कहा—यह धर्मस्थान है, यहाँ पर श्रद्धालु गण धर्म-साधना करते हैं, अतः हम नहीं चाहते कि स्थान नष्ट किया जाय। गलती स्थान की नहीं है। गलती तो स्वार्थी मानव के द्वारा की गई है। भविष्य में इस प्रकार के कष्ट मुनियों को न दिये जायें, इस प्रकार का नियम बना सकें तो श्रेयस्कर रहेगा।

लवजी ऋषि का विचरण क्षेत्र मुख्य रूप से अहमदाबाद और खम्भात था। पर कहा जाता है कि वे राजस्थान में भी धर्मप्रचार के लिए आये थे।

सोमजी नामक एक तेईस वर्षीय युवक ने उनके पास दीक्षा ग्रहण की। सोमजी को पहले से भी कुछ शास्त्रीय ज्ञान था, और लवजी के शिष्यत्व को प्राप्त कर आगमों का गहन अध्ययन किया। वे ही सोमजी आपके उत्तराधिकारी बने।

एक बार आपके शिष्य भानु ऋषि को एकान्त में पाकर विरोधियों ने किसी से उनको कत्ल करवा दिया। इस हृदय विदारक घटना को भी आचार्य समता से सहन कर गये उन्होंने किसी भी प्रकार का प्रतिकार नहीं किया।

लवजी ऋषि अपने शिष्यों के साथ विचरण कर रहे थे। धर्मसिंह मुनि के साथ भी उनकी आगमिक चर्चाएँ हुई। कितनी ही बातों में दोनों ही महापुरुषों के विचार एक थे। लवजी ऋषि की प्रेरणा से ही धर्मसिंह मुनि ने क्रियोद्धार किया। जिससे यतियों में और भी अधिक विरोधाग्नि भड़की।

लवजी ऋषि एक बार विहार करते हुए बुरहानपुर पधारे। ईर्ष्यावश किसी ने उनको विष मिश्रित मोदक प्रदान किये। बेले का पारणा था। पारणे में सहज रूप से उन्होंने लड्डुओं का उपयोग किया, जिससे उनके शरीर में जहर व्याप्त हो गया। उनका जी मचलने लगा। तीव्र वेदना होने लगी। उन्होंने देखा—मुझे आहार में जहर दिया गया है अतः अपने शिष्य सोमजी से कहा—तुम कोई भी इसका उपयोग न करना। मैं कब मूर्च्छित होकर गिर जाऊँ इसका पता नहीं है, अतः मोदकों को एकान्त स्थान में परठ देना। तुम यहां से विहार कर गुजरात की ओर चले जाना और गुजरात में ही धर्म प्रचार करना। यह शिक्षा प्रदान कर स्वयं ने चौरासी लक्ष जीव योनि से क्षमा याचना की, संथारा कर समाधिपूर्वक आयु पूर्ण किया।

आपके ही शिष्यों से गुजरात में खम्भात सम्प्रदाय और मध्य भारत व महाराष्ट्र में ऋषि सम्प्रदाय प्रचलित हुई। वर्तमान में आचार्य सम्राट् श्री आनन्द ऋषि जी महाराज आपकी ही शिष्य परम्परा में हैं।

□

आचार्य श्री धर्मसिंह जी महाराज

लोकाशाह ने महान क्रान्ति की। जड़वाद और आडम्बर का विरोध किया। पर लोकाशाह के निधन के कुछ समय पश्चात् लोकागच्छ में भी वे सारी प्रवृत्तियां पनपने लगीं। उन कुरीतियों के उन्मूलन के लिए अनेक महापुरुषों ने प्रयत्न किया। उनमें धर्मसिंह जी भी एक थे। आपका जन्म सौराष्ट्र के जामनगर में हुआ। आपके पिता जिनदास थे और माता शिवादेवी थी। आप दसा श्रीमाली थे। आपने लोकागच्छीय देवजी यती का उपदेश सुना, संसार से विरक्ति हुई और दीक्षा ग्रहण की। आपने आगम, दर्शन और साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। जब आपने आगम साहित्य में श्रमणाचार को पढ़ा और उस युग के श्रमणों के आचार को देखा तो मन में यह विचार उद्बुद्ध हुआ कि आज के श्रमणों का आचार आगम के आचार के अनुकूल नहीं है। मन में एक असन्तोष लहराने लगा। उन्होंने अपने प्रमुख यती प्रवर से जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन् ! यह क्या हो रहा है ? उन्होंने कहा—यह पञ्चम काल है। विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करना इस युग में सम्भव नहीं है। धर्मसिंह मुनि ने कहा—गुरुदेव ! पंचम आरे का नाम लेकर शिथिलाचार का सम्पोषण करना उचित नहीं है। आप तो सिंह के सदृश हैं, आपको विशुद्धाचार के लिए क्रान्ति करनी चाहिए। आप यह दृढ़ प्रतिज्ञा कीजिए कि मैं विशुद्ध श्रमण धर्म का पालन करूंगा। किन्तु शिष्य की बात सुनकर भी गुरु ने अनसुनी कर दी।

गुरु ने कहा—वत्स ! क्रियोद्धार की बात बाद में करना, तुम पहले आगमों का लेखन करो। उन पर न अति संक्षिप्त न अति विस्तृत टब्बा लिखो। तुम्हारे द्वारा लिखे हुए बालावबोध सभी के लिए उपयोगी हो सकेंगे। उन्होंने सत्ताईस आगमों पर टब्बे लिखे। टब्बे बहुत ही सुन्दर थे। उन्होंने पुनः गुरुदेव से निवेदन किया—गुरुदेव ! विशुद्ध संयम पालने के लिए हमें दृढ़ प्रतिज्ञ होना होगा। गुरु ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहा—यह उपाश्रय, यह वैभव मेरे लिए छोड़ना सम्भव नहीं है। यदि तुम स्वयं चाहते हो तो विशुद्ध संयम की साधना और आराधना कर सकते हो पर जरा मुझे परीक्षा करने दो कि तुम विघ्न और बाधाओं से जूझ सकोगे या नहीं। अतः तुम आज रात्रि में दिल्ली दरवाजे के बाहर (अहमदाबाद) जो दरगाह है

वहां पर रात भर रहकर यदि तुम सकुशल लौट आओगे तो मैं तुम्हें सहर्ष अनुमति दे दूंगा।

धर्मसिंह मुनि गुरु की आज्ञा से दरगाह में ठहर गए। दरगाह में रात्रि को कोई रह नहीं पाता था। दरगाह के मुसलमान अधिकारी ने उनको कहा कि यहाँ पर रात्रि में रहना खतरे से खाली नहीं है। यहां पर रात्रि में भयंकर उपसर्ग भी उपस्थित हो सकते हैं। पर आप वहां बिना भय और संकोच के रुके। रात्रि में पीर का आगमन हुआ पर आपकी तपःपूत साधना से वह अभिभूत हुआ और आपका भक्त बनकर सेवा-शुश्रूषा करने लगा। धर्मसिंह मुनि के उपदेश से पीर ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं किसी को भी नहीं सताऊंगा।

प्रातःकाल जब सकुशल दरगाह में से धर्मसिंह मुनि को बाहर निकलते देखा तो सभी चकित हो गए। धर्मसिंह मुनि की यह घटना सारे शहर में प्रसारित हो गई। शिवजी यति ने सहर्ष अनुमति दी और आशीर्वाद भी दिया कि तुम धर्म की उत्कृष्ट साधना करो। धर्मसिंह मुनि जानते थे कि अहमदाबाद में चैत्यवासी यतियों का अत्यधिक प्रभाव है। वे मताग्रही शुद्ध साधकों को टिकने भी नहीं देते थे। ठहरने के लिए स्थान भी नहीं था। अतः अहमदाबाद में दरियापुर दरवाजे के वहाँ पर पहरेदार की अनुमति लेकर उपदेश देना प्रारम्भ किया। आपके उपदेश का असर जनमानस पर बहुत ही अच्छा हुआ। उस समय बादशाह के जो कामदार दलपतराय जी थे, वे भी आपके उपदेश से प्रभावित हुए। दरियापुर दरवाजे पर उपदेश देने के कारण धर्मसिंह मुनि को सम्प्रदाय दरियापुरी सम्प्रदाय के नाम से विश्रुत हुई। यह क्रियोद्धार वि० सं० १६९२ में किया गया।

धर्मसिंह मुनि की मान्यताएं अन्य स्थानकवासी सम्प्रदायों की मान्यताओं से पृथक थीं। उदाहरण के रूप में श्रमणों के तीन करण, तीन योग से नौ कोटि त्याग होता है और श्रावकों का दो करण, तीन योग से छह कोटि प्रत्याख्यान होता है। जब कि धर्मसिंह मुनि की यह मान्यता थी कि श्रावक मन की अनुमोदना के अतिरिक्त शेष आठ कोटि का प्रत्याख्यान कर सकता है। आयुष्य टूटने की मान्यता के सम्बन्ध में भी उनकी अन्य श्रमणों की मान्यताओं से पृथक्ता थी। इसी प्रकार समाचारी के कुछ बिन्दुओं पर भी पृथक्ता थी। आपका विचरण क्षेत्र गुजरात और सौराष्ट्र ही रहा। आपके सम्प्रदाय की कोई भी शाखा और प्रशाखा आज दिन तक नहीं हुई। संवत् १७२८ आसोज कृष्णा चतुर्थी को ४३ वर्ष की आयु में आपका अहमदाबाद में स्वर्गवास हुआ। □

आचार्य श्री धर्मदास जी महाराज

आचार्य श्री धर्मदास जी महाराज अपने युग के एक विशिष्ट मेधावी सन्त थे। आपका जन्म अहमदाबाद के सन्निकट सरखेज ग्राम में हुआ। वहां पर रंगाई और छपाई करने वाले महानुभावों के सात सौ घर थे जो भावसार के नाम से जाने जाते थे। आपके पिता का नाम जीवनभाई और माता का नाम डाहीबाई था। आपके जन्म संवत् और जन्म तिथि के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। जन्म संवत् के बारे में तीन मत हैं। एक मत के अनुसार जन्म संवत् १७०१[१] है, दूसरे के अनुसार १७०२[२] है और तीसरे के अनुसार १७०३[३] है। इसी प्रकार जन्म तिथि के बारे में मतभेद हैं। एक मत के अनुसार जन्म माघ शुक्ला त्रयोदशी को हुआ तथा दूसरे के अनुसार चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को अर्ध रात्रि में हुआ। एक प्राचीन पन्ने के आधार से आपके भाई ने भी दीक्षा ग्रहण की थी। किन्तु उस पन्ने के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण इस सम्बन्ध में उपलब्ध नहीं है। जब आप गर्भ में थे तब माता के मन में गर्भ के प्रभाव से धार्मिक भावनाएं तीव्रतम थीं। इसलिए जन्म लेने पर आपका नाम धर्मदास रखा गया। सरखेज ग्राम में लोकागच्छीय यती बालकों को अध्ययन कराया करते थे। बालक धर्मदास ने भी लोकागच्छीय यती की पाठशाला में अध्ययन किया। १५ वर्ष की उम्र तक उन्होंने अनेक ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया। अध्ययन के साथ उनका चिन्तन भी चलता रहता था। माता-पिता उन्हें विवाह के बन्धन में बांधना चाहते थे पर उन्होंने माता-पिता से स्पष्ट शब्दों में निवेदन किया कि मैं विवाह के बन्धन में बंधना नहीं चाहता।

उस युग में राजस्थान और गुजरात में पोतियाबन्ध पंथ चल रहा था। इस पंथ के अनुयायी लाल रंग के वस्त्र धारण करते थे, केवल एक पात्र रखते थे और सिर पर चोटी रखते थे। उनका यह अभिमत था कि पञ्चम काल में साधुत्व का पालन करना सम्भव नहीं है। इनका आचरण

---

१. प्रभु वीर पट्टावली

२. हस्तलिखित मालव पट्टावली

३. आदर्श आचार्य अवतरण

साधु के सदृश था पर अपने आपको साधु न मानकर गृहस्थ ही मानते थे। ये रजोहरण की डंडी खुली रखते थे। ये पैदल परिभ्रमण कर अपने मत का प्रचार करते थे। ये अपने पंथ में लोगों को दीक्षित भी करते थे। यह पंथ एकलपात्रिया या पोतियाबन्ध के नाम से विश्रुत था। विज्ञों का अभिमत है कि इस मत में कडवा मत के अनुयायी और लोकागच्छीय यतियों का सम्मिश्रण हुआ था। इस मत पर कडवा मत का स्पष्ट प्रभाव था। धर्मदास जी के समय एकलपात्रिया पंथ के अधिपति कल्याण जी के नाम के कोई प्रभावशाली व्यक्ति थे[4]। उनके साथ बासठ रक्ताम्बर शिष्य थे। धर्मदास जी ने कल्याण जी के प्रवचन सुने। उनके उपदेश से प्रभावित हुए और पिता की अनुमति लेकर इस पंथ में दीक्षित हुए। कितने ही विज्ञों का मानना है कि उन्हें पिता की अनुमति नहीं मिली थी। किस समय उन्होंने यह पंथ स्वीकार किया था, उस सम्बन्ध में भी मरुधर पट्टावली में संवत् १७१६ श्रावण सुदी त्रयोदशी लिखा है तो प्रभु वीर पट्टावली में संवत् १७१६ आश्विन सुदी एकादशी लिखी है। यह भी माना जाता है कि संवत् १७१५ में उन्होंने एकपात्रीय पंथ में दीक्षा ग्रहण की। एकपात्रीय पंथ स्वीकार करने के पश्चात् आप सरखेज में ही रहे या अन्यत्र विचरण करते रहे, इस सम्बन्ध में भी कितनो ही पट्टावलियों का मत है कि आप सरखेज में ही रहे और वहीं कल्याण जी से शास्त्राभ्यास करते रहे। तो कितनों का मत है कि आप शास्त्राभ्यास करते हुए उन संवरी करने वाले श्रावकों के साथ परिभ्रमण करते रहे[5]। एक बार वे भगवती सूत्र[6] का अध्ययन कर रहे थे। उसमें उन्होंने पढ़ा कि पांचवें आरे के अन्त तक एकावतारी जीव रहेंगे और २१००० वर्ष तक तीर्थ रहेगा। उनके मन में विविध जिज्ञासाएँ उद्बुद्ध हुई। वे अपनी जिज्ञासाएं कल्याण जी आदि पंथ के अनुयायियों के सामने रखते पर वे उनका समाधान नहीं कर पाते। जिससे उन्होंने एकपात्रीय सम्प्रदाय का त्याग किया। वे कितने समय तक एकपात्रीय सम्प्रदाय में रहे, इस सम्बन्ध में दो मत हैं। मरुधर पट्टावली के अनुसार उन्होंने पांच वर्ष तक श्रावक व्रत का पालन किया[7]। दूसरे मत के

---

४. प्रभु वीर पट्टावली

५. मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ

६. भगवती सूत्र, शतक २०, उद्देशक ८

७. "बरस पाँच श्रावक पनों पाल्या" —मरुधर पट्टावली

अनुसार एक वर्ष और कुछ दिनों तक वे पोतियाबन्ध पंथ के अनुयायी रहे। मालव, गुजरात प्रभृति पट्टावलियों में श्रावक पर्याय के वर्षों का उल्लेख नहीं है तथापि उनके अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वे एक वर्ष से अधिक समय तक श्रावक पर्याय में रहे होंगे।

धर्मदास जी को वैराग्य किस कारण से उत्पन्न हुआ, इस सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए गुजरात पट्टावली में यह उल्लेख है कि निरयावलिका के तृतीय वर्ग के द्वितीय अध्ययन को श्रवण कर उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। पर हमारी दृष्टि से निरयावलिका के प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन को श्रवण कर ही उन्हें वैराग्य हुआ होगा क्योंकि उस समय बादशाह औरंगजेब ने अपने पूज्य पिता शाहजहां को कारागृह में बन्द कर रखा था और अपने स्नेही भाइयों को मरवा दिया था। ऐसा ही वर्णन राजा कूणिक का निरयावलिका के प्रथम वर्ग के प्रथम अध्ययन में है। उनके मन में यह सहज स्फुरणा हुई होगी कि परिग्रह कितने अनर्थ का कारण है! वह वैराग्य भावना ही सूर्यदेव के पूर्वभव को सुनकर परिपुष्ट हुई होगी।

प्रभु वीर पट्टावली के अनुसार धर्मदास जी लवजी ऋषि से मिले थे। धर्मदास जी के अन्तर्मानस में सत्य के अन्वेषण की तीव्र जिज्ञासा चल रही थी। उनका प्रथम सम्पर्क लवजी स्वामी से हुआ। उसके पश्चात् अहमदाबाद में धर्मसिंह जी से उनका समागम हुआ। इन दोनों महर्षियों के सम्पर्क से उनको संतोष हुआ। इस कथन का समर्थन प्रकारान्तर से श्री हर्षचन्द्र जी महाराज लिखित "श्रीमद् धर्मसिंह जी अने श्रीमद् धर्मदास जी" पुस्तक के लेख से भी होता है। सारांश यह है कि धर्मदास जी ने एकपात्रीय सम्प्रदाय के प्रमुख श्रावक कल्याण जी से संवत् १७१५ के वर्षावास से पूर्व या वर्षावास में श्रावकत्व ग्रहण किया होगा और उन्हीं के साथ वे सरखेज में वर्षावास रहे होंगे। वर्षावास के पश्चात् सरखेज में लवजी ऋषि या उनके शिष्यों के साथ उनकी विचार-चर्चाएं हुई होंगी। उस विचार-चर्चा में उन्हें धर्मसिंह जी महाराज के सम्बन्ध में जानकारी हुई होंगी अथवा यह भी हो सकता है कि धर्मदास जी के पिताजी लोकागच्छीय थे। लोकागच्छीय होने के कारण धर्मसिंह के साथ उनका परिचय होना सम्भव है। जब धर्मदास जी ने धर्मसिंह मुनि के द्वारा क्रियोद्धार की बात सुनी होगी तब सहज ही जिज्ञासा हुई होगी और दोनों महापुरुषों का सरखेज में मिलन-सम्मिलन भी हुआ होगा। धर्मदास जी को लवजी ऋषि और धर्मसिंह मुनि से मिलकर और उनसे शास्त्रीय विचार-चर्चा कर सन्तोष भी हुआ होगा।

बूंदी से प्राप्त एक प्राचीन पट्टावली और मरुधर पट्टावली में वर्णन

है कि धर्मदास जी लवजी ऋषि के पास गए। उनसे सैद्धांतिक विषयों पर विचार-चर्चाएं कीं। बूंदी की प्राचीन पट्टावली के अनुसार धर्मदास जी के सात प्रश्नों का समाधान नहीं हो सका तो मरुधर पट्टावली के अनुसार २१ प्रश्नों का समाधान नहीं हो सका। धर्मदास जी के तर्कों में तीखापन था। उन तर्कों के तीखेपन से लवजी ऋषि के शिष्यों के मन में कुछ असन्तोष हुआ हो। उन प्रश्नों में एक तर्क था कि आप गृहस्थाश्रम में लिये हुए सब्जी आदि के त्याग को श्रमण जीवन में भी उसी रूप में पालन क्यों नहीं करते ? लवजी ऋषि ने तर्क दिया कि श्रमण का जीवन गृहस्थ के जीवन से पृथक है। "अणगारे जाये" अणगार का जन्म हुआ। अतः जो नियम गृहस्थाश्रम में लिये हैं वे नियम अणगार का दूसरा जन्म होने पर लागू नहीं होते। उदाहरण के रूप में, किसी व्यक्ति ने श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये उसमें छठे दिग्परिमाण व्रत में छहों दिशाओं की वह मर्यादा करता है कि अमुक दिशा में इतने कि० मि० से अधिक नहीं जाऊँगा। इसी प्रकार ग्यारहवें व्रत में पोषध आदि का भी व्रत लेता है, पर वे सारे व्रत श्रमण जीवन में नहीं रहते।

धर्मदास जी ने पुनः तर्क दिया—स्वामिन् ! श्रमण समस्त आस्रवों का परित्याग कर देता है अतः गृहस्थाश्रम में जो व्रत लिये हैं वे सभी व्रत श्रमणों के महाव्रत में अन्तर्गृहीत हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में, छठे व्रत में जो दिग्परिमाण व्रत है, उसमें जो दिशाओं की मर्यादाएं रखी हैं, उन दिशाओं को मर्यादाओं के बाहर आस्रव-द्वार सेवन के त्याग होते हैं पर श्रमण के तो आस्रव का परित्याग होता है। अतः क्षेत्र मर्यादा का बन्धन नहीं होता है किन्तु वनस्पति आदि के त्याग के सम्बन्ध में इस प्रकार की स्थिति नहीं है। लवजी ऋषि ने अपनी बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि श्रमण को सचित्त वस्तु का त्याग होता है अतः श्रमण को भिक्षा के समय जो अचित्त वनस्पति प्राप्त होती है तो वह उसका उपयोग कर सकता है। चूंकि दीक्षा के पश्चात् पूर्व व्रतों का सम्बन्ध नहीं रहता।

धर्मदास जी ने कहा—स्वामिन् ! एक प्रश्न उद्बुद्ध होता है कि गृहस्थ पर्याय के व्रतों का श्रमण जीवन में पालन आवश्यक नहीं है तो भिक्षा में अपेय और अभक्ष्य मद्य और मांस भी क्या भक्ष्य की कोटि में आ जायेंगे ? दूसरा प्रश्न है कि गृहस्थाश्रम में जो व्रत ग्रहण किये हैं वे यावज्जीवन के लिए हैं न कि पर्याय परिवर्तन तक के लिए हैं। यह बात सुनकर लवजी ऋषि के शिष्यों के मन में कुछ ग्लानि हुई पर लवजी ऋषिजो ने बहुत ही शान्ति के साथ कहा—महानुभाव ! मद्य-मांस का भक्षण अनार्य कर्म है। जहाँ पर त्रस पंचेन्द्रिय जीवों का कलेवर पड़ा हो वहाँ स्वाध्याय भी नहीं

की जा सकती फिर वहाँ भक्षण का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यह तो अनार्य कर्म है।

इससे स्पष्ट है कि धर्मदास जी और लवजी ऋषि का मतैक्य नहीं हो सका। उसके पश्चात् धर्मदास जी धर्मसिंह मुनि से मिलने के लिए अहमदाबाद गये और संवत् १७१६ का वर्षावास उन्होंने अहमदाबाद में किया। उस वर्षावास में उन्होंने धर्मसिंह मुनि से विविध विषयों पर चिन्तन किया और श्रीमद् धर्मसिंह धर्मदास ग्रन्थ के अनुसार धर्मसिंह मुनि ने धर्मदास जी को दीक्षा की प्रेरणा भी दी। धर्मसिंह मुनि की प्रेरणा से धर्मदास जी के मन में दीक्षा लेने की भावना समुत्पन्न हुई[८]। पर दोनों में अनेक विषयों पर मतभेद था जैसे व्रत की कोटियाँ, आयुष्य टूटना, क्षायिक सम्यक्त्व, प्रसंगोपात्त मुख-वस्त्रिका बन्धन आदि। धर्मसिंह मुनि ने सोचा—हम दोनों में विचार-भेद हैं, अतः धर्मदास जी स्वतन्त्र ही दीक्षा लें यही श्रेयस्कर है। अतः उन्होंने धर्मदास जी से कहा—आपका और मेरा विचार-भेद मिटेगा नहीं इसलिए आप स्वतः सुखपूर्वक दीक्षा ग्रहण कर आत्मसाधना करें।

मरुधर पट्टावली के अनुसार धर्मदास जी ने स्वयं तथा अन्य इक्कीस व्यक्तियों के साथ, इस तरह बाईस व्यक्तियों ने अहमदाबाद के बाहर बादशाही वाड़ी में संवत् १७२१ की कार्तिक सुदी पञ्चमी को जीवराजजी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की। धनराज जी प्रभृति २१ व्यक्ति धर्मदास जी के शिष्य हुए।

मरुधरकेसरी अभिनन्दन ग्रन्थ में रजत मुनि जी ने लिखा है—

"योग्य गुरु एवं सन्मार्ग की खोज में घूमते हुए धर्मदास जी मालवा पहुँचे। मालवा में आपको जगाधर (?) यति के शिष्य ज्योतिर्धर जीवराज जी महाराज के दर्शन हुए……धर्मदास जी ने श्रद्धापूर्वक उनसे अध्यात्म-चर्चा की……जीवराज जी ने……शंकाओं का समाधान किया। धर्मदास जी की प्यासी आत्मा को शान्ति प्रदान की।….एक वर्ष और कुछ दिन तक पोतियाबंध पंथ के अनुयायी रहे……वि० सं० १७१६ (?) की कार्तिक शुक्ला ५ के दिन बीस अन्य व्यक्तियों के साथ जीवराज जी से दीक्षा ग्रहण की।"

---

८. श्रीमद् धर्मसिंह जी अने श्रीमद् धर्मदास जी, पृष्ठ ६,

—लेखक : श्री हर्षचन्द्र जी महाराज

उपर्युक्त दोनों मतों से यह सिद्ध है कि धर्मदास जी ने जीवराज जी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की थी पर दीक्षा का समय और दीक्षा स्थान के सम्बन्ध में मतभेद हैं। भूधर पट्टावली, गुजरात पट्टावली, मेवाड़ पट्टावली, महावीर स्वामी से सन्तों की पट्टावली, मालवा पट्टावली और धर्मदास की उत्पत्ति प्रभृति ग्रन्थों में धर्मदास जी ने स्वतः दीक्षा ग्रहण की थी। पर मरुधर पट्टावली व मुनि रजतजी का अभिमत है कि उन्होंने जीवराज जी के पास दीक्षा ग्रहण की थी। तो फिर स्वतः दीक्षा की बात क्यों लिखी गई ? इसका कारण यह है कि धर्मदास जी के दीक्षा लेने के पश्चात् मरुधर पट्टावलियों के अनुसार जीवराज जी महाराज १५ दिन जीवित रहे थे और मुनि रजत जी के अनुसार २१ दिन रहे थे। १५ या २१ दिन के बाद गुरु की छत्रछाया उठ जाने से स्वतः दीक्षा ली यह बात जनमानस में प्रसारित हुई है।

धर्मदास जी के दीक्षा संवत् के सम्बन्ध में इस प्रकार मत हैं—प्रभु वीर पट्टावली, गुजरात पट्टावली में उन्होंने वि० सं० १७१६ में दीक्षा ग्रहण की यह उल्लेख है। मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ में संवत् १७१६ में दीक्षा ग्रहण की, यह उल्लेख है। मरुधर पट्टावली में १७२१ (वि० सं०) का वर्णन है तो धर्मदास उत्पत्ति में वि० सं० १७३८ में दीक्षा ली, यह उल्लेख है। इसी तरह दीक्षा तिथि के सम्बन्ध में भी गुजरात पट्टावली में और महावीर स्वामी से संतों की पट्टावली और मालव पट्टावली में उनकी दीक्षा तिथि आश्विन शुक्ला एकादशी लिखी है तो मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ में कार्तिक शुक्ला पंचमी लिखा है। श्रीमद् धर्मदास जी महाराज और उनकी शिष्य परम्परायें ग्रन्थ में श्री उमेश मुनि अणु ने दीक्षा संवत् पर चिन्तन करते हुए लिखा है—कि वृद्ध परम्परा के अनुसार विक्रम संवत् १७१६ का मत सत्य-तथ्य के अधिक निकट है। संवत् १७३८ का मत बिल्कुल भ्रान्त है क्योंकि इस मत से धर्मदास जी और धर्मसिंह जी की कोई समकालीनता नहीं रहती। यह भी सत्य है कि उनकी दीक्षा वर्षावास में हुई थी। आश्विन शुक्ला एकादशी का मत अधिक वजनदार है।

धर्मदास जी ने कितने व्यक्तियों के साथ दीक्षा ग्रहण की, इस सम्बन्ध में भी विभिन्न मत हैं। धर्मदास उत्पत्ति के अनुसार उन्होंने तीन व्यक्तियों के साथ दीक्षा ली। महावीर स्वामी से सन्तों की पट्टावली के अनुसार उन्होंने सात व्यक्तियों के साथ दीक्षा ली। गुजरात व मालवा पट्टावली के अनुसार सत्रह व्यक्तियों के साथ दीक्षा ली। मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ के अनुसार

बीस व्यक्तियों के साथ दीक्षा ली और मरुधर पट्टावली के अनुसार इक्कीस व्यक्तियों के साथ दीक्षा ली।

धर्मदास जी ने दीक्षा लेने के पश्चात् तप किया था। प्रभु वीर पट्टावली और मालव पट्टावली के अनुसार पारणे के दिन उन्होंने एक कुम्भकार के घर में प्रवेश किया। पति-पत्नी में किसी कारणवश अनबन हो गई थी। धर्मदास जी ने कुम्भकार से पूछा—कुछ आहार है ? कुम्हार ने कहा—यहाँ रक्षा है। धर्मदास जी ने सोचा कि रक्षा शब्द मंगलमय है और मैं धर्म की रक्षा के लिए ही निकला हूँ। मुझे पहली बार भिक्षा में रक्षा उपलब्ध हो रही है। अतः उन्होंने कहा—दे दीजिए। कुम्हारिन ने सूप में रखी हुई राख पात्र में डाल दी। कुछ राख सारे पात्र में फैल गई। कहीं से उन्हें छाछ मिल गई। उन्होंने राख को छाछ में घोलकर उसे पी लिया। धर्मसिंह मुनि के प्रति उनके अन्तर्मानस में आदरभाव था। वे उनके दर्शनार्थ पहुँचे, वार्त्तालाप के प्रसंग में धर्मदास जी ने धर्मसिंह मुनि को प्रथम भिक्षा में राख मिलने की बात कही। धर्मसिंह जी ने कहा—तुम भाग्यशाली हो, रक्षा शुभ की सूचक है। रक्षा पात्र में चारों ओर फैल गई थी वैसे ही आपका शिष्य परिवार भी चारों ओर विस्तार को प्राप्त होगा। आपने राख को छाछ में घोलकर पिया है। छाछ में खटास होती है वैसे ही आपके शिष्यों के स्वभाव में भी खटास होगी। जैसे राख के कण पृथक-पृथक होते हैं वैसे ही आपका शिष्य समुदाय पृथक-पृथक होगा। उनमें संगठन का अभाव होगा। जैसे राख के बिना घर नहीं होता वैसे ही प्रायः हर गाँव में तुम्हारे अनुयायियों के घर होंगे। धर्मदास जी ने धर्मसिंह मुनि से पूछा—भगवन् ! आपको प्रथम भिक्षा में क्या प्राप्त हुआ था ? उसके आधार से क्या भविष्य है ? धर्मसिंह मुनि ने उत्तर में कहा—मुझे छट्ठ के पारणे में चूरमे का लड्डू मिला जिसमें घी की अधिकता थी जो पात्र में गिरते ही चिपक गया। उससे मुझे यह निश्चय हो गया कि मेरा सम्प्रदाय अधिक विस्तृत क्षेत्र में नहीं फैलेगा।

विक्रम संवत् १७२१ में माघ शुक्ला पचमी को आपको उज्जैन में आचार्य पद प्रदान किया गया। प्रभु वीर पट्टावली के अनुसार धर्मदास जी महाराज के ९९ शिष्य हुए।

आचार्य धर्मदास जी का एक शिष्य धार में रुग्ण हो गया। उसके प्राण पखेरू उड़ने की तैयारी में थे। उसने स्थविर मुनियों से कहा—मुझे संथारा कराइये। स्थविर मुनियों ने कहा—गुरुदेव नहीं है इसलिए हम तुम्हें सागारी संथारा कराते हैं। श्रावकों की प्रेरणा हुई, रुग्ण श्रमण को यावज्जीवन का संथारा करा दिया। संथारा कराने के पश्चात् वह रुग्ण श्रमण पूर्ण स्वस्थ

हो गया। उसने कहा—मुझे क्षुधा सहन नहीं हो रही है। श्रावकों ने आचार्य श्री को, जो उस समय उज्जैन विराज रहे थे, निवेदन किया। आचार्य श्री उज्जैन से विहार कर रास्ते में मारवाड़ से दक्षिण की ओर जाते हुए श्रावकों से दाल-बाटी ग्रहण कर धार की ओर बढ़े। सूर्य अस्ताचल की ओर बढ़ रहा था। आचार्य श्री धार पहुंचे। सन्त पानी आदि परठ चुके थे। आचार्य श्री ने पहुंचते ही शिष्य से पूछा—तेरी क्या इच्छा है ? लम्बा आयुष्य नहीं है, भावों को सुदृढ़ कर। पर वह जब स्थिर न हो सका तब आचार्य श्री ने सोचा कि जैन धर्म की निन्दा होगी अतः उसे उस पट्टे से उठाकर स्वयं उस पर बैठ कर संथारा कर लिया। उनका अनशन प्रभु वीर पट्टावली के अनुसार सात दिन चला और मालव पट्टावली के अनुसार आठ दिन चला। मरुधर पट्टावली के अनुससार संवत् १७७३ में उनका स्वर्गवास हुआ। तो मरुधर केसरी अभिनन्दन ग्रन्थ के अनुसार वि० सं० १७७२ ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी को उनका स्वर्गवास हुआ। सिद्ध पाहुड़े में एकभवातरी युगप्रधान आचार्यों में आचार्य धर्मदास जी म० का भी नाम है। वृद्ध वाक्य के अनुसार आचार्य धर्मदास जी दूसरे स्वर्ग में गये।

□□

आचार्य श्री भूधर जी

आपका जन्म विक्रम संवत् १७१२ आसोज शुक्ला दशमी को नागौर में हुआ। आपके पिता का नाम माणकचंद जी मुणोत था, जो नेणसी मुणोत के वंशज थे। आपकी मातेश्वरी का नाम रूपादेवी था। आपका पाणिग्रहण सोजतनिवासी शाह दलाजी रातडिया की सुपुत्री कंचन देवी के साथ सम्पन्न हुआ। आप जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह जी के सेनानायक थे। अनेक युद्धों में आपने विजय पताका फहराई। एक बार आप डाकुओं को पकड़ने के लिए पहुंचे। एक डाकू ने आपके ऊँट पर वार किया जिससे ऊँट की गर्दन आधी कट गई। ऊँट छटपटाता हुआ प्राण त्याग रहा था। उस कारुणिक दृश्य ने आपके मन में एक ग्लानि पैदा की। आपने उसी समय शासन की सेवा से त्यागपत्र दे दिया और पोतियाबन्ध परम्परा में दीक्षित हो गये। उसके पश्चात् ३९ वर्ष की उम्र में आचार्य श्री धन्ना जी महाराज के सदुपदेश को श्रवण कर आप में वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई और विक्रम संवत् १७५१ फाल्गुन शुक्ला पंचमी के दिन आचार्य श्री धन्ना जी महाराज के पास आपने दीक्षा ग्रहण की। आप बड़े ही प्रभावशाली सन्त थे। आपके उपदेश से प्रभावित होकर अनेक भव्यात्माओं ने दीक्षाएँ ग्रहण कीं। उनमें नौ शिष्य प्रमुख थे—श्री नारायण जी महाराज, श्री रघुनाथ जी महाराज, श्री जेतसिंह जी महाराज, श्री जयमल्ल जी महाराज, श्री कुशलो जी महाराज, श्री जगमाल जी महाराज, श्री रूपचन्द जी महाराज, श्री रतनचन्द्र जी महाराज और श्री गोवर्द्धन जी महाराज। आप उग्र तपस्वी थे। आप पांच-पांच दिन के पश्चात् आहार ग्रहण करते थे। जैन धर्म की प्रभावना कर संवत् १८०३ आसोज शुक्ला दशमी के दिन वीर स्तुति का पारायण करते हुए मेड़ता सिटी में आपका स्वर्गवास हुआ। □

आचार्य श्री रघुनाथ जी महाराज

आपका जन्म विक्रम संवत् १७६६ माघ शुक्ला पञ्चमी के दिन राजस्थान के नगर सोजत सिटी में हुआ। आपके पिता सेठ नथमल जी बलावत और माता का नाम सोमादेवी था। आपके पिता सोजत के हाकिम थे। जब आप २१ वर्ष के हुए तब आपके एक अनन्य मित्र की मृत्यु हो गई। मित्र की मृत्यु ने आपके अन्तर्मानस में वैराग्य को झकझोर दिया। आप सोचने लगे कि मृत्यु का कोई भरोसा नहीं है फिर मैं अपना जीवन निस्सार संसार के भोगों में क्यों खोऊँ। उधर आचार्य भूधर जी महाराज का सोजत में पदार्पण हुआ। उनके उपदेश ने आपके अन्तर्मानस में वैराग्य भावना को और प्रबल किया। तीन दिन तक उनके साथ विचार चर्चा हुई।[1] आपने संवत् १७८७ ज्येष्ठ कृष्णा दूज बुधवार को आचार्य श्री भूधर जी महाराज के चरणों में भागवती दीक्षा ग्रहण की।

आपने दीक्षा ग्रहण करते ही पहले शिक्षा की ओर ध्यान दिया। वेद, उपनिषद्, व्याकरण, साहित्य आदि का तलस्पर्शी अध्ययन किया। अध्ययन के साथ ही आपकी तप:साधना भी निरन्तर चलती रही। अपने जीवन की साधना के साठ वर्षों में एक उपवास से लेकर पांच मास तक की विविध उग्र तपस्याएँ कीं। साठ वर्षों में केवल नौ सौ पिचहत्तर दिन ही उन्होंने आहार ग्रहण किया, शेष निराहार रहे। तप के दिनों में गर्म पानी या छाछ की आछ का उन्होंने उपयोग किया।

मरुधर केसरी श्री मिश्रीमल जी महाराज द्वारा रचित "श्रमण कुल तिलक आचार्य रघुनाथ जी महाराज" ग्रन्थ के अनुसार आचार्य रघुनाथ जी महाराज के बाईस शिष्य हुए, पचास पौत्र शिष्य हुए, पैंसठ प्रपौत्र शिष्य हुए और उन्होंने ५२५ भाई-बहिनों को दीक्षाएँ दीं। तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक, भीखण जी आपके ही शिष्य थे।

विक्रम संवत् १८०४ में चैत्र सुदी पञ्चमी को आप सोजत में आचार्य पद पर आसीन हुए और विक्रम संवत् १८४६ में माघ शुक्ला एकादशी के दिन सत्रह दिन के संथारे के पश्चात् आप पाली में स्वर्गस्थ हुए। □

---

१ रत्नवती कन्या के साथ उनका सम्बन्ध किया हुआ था, उस सम्बन्ध को छोड़कर जोधपुर में आपने दीक्षा ग्रहण की।

आचार्य श्री जयमल्ल जी महाराज

स्थानकवासी परम्परा के कवियों में आचार्य जयमल्ल जी महाराज का स्थान मूर्धन्य है। आपका जन्म विक्रम संवत् १७६५ भाद्रपद शुक्ला १३ को जोधपुर राज्यान्तर्गत मेड़ता के सन्निकट लाम्बिया ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम मोहनलाल जी और माता का नाम महिमादेवी था। ये समदड़िया मेहता गोत्रीय बीसा ओसवाल थे। आपके पिता कामदार थे। बड़े भाई का नाम रिड़मल था। बाईस वर्ष की अवस्था में इनका विवाह रियाँ निवासी शिवकरण जी मूथा की सुपुत्री लक्ष्मीदेवी के साथ हुआ।

जयमल्ल जी की वैराग्य भावना सहज स्फूर्त थी, वह आरोपित नहीं थी। वे एक बार सौदा लेने के लिए मेड़ता गए। उस समय भूधर जी महाराज वहाँ विराज रहे थे। व्यापारी बाजार बन्द कर प्रवचन सुनने के लिए गये थे। वे भी वहाँ पहुंचे। भूधर जी महाराज ब्रह्मचर्य का प्रतिपादन करते हुए सेठ सुदर्शन का जीवन प्रसंग गा-गा कर सुना रहे थे। युवक हृदय जयमल्ल ने धर्मदेशना का पान किया। उसकी सांसारिक विषय-वासनाओं की ज्वालाएं शान्त हो गईं। प्रवचन सभा में ही उसने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया पर उसके मन में पूर्ण साधक बनने की इच्छा थी। उसने आचार्य श्री से प्रार्थना की। पत्नी का अभी द्विरागमन भी नहीं हुआ था। वह श्रमण जीवन स्वीकार करने को तैयार हो गया। माँ की ममता, पिता का आक्रोश और पत्नी का ज्वार-भाटे की तरह उफनता हुआ प्यार भी उन्हें रोक न सका। विक्रम संवत् १७८७ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को मेड़ता में आपने दीक्षा ग्रहण की। पत्नी ने भी पति का अनुसरण किया। श्रमण जीवन में प्रवेश करते ही एकान्तर तप की आराधना आरम्भ की जो निरन्तर १६ वर्ष तक चलती रही।

जयमल्ल जी की स्मरण शक्ति विलक्षण थी। उन्होंने स्वल्प समय में ही श्रमण प्रतिक्रमण कण्ठस्थ कर लिया था। स्वामी श्री चौथमल जी महाराज द्वारा रचित गुणमाला के अनुसार उन्होंने कप्पिया, कप्पवडंसिया, पुप्फिया,

पुप्फचूलिया, वन्हिदशा ये पाँच शास्त्र एक प्रहर में कण्ठस्थ कर लिये थे[1]। विक्रम संवत् १८०४ में आश्विन शुक्ला दशमी शुक्रवार को आचार्य भूधर जी का स्वर्गवास हुआ। उसी समय आपने यह प्रतिज्ञा की कि मैं जीवनपर्यन्त कभी नहीं लेटूंगा। वे पचास वर्ष तक लेट कर न सोये। आचार्य भूधर जी के स्वर्गवास के बाद वि० संवत् १८०५ अक्षय तृतीया को आप जोधपुर में आचार्य बने। आपका व्यक्तित्व बहुत ही प्रभावशाली था जिससे आपकी आख्या पर ही सम्प्रदाय का नामकरण हुआ। आप लगभग पचास वर्ष तक आचार्य पद पर रहे। आपके ५१ शिष्य थे। उनमें श्री रायचन्द्र जी महाराज प्रमुख पट्टधर थे। आपका विहार क्षेत्र प्रधानतः राजस्थान रहा। राजस्थान के अतिरिक्त दिल्ली, आगरा, पंजाब व मालवा में भी विचरते रहे। कहा जाता है कि आप एक बार जैसलमेर पधारे तो वहाँ पर विरोधियों ने आपका पुतला बनाया और उस पर धूल उछाली। आपने प्रसन्नता से कहा—अच्छा हुआ, मेरी कर्म धूल उड़ रही है। आपकी क्षमा से विरोधी भी नत हो गए। आप एक बार बीकानेर पधारे। बीकानेर में उस समय स्थानकवासियों का कोई प्रभाव नहीं था। आप ही पहले सन्त थे जिन्होंने वहाँ स्थानकवासी धर्म का सर्वप्रथम प्रचार किया। विरोधी तत्वों ने प्रवेश द्वार पर उन्हें रोक दिया जिससे वे बीकानेर में प्रवेश न कर सके। उल्टे पाँव लौटकर एक कुम्भकार के यहाँ आठ दिन तक ठहरे। बीकानेर की श्रद्धालु श्राविका रामकुँवर ने जब सुना कि आचार्य श्री को विरोधियों ने बीकानेर में प्रवेश नहीं करने दिया है तो उसका हृदय बहुत ही खिन्न हुआ। उसने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक आचार्य श्री का पदार्पण नहीं होगा तब तक मैं भी अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगी। रामकुँवर बहिन के सुपुत्रों को जब यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने बीकानेरनरेश गजसिंह से विशेष आज्ञापत्र प्रसारित करवाया और आचार्य श्री को नगर में प्रवेश करवाया। आपके धर्मोपदेश से धर्म की अत्यधिक प्रभावना हुई। अनेक ठाकुर और सरदार भी आचार्य जयमल्ल जी के व्यक्तित्व और चारित्रिक गुणों से प्रभावित थे। आप आगमों के विशिष्ट ज्ञाता थे। पीपाड़ में एक पोतियाबन्ध से शास्त्रार्थ कर आपने उसे पराजित किया।

आचार्य जयमल्ल जी एक सुहृदय, प्रभावक एवं कवि-व्यक्तित्व सन्त थे। वे उस युग में हुए थे, जिस समय हिन्दी साहित्य में रीतिकाल चल रहा था। पद्माकर, नागरीदास, हितवृन्दावनदास, राधा-कृष्ण के चरणों में

---

१. पूज्य गुणमाला, चौथमल जी महाराज, पृष्ठ ५७

अपनी भाव-भीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर रहे थे। ठाकुर और बोधा जैसे कवि रीतिमुक्त होकर प्रेम का सात्विक चित्रण कर रहे थे तो दूसरी ओर कविराय गिरधर कुण्डलियाँ बनाकर नीति का उपदेश दे रहे थे। उस समय कवि जयमल्ल जी रीतिकाल की उद्दाम वासनात्मक शृंगार-धारा से हटकर भक्ति की भागीरथी प्रवाहित कर रहे थे। उन्होंने तीर्थंकर, विहरमान, सतियों आदि को अपने काव्य का विषय बनाया। उनके द्वारा रचित इकहत्तर रचनाओं का संकलन 'जयवाणी' के रूप में प्रकाशित हुआ है। विषय की दृष्टि से वे रचनाएँ चार खण्डों में विभक्त की गई हैं—स्तुति, सज्झाय, उपदेशी पद और चरित। 'जय वाणी' में जो रचनाएं प्रकाशित हुई हैं उनके अतिरिक्त भी उनकी बीसों रचनाएं विनयचन्द ज्ञान भण्डार, जयपुर; जयमल्ल ज्ञान भण्डार, पीपाड़ में है। उन्होंने अनुयोग की दृष्टि से धर्मकथानुयोग और चरणकरणानुयोग पर विशेष लिखा है। भाषा की दृष्टि से राजस्थानी मिश्रित हिन्दी है। उनकी रचनाओं में राजस्थान की लोक संस्कृति, लोक व्यवहार, लोकभावना का सही प्रतिबिम्ब निहारा जा सकता है। भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार है। वह सरस, सरल और प्रवाहयुक्त है। उन्होंने विभिन्न राग-रागिनियों के द्वारा अपने हृदय के निर्मल भावों की अभिव्यक्ति दी है। संवत् १८५३ वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को ३१ दिन के संथारे के बाद आपका स्वर्गवास हुआ। आपका तपोमय जीवन सभी के लिए प्रेरणादायी रहा।

□□

आचार्य श्री आसकरण जी महाराज

भारतीय संस्कृति के इतिहास में सन्त परम्परा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे त्याग और वैराग्यमय जीवन बिताने के साथ ही साथ साहित्य की भी श्रीवृद्धि करते रहे। भारत का अधिकांश साहित्य सन्तों और ऋषियों के द्वारा रचित है। उसी सन्त परम्परा में मुनि आसकरण जी का नाम बहुत ही आदर के साथ लिया जा सकता है। आपका जन्म वि० सं० १८१२ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को तिवरी (राजस्थान) में हुआ। आपके पिता का नाम रूपचंद जी और माता का नाम गीगा देवी था। आप बाल्यकाल से ही प्रतिभा-सम्पन्न थे। माता पिता ने लघुवय में ही आपका विवाह करना चाहा किन्तु आपने स्पष्ट इन्कार करते हुए कहा—मुझे विवाह नहीं करना है। मुझे आचार्य जयमल्ल जी म० के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण करनी है।

विक्रम संवत् १८३० वैशाख कृष्णा पंचमी को आपने दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही जैनागमों का आपने गम्भीर अध्ययन किया। आपके हृदय में गुरु के प्रति गहरी निष्ठा थी। आप उग्र तपस्वी साधक थे। आचार्य रायचन्द्र जी महाराज ने आपको अट्ठारह सौ सत्तावन आषाढ़ कृष्णा पञ्चमी को युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। १८६८ माघ शुक्ला पूर्णिमा के दिन आप आचार्य बने। आचार्य बनकर चौदह वर्ष तक जैनधर्म का प्रचार व प्रसार किया। १८८२ कार्तिक कृष्णा पंचमी के दिन आपका स्वर्गवास हुआ।

आपने खण्ड काव्य और मुक्तक दोनों प्रकार की काव्य रचनाएं कीं। जयमल्ल जी महाराज, गजसुकुमाल, केशी गौतम, नमिराज जी, धन्ना जी, पार्श्वनाथ, काली रानी, मुनि जयघोष-विजयघोष, निषधकुमार, भरत की ऋद्धि, नेमिनाथ—ये आपके खण्डकाव्य हैं। जीव परिभ्रमण, तप-महिमा, स्तुति, साधु वन्दना, सज्झाय, स्वर्ग आयुष्य के दस बोल, साधु संगति, गुरु महिमा, विनय का महत्त्व, तेरह काठिया, देवलोक का वर्णन, पर्युषण पर्व, शील महिमा, दान, उपदेशी पद, काल का अविश्वास, तेरा कोई नहीं, परनारी, गौतम को संदेश, तृष्णा, बारहमासा, निन्दक इक्कीसी, भाव पच्चीसी, सीख मोह बेरी, संसार की माया कांची, सद्गुरु की महिमा सांची, पञ्चम आरे का सुख (अपूर्ण), धर्म की दलाली, अष्टादश पाप, सामायिक व्रत, होनहार आदि आपकी मुक्तक रचनाएं हैं। आपने आत्म-प्रशंसक और पर-

निन्दक के स्वरूप का चित्रण करते हुए लिखा कि जो स्वयं की प्रशंसा करता है और दूसरों की निन्दा करता है वह व्यक्ति घृणित है। देखिए कवि के शब्दों में—

दानतणो दातार न कहिजे, न कहिजे सतवंत सूरोजी।
सोभागवंत तिणने नहिं कहिजे, जिणने निंद्यारो पूरो जी।

सन्त निःस्वार्थ साधक है। जो स्वयं जहाज की भांति भवसागर से पार होता है और जो उसके सम्पर्क में आते हैं उनसे बिना कुछ लिए वह उन्हें पार कर देता है। देखिए कवि के शब्दों में—

जहाज समाणा संत ऋषीश्वर, बैठे भवि जीव आय रे।
पर उपगारी मुनि कोई दाम न मांगे, देवे मुगत पहुंचाय रे।

कवि का लक्ष्य पाण्डित्य प्रदर्शित करने का नहीं था। जिससे वे केशवदास की तरह अलंकारों की भरमार करते तथापि आपकी रचनाओं में सहज रूप से अलंकार आए हैं। अनुप्रास आदि की छटा दर्शनीय है। करुण, रौद्र, शृंगार, वीर आदि रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। मुख्य रूप से आपने पद ही लिखे हैं तथापि सवैया, दोहा आदि का भी प्रयोग किया है। भाषा की दृष्टि से आपकी रचनाएं राजस्थानी में हैं।

□□

आचार्य श्री रायचन्द्र जी महाराज

कवि रायचन्द्र जी का जन्म विक्रम संवत् १७९६ आश्विन शुक्ला एकादशी को हुआ था। संवत् १८१४ में आषाढ़ शुक्ला एकादशी को आपने आचार्य जयमल्ल जी के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आपका स्वभाव बहुत ही सौम्य था। जनमानस में जैनधर्म के उच्चादर्शों की प्रतिष्ठा करने के लिए आप लोक भाषा के रथ पर बैठकर भाव काव्य सृजन की वल्गा थामकर आगे बढ़े। आपने जैन चरित्र, कथा, काव्य व स्तवनों की रचना की। ऋषभदेव, महावीर, नेमिनाथ आदि तीर्थंकरों के सम्बन्ध में गीतिकाएँ प्रस्तुत कीं। जम्बू, गौतम, शालिभद्र, देवकी, चन्दनबाला, मृगलेखा आदि सन्त-सतियों के जीवन की विविध घटनाओं पर काव्य लिखे। सन्त होने के नाते अनेक उपदेशात्मक पद भी लिखे हैं। आप प्रतिभासम्पन्न सरस कवि थे।

चार अनुयोगों में आपने धर्मकथानुयोग पर ही अपनी लेखनी चलाई। कथाओं के माध्यम से धर्म के गूढ़ तत्त्व सहज रूप से हृदयंगम कराये जा सकते हैं। रायचन्द्र जी महाराज ने मरुदेवी माता, बलभद्र, शालिभद्र, ऋषभदेव, नन्दन मणिहार, धन्वन्तरि वैद्य, भृगु पुरोहित, दुर्योधन कोतवाल, उज्झितकुमार, हरिकेशी अनगार, अतिमुक्तकुमार, स्कंदक, धनमित्र, आषाढ़भूति, कलावती, मृगलेखा, नर्मदा, पुष्पचूला, मैतार्य, रथनेमि, बहुपुत्तिया देवी, जिनरक्षित-जिनपाल—इस प्रकार ऐतिहासिक और पौराणिक दोनों प्रकार के चरित्र काव्य लिखे हैं। संसार की असारता और अस्थिरता का यत्र-तत्र प्रतिपादन है। गुरु की महिमा को प्रतिष्ठित करने के लिए शिष्य को विनीत बनना चाहिए। अविनीत शिष्य को चेतावनी भी दी है। पापकारी प्रवृत्तियों का स्वरूप चित्रण कर दान, शील आदि सद्गुणों का महत्त्व प्रतिपादन किया गया है। मुनि रायचन्द्र जी की भाषा लोक भाषा थी। उनके काव्य की मूल प्रेरणा धर्म है। उनका काव्य शान्त रसप्रधान है। विभिन्न राग-रागिनियों के प्राधान्य से उनके काव्य में सरसता का सहज संगम हो गया है।

□

श्री स्वामीदास जी महाराज

आपका जन्म सोजत में हुआ। आपके पिता श्री पोचाजी रातड़िया मूथा थे और माता का नाम फूलाबाई था। युवावस्था आने पर आपका वाग्दान एक सुशील कन्या के साथ हुआ। विवाह की तैयारी हो रही थी। विवाह के पूर्व अपने सगे-सम्बन्धियों के यहाँ भोजन करने के लिए जा रहे थे। मार्ग में उन्होंने देखा कि जैनाचार्य लालचन्द जी महाराज के शिष्य दीपचन्द जी महाराज प्रवचन कर रहे हैं। वे भी प्रवचन में बैठे। ज्ञानगर्भित प्रवचन को सुनकर उनका अन्तःकरण प्रबुद्ध हो गया। संसार के काम-भोगों के प्रति मन में विरक्ति हो गई। उन्होंने अपना वज्र संकल्प गुरुदेव को सुनाते हुए कहा—मैं श्रीचरणों में आर्हती दीक्षा ग्रहण करूंगा। जब माता-पिता ने तथा अन्य अभिभावकों ने यह बात सुनी तो वे सभी अवाक् रह गये। उन्होंने बहुत प्रयास किया किन्तु स्वामीदास जी अने दृढ़ संकल्प से किञ्चित्मात्र भी विचलित नहीं हुए। आपकी होने वाली सहधर्मिणी ने भी आपको अपने दृढ़संकल्प से विचलित करने के लिए प्रेरित किया और कहा कि आप मुझे छोड़कर कहाँ साधना करने जा रहे हैं? आप पहले मेरे साथ विवाह कर लें उसके पश्चात् जो आपका निश्चय हो वह कीजियेगा। पर आपकी तीव्र वैराग्य भावना ने उस बाला को भी प्रभावित किया और साथ में ही उसने भी संयम मार्ग स्वीकार करने का निश्चय किया। विक्रम संवत् १७८७ माघ शुक्ला चौथ को पूज्य श्री दीपचन्दजी महाराज के पास आपने और आपकी होने वाली धर्मपत्नी ने दीक्षा ग्रहण की।

आप तीक्ष्ण प्रतिभा के धनी थे। आपने स्वल्प समय में ही नौ आगम कण्ठस्थ कर लिये थे। आपकी लिपि भी बहुत ही सुन्दर और शुद्ध थी। आप शीघ्र लिखने में कुशल थे। आपके द्वारा लिखी हुई आगमों की प्रतियाँ ब्यावर, किशनगढ़, केकड़ी, जयपुर आदि भण्डारों में उपलब्ध हैं। आपकी लिखी हुई एक आगम बत्तीसी भण्डारों में उपलब्ध हुई है। आपके प्रधान शिष्य मुनि उग्रसेन जी हुए। आपने राजस्थान के विविध क्षेत्रों में परिभ्रमण कर भव्य जीवों को साधना के पथ पर अग्रसर किया। अन्त में नागौर में ६० वर्ष की अवस्था में अट्ठाइस दिन के संथारे के बाद आप स्वर्गस्थ हुए। □

श्री बख्तावरमल जी महाराज

आपका जन्म गंगापुर (मेवाड़) में हुआ। आपके पिता का नाम अनूप चन्द जी और माता का नाम मानादेवी था। आपने वृद्धिचन्द जी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की जो स्वामीदास जी महाराज के सम्प्रदाय के थे। आपकी बुद्धि बहुत ही विलक्षण थी। आपने आगम, दर्शन, व्याकरण, काव्य, न्याय, अलंकार आदि का गहन अध्ययन किया। आगमों के गहन रहस्य आपकी तर्क-वितर्कप्रवण मेधाशक्ति से छिपे नहीं रह सकते थे। आपकी प्रवचन शक्ति बहुत ही प्रभावशाली थी। सर्वप्रथम आप बम्बई महानगरी में जैन मुनि के रूप में पधारे। ध्यानमुद्रा में खड़े थे, एक व्यक्ति ने लाठी से आपके सिर पर प्रहार किया, सिर फट गया तो भी उस व्यक्ति पर रुष्ट नहीं हुए।

आपके द्वारा स्थान-स्थान पर धर्म की जागृति हुई। नाभा में एक स्थानकवासी जैन श्रमण के द्वारा संथारा किया गया। वह संथारा साठ दिन तक चला। संथारा सम्पन्न हुआ। नाभा में रहने वाले ब्राह्मणों ने महाराजा हीरासिंह से यह शिकायत की कि जैनी लोग अपने साधुओं को भूखा और प्यासा रखकर मार देते हैं। जिस स्थान पर जैन सन्त का साठ दिन के बाद देहावसान हुआ, उस स्थान पर पानी-पानी की आवाज आज भी आ रही है, अतः आप अपने राज्य में जैन सन्तों को आश्रय न दें। महाराजा हीरासिंह ने जैनियों को बुलाकर कहा कि जैन सन्त चमत्कारी होते हैं। कहीं वे शाप न दे दें। इसलिए मेरे राज्य में जैन साधु का प्रवेश निषिद्ध करता हूँ। वर्ष पर वर्ष बीतते चले गये, किसी जैन साधु ने नाभा में प्रवेश नहीं किया। बख्तावरमलजी म० ने जब यह बात सुनी तो उन्हें बहुत आघात लगा। वे मारवाड़ से चलकर सीधे नाभा पहुंचे। नाभा राज्य में उन्हें कहीं पर भी आहार-पानी नहीं मिला, सभी लोग राजा के आदेश से कांपते थे। महाराज श्री मध्य-बाजार में पहुंचे जहाँ हलवाई चम्पालाल-कुन्दन लाल की दुकान थी। बर्तनों को साफ करने के लिए गर्म पानी तैयार था। महाराज श्री ने पानी की याचना की और उस हलवाई ने पात्र में पानी

डालने के लिए बर्तन उठाया ही था, इतने में नाभानरेश हीरासिंह घोड़े पर बैठकर उधर आ निकले। उन्होंने जैन साधु को अपने नगर में देखा और देखते ही रह गये। उसी समय समाज के प्रमुख व्यक्ति को बुलाकर कहा—इन मुनिजी को लेकर पक्का बाग महलों में आवें। जैन श्रावक मुनि बख्तावर मलजी म० को लेकर राजमहलों में पहुंचे। महाराजा हीरासिंह ने शाही वेश परिवर्तित किया और एक सामान्य व्यक्ति की वेश-भूषा में राजमहल के नीचे खड़े हो गये। ज्यों ही बख्तावरमलजी महाराज वहाँ पहुंचे तो नमस्कार कर उन्होंने कहा—महाराज जी ! मुझे गुरु बनाने हैं, कृपा कर बताइये गुरु कैसे होते हैं ?

महाराज श्री ने कहा—जो कनक और कामिनी के त्यागी होते हैं वही व्यक्ति गुरु पद के योग्य हैं।

महाराजा ने कहा—बिना कामिनी के कोई भी व्यक्ति रह नहीं सकता। राम के साथ सीता है, शंकर के साथ पार्वती है और कृष्ण के साथ राधा है। जब भगवान भी कामिनी के बिना नहीं रह सकते तो गुरु किस प्रकार रहेगा ?

महाराज श्री ने कहा—जरा आप अपने ही ग्रन्थों से बतायें कि हनुमान के साथ कौन स्त्री थी ? और भीष्मपितामह के साथ कौन कामिनी थी ? ये दोनों महापुरुष विश्व-वंद्य हैं या नहीं ?

महाराजा हीरासिंह से इसका उत्तर नहीं बन पड़ा। उन्होंने जैन समाज के प्रमुख व्यक्तियों से कहा—ये सन्त बहुत बड़े ज्ञानी हैं। आप इन्हें नगर में ठहरा सकते हैं। महाराजा उनके दिव्य और भव्य रूप पर ही मुग्ध हो गये थे।

महाराज श्री ने नाभानरेश को कहा कि यदि आप इन्कार होते हैं तो मैं राज्य में तो क्या आपके महल में आ जाऊँगा। आपके पहरेदार मुझे रोक नहीं सकेंगे। नाभा नरेश जब महल में पहुंचे तब महल के प्रत्येक कमरे में बख्तावरमलजी महाराज को देखकर बहुत ही विस्मित हुए। महाराजा सोचने लगे कि ये एक मुनि से अनेक मुनि बन गये हैं। अतः उन्होंने आदेश दिया कि अब जैन मुनि का नाभा में प्रवेश खोल दिया गया है।

केवल स्थानकवासी श्रमणों और श्रमणियों को ही नहीं, अनेक मन्दिरमार्गी श्रमण और श्रमणियों को भी आपने अध्ययन करवाया। आप प्रतिमाह दो पचोले तप करते थे। तप और जप के कारण आप में अनेक चामत्कारिक

शक्तियाँ पैदा हो गई थीं। आपके चमत्कार की अनेक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। आपकी लिपि बहुत ही सुन्दर और शुद्ध थी। आपके द्वारा लिखित अनेक ग्रन्थ सांडेराव भण्डार में आज भी सुरक्षित रखे हुए हैं।

विक्रम संवत् १९८६ कार्तिक शुक्ला सप्तमी के दिन सांडेराव में समाधिपूर्वक आपका स्वर्गवास हुआ। उस समय की एक दिव्य घटना है—अग्नि-संस्कार हो रहा था। हवा का एक प्रचण्ड वर्तुल उठा और मुख पर जो मुखवस्त्रिका थी उसे उड़ाकर वह वर्तुल उत्तर दिशा की ओर ले चला। अनेक व्यक्ति उसे लेने के लिए दौड़े किन्तु हवा के तीव्र वेग के सामने मानवों की कहाँ गति थी ? मुखवस्त्रिका अनन्त आकाश में उड़ी जा रही थी। देखते ही देखते वह अदृश्य हो गई।

आपकी पुण्य स्मृति आज भी जनमानस में अंकित है और सदा अंकित रहेगी।

□□

आचार्य श्रीअमरसिंह जी महाराज (पंजावी)

आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज पंजाव स्थानकवासी संघ के एक गौरवशाली, महिमामण्डित आचार्य थे। आपका जन्म पंजाब प्रदेश के अमृतसर नगर में संवत् १८६२ वैशाख कृष्णा द्वितीया को हुआ था। आपके पिता का नाम लाला बुद्धसिह जी और माता का नाम श्रीमती कर्मदेवी था। पन्द्रह वर्ष व्यतीत हुए, १६वें वर्ष में माता-पिता ने इनका विवाह ज्वालादेवी से कर दिया। दो पुत्रियाँ और तीन पुत्र हुए। दो पुत्र जन्म के कुछ दिन बाद ही संसार से चल बसे। तीसरा पुत्र आठ वर्ष का हुआ। अपनी मधुर किलकारियों से माता और पिता के मन को आह्लादित कर रहा था कि यकायक वह भी रुग्ण हुआ और माता-पिता के देखते-देखते उसने भी सदा के लिए आँखें मूँद लीं। पिता का राग विराग में परिवर्तित हो गया। मन को शान्त करने के लिए वे दिल्ली पहुंचे। वहाँ पर श्री राम लाल जी महाराज विराजित थे। उनका उपदेश सुना। वैराग्य ने मूर्त्त रूप ग्रहण किया। योग्य वैराग्यमूर्ति अमरसिंह को देखकर श्री रामलाल जी महाराज का मन भी आनन्द से तरंगायित हो उठा। विक्रम संवत् १८९९ वैशाख शुक्ला द्वितीया के दिन दिल्ली चाँदनी चौक बारादरी में उन्होंने दीक्षा प्रदान की। दीक्षा ग्रहण करते ही शिक्षा का क्रम प्रारम्भ हुआ। स्वल्प समय में ही उन्होंने आगम ग्रन्थों का पारायण किया और धर्म प्रचार के लिए पंजाव, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा राजस्थान में विचरण करने लगे।

तेजस्वी प्रतिभा के कारण संवत् १९१३ वैशाख कृष्णा द्वितीया को तत्कालीन जैन संघ ने उनको दिल्ली में ही आचार्य पद देकर उन्हें अपना विधिवत अनुशास्ता मनोनीत किया।

आपके मुख्य बारह शिष्य हुए। उन बारह शिष्यों और प्रशिष्यों का ही परिवार सम्प्रति पंजाब का मुनि संघ है। ३६ वर्ष तक धर्म की अखण्ड ज्योति जगाते रहे और विक्रम संवत् १९३८ आषाढ़ शुक्ला द्वितीया के दिन समाधिपूर्वक आयु पूर्ण किया।

□□

आचार्य श्री सोहनलालजी महाराज

आपका जन्म विक्रम संवत् १९०६ में सम्बडियाला (पसरूर) में हुआ। आपके पिताश्री का नाम मथुरादास और माता का नाम लक्ष्मीदेवी था। आप ओसवाल थे। आपने बि० सं. १९३३ में आचार्य अमरसिंह जी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की। शास्त्रों का गहन अध्ययन किया। वि० सं० १९५१ चैत्र वदी ग्यारस को आप युवाचार्य बने और वि० सं० १९५८ में आप पटियाला नगर में आचार्य बने। आप बहुत तेजस्वी आचार्य थे। ज्योतिष विद्या में आप प्रवीण थे। आपने अनेक बार शास्त्रार्थ किया और विरोधियों को अपनी तर्क शक्ति से परास्त किया। स्थानकवासी समाज जो विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त था उसे संगठित हो एक बनने के लिए आपने अखिल भारतीय स्तर पर एक विचार समाज के सामने रखा। आपके विचार का सर्वत्र आदर हुआ। जिसके परिणामस्वरूप स्थानकवासी समाज के मुनियों का एक विराट् सम्मेलन अजमेर के प्रांगण में हुआ। उस सम्मेलन में स्थानकवासी सम्प्रदाय के ३२ सम्प्रदायों में से २६ सम्प्रदाय के मुनि वहाँ पर पधारे। २४० सन्तों ने उस सम्मेलन में भाग लिया।

आपके बारह योग्य शिष्य हुए जिन्होंने समाज की सेवायें कीं। विक्रम संवत् १९९२ में आपका संथारे के साथ अमृतसर में स्वर्गवास हुआ। आपने अपने जीवन में बाईस वर्ष तक एकान्तर तप की साधना की। आपके नाम से श्री सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति अमृतसर में बनाई गई और वाराणसी में पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान की स्थापना की गई जिससे अनेक शोधार्थियों ने शोध प्रबन्ध के लेखन का कार्य किया। यह जैन विद्या की एक उच्चतम संस्था है, जिसने अनेक उच्चस्तरीय ग्रन्थ भी प्रकाशित किये हैं। आपके उत्तराधिकारी आचार्य काशीराम जी महाराज हुए।

□□

आचार्य श्री काशीराम जी महाराज

अपका जन्म पश्चिमी पंजाब के स्यालकोट के पसरूर नगर में विक्रम संवत् १६४१ आषाढ़ कृष्णा अमावस्या सोमवार को हुआ। आपके पिता गोविन्द शाह और माता राधादेवी थीं। राधा-गोविन्द का परिवार बहुत ही समृद्ध और संस्कारित परिवार था। यह परिवार अतिथि सेवा, रुग्ण व्यक्तियों की परिचर्या और घायल पशु-पक्षियों की चिकित्सा के लिए प्रसिद्ध था। बालक काशीराम के पांच भाई थे। तीन उनसे बड़े थे तो दो उनसे छोटे थे। दूज के चांद की तरह वे बढ़ते रहे। पंडित जीतराम जी महाराज और तपस्वी गण्डेराम जी महाराज का आगमन हुआ। जीतराम जी महाराज बच्चों से बहुत ही स्नेह करते थे। वे उन्हें चित्रों के माध्यम से पाप के कटु परिणाम बताकर धार्मिक कृत्य करने को उत्प्रेरित करते थे। किशोर काशीराम को वे चित्र बहुत ही पसन्द आए और वह सोचने लगा कि जिन भोगों के पीछे लोग दीवाने हैं उनका कितना कटु परिणाम होता है! नरक में जीवों को कितनी यातनाएँ भुगतनी होती हैं।

अब उनके जीवन का नक्शा बदल गया था। माता-पिता किसी सुयोग्य कन्या की खोज कर रहे थे। एक दिन किशोर काशीराम ने पिता से कहा—मैं विवाह नहीं करूंगा। आजीवन ब्रह्मचारी रहकर संयम साधना स्वीकार करूंगा। मेरे अन्य पांच भाई हैं। आप उनसे संसार की अपेक्षाएँ रखें।

माता-पिता ने समझाया पर उनका वैराग्य इतना सुदृढ़ था कि उनके समझाने का कोई असर नहीं हुआ। एक दिन वे चुपचाप घर से निकल पड़े। लाहौर, अमृतसर, दिल्ली, अहमदाबाद, बम्बई विभिन्न स्थानों पर घूमे। छह वर्ष तक घर से भागते रहे और घर वाले पुनः उन्हें समझा कर घर लाते रहे। अन्त में कांदला के लाला घमंडीलाल जी ने वैरागी को सहयोग दिया और उनके सहयोग से विक्रम संवत् १६६० मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी को १६ वर्ष की अवस्था में कांदला में आचार्य सोहनलाल जी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की। नौ वर्ष तक आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज अपने सुयोग्य शिष्य को परखते रहे और जब उन्हें यह दृढ़ निश्चय हो गया कि यह शासन की बागडोर सम्भालने में सक्षम है तो विक्रम संवत् १६६९ फाल्गुन शुक्ला

छठ के दिन उन्हें युवाचार्य पद प्रदान किया। १९९३ फाल्गुन शुक्ला तृतीया को आप होशियारपुर में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। आप महान प्रभावक आचार्य थे। आप तार्किक थे। विरोधी व्यक्तियों को तर्कसंगत और शास्त्रसम्मत ऐसा उत्तर देते कि विरोधी दांतों तले अंगुली दबा लेते। पंजाब संघ के आप महान नायक थे। अजमेर बृहद् साधु सम्मेलन में आपको पंजाब केसरी की उपाधि प्रदान की गई।

आप संयमनिष्ठ थे। संयम में दोष लगाना आपको पसन्द नहीं था। कल्लोल (गुजरात) में आप सेठ जयसिंहभाई शान्तिभाई के बंगले पर विराजे। सेठ ने एक बहुमूल्य ऊनी चद्दर आपके प्रधान शिष्य पंडित शुक्ल चन्द जी महाराज को बहराई कि यह चद्दर आचार्यश्री के लिए ठीक रहेगी। विहार की तैयारी हो रही थी। शुक्लचंद महाराज ने आचार्यश्री से कहा—आपश्री के लिए मैं एक ऊनी चादर भिक्षा में लाया हूं। विहार की जल्दी होने से मैंने उसे अन्य वस्त्रों के साथ बांध दी है। आचार्यश्री ने कहा—पहले मुझे बताओ, चादर कैसी है? शुक्लचंद जी महाराज ने चादर बताई तो आचार्य श्री ने कहा—यह बहुत ही कीमती शाल है। हम साधुओं के लिए इतनी कीमती शाल उपयोगी नहीं। यह थी आचार्यश्री की त्याग वृत्ति।

वि० सं० १९९९ का वर्षावास आपका जोधपुर में था। वहाँ से विहार किया। मार्ग में भयंकर उदरशूल उठा। वहाँ से विहार करते हुए आप अजमेर पधारे। अजमेर के प्रमुख श्रावक गणेशीमल जी बोहरा को कहा कि आप मेरे संयमी जीवन में दोष न लगे, इसका पूर्ण ध्यान रखना, कृत दवाई मत लाना और न मेरे लिए नई दवाई बनवाना। वैद्य, डाक्टर आदि को भी मेरे उपचार के लिए शुल्क आदि मत देना, पथ्य आदि में भी दोष न लगे, इसका भी ध्यान रखना। यह थी उनकी संयम के प्रति सतत जागरूकता।

जीवन के अन्तिम क्षणों तक वे पूर्ण रूप से जागरूक रहकर साधना करते रहे। वि० सं० २००२ ज्येष्ठ कृष्णा अष्टमी के दिन अम्बाला में आपका समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ। आप काशी की तरह श्रद्धा के पात्र थे तो राम की तरह आप मर्यादापालक थे।

□□

श्री रत्नचन्द्र जी महाराज

स्थानकवासी जैन परम्परा में रत्नचन्द्र जी म० के नाम से अनेक सन्त व आचार्य हुए हैं। पूज्य श्री मनोहरदास जी म० की सम्प्रदाय के श्री रत्नचन्द्र जी महाराज अपने युग के परम तेजस्वी सन्त थे। आपका जन्म जयपुर राज्य के तातीजा ग्राम में हुआ था। आप वर्ण से गुर्जर राजपूत थे। आपके पिता का नाम गंगाराम और माता का नाम सरूपादेवी था। विक्रम संवत् १८५० भाद्रपद कृष्णा चतुर्दशी को आपका जन्म हुआ। माता का वात्सल्य, पिता का स्नेह और अपने बड़े भाई-बहिनों का प्यार आपको मिला था। बालक रत्नचन्द्र जब किशोरावस्था में था तो वह एक बार जंगल में पहुंचा। उसने देखा कि एक सिंह ने गाय के बछड़े पर आक्रमण किया और देखते ही देखते उसे चीर कर खा गया। मृत्यु की इस दारुण घटना को देखकर वह सोचने लगा कि क्या मेरी भी मृत्यु निश्चित है? वह गुरु की खोज करते हुए नारनौल पहुंचा। वहां तपस्वी हरजीमल जी महाराज विराजित थे। उनके प्रवचन को सुनकर उन्होंने कहा—मुझे दीक्षा प्रदान कीजिए। विक्रम संवत् १८६२ भाद्रपद शुक्ला छठ गुरुवार के दिन आपने दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही तपस्वी गुरु से उन्हें तप की प्रेरणा मिली। उनमें अध्ययन की तीव्र जिज्ञासा भी थी। अतः लक्ष्मीचन्द जी महाराज के पास संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राचीन भाषाओं का अध्ययन किया और आचार्य लूणकरण जी महाराज के पास सैद्धान्तिक अध्ययन किया। जन-जीवन में नैतिक जागरण, धर्म भावना के प्रचार व प्रसार के लिए पंजाब, राजस्थान, मध्य-प्रदेश और उत्तर प्रदेश में मुख्य रूप से विचरण किया। अनेक स्थानों पर बलिप्रथा के रूप में प्रचलित पशु हत्या बन्द करवाई। वेश्या-नृत्य, मृत्यु-भोज, जातिवाद, भूत-प्रेतवाद आदि जो अज्ञानमूलक बुराइयां थीं उन्हें नष्ट किया। आपने आगरा नगर के लोहामंडी क्षेत्र को धर्ममय बनाया तथा उस मंडल के हजारों अजैन परिवार आपके संपर्क आकर जैनधर्मी बने।

आप प्रकाण्ड पण्डित थे। कवि, प्रभावक, प्रवचनकार और यशस्वी साहित्यकार थे। आपका अक्षर लेख सुन्दर था। अक्षर सौन्दर्य के साथ सुवाच्यता, स्पष्टता भी थी। आपने अनेक आगम ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया था।

उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाईसवें अध्ययन पर एक व्याख्या लिखी थी जिसमें निश्चय, व्यवहार, द्रव्यपूजा, भाव पूजा, षट्द्रव्य, गुणस्थान, कर्मवाद आदि का गम्भीर विवेचन है। तत्त्वानुबोध ग्रन्थ में नवतत्त्व का प्रमाण पुरस्सर और तर्क संगत वर्णन है। नवतत्त्व के गम्भीर अभ्यासियों के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। प्रश्नोत्तर माला ग्रन्थ में तात्त्विक प्रश्नों का सुन्दर संकलन है। गुणस्थान विवरण ग्रन्थ में गुणस्थानों के लक्षण, बन्ध, सत्त्व, उदय, उदीरणा आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला है। आपने पद्य रूप में जिन स्तुति, सती स्तवन, प्रार्थना, संसार वैराग्य, बारह भावना, बारह मासा आदि विषयों पर आध्यात्मिक पद लिखे हैं। सुखानन्द, मनोरमा चरित्र, सगर चरित्र, इलायचीकुमार चरित्र आदि अनेक चरित्र भी आपके द्वारा रचित हैं। आप बड़े तार्किक थे। आपने लश्कर में वि. सं० १९१७ में श्री रत्न-विजय जी से मूर्तिपूजा पर चर्चा की थी और वि. सं० १९१० में तेरापंथ के आचार्य जीतमल जी से दया-दान पर चर्चा की थी। आगरा में ईसाई पादरी से ईश्वर-कर्तृत्व के सम्बन्ध में चर्चा की थी। विक्रम संवत् १९२१ वैशाख शुक्ला पूर्णिमा के दिन संथारे के साथ आपका आगरा में स्वर्गवास हुआ। आप एक तेजस्वी और प्रभावक, जैन संस्कृति के उद्गाता सन्तरत्न थे।

□ □

पूज्यपाद कवि तिलोकऋषिजी महाराज

श्री तिलोक ऋषि जी महाराज का जन्म विक्रम संवत् १६०४ में चैत्र कृष्णा तृतीया बुधवार को रतलाम में हुआ। आपके पूज्य पिताजी का नाम दुलीचन्द जी तथा माता का नाम नानुबाई था। जब आप चार माह के थे तभी आपके पिता का देहान्त हो गया। जब आपकी उम्र दस वर्ष की थी उस समय अयवन्ता ऋषि जी रतलाम पधारे। उनके प्रवचन को श्रवण कर वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई। आपने अपनी माता नानुबाई और बहिन हीराबाई तथा ज्येष्ठ भ्राता कुँवरमल के साथ संयम मार्ग स्वीकार करने का निश्चय किया। विक्रम संवत १६१४ में माघ कृष्णा प्रतिपदा को दीक्षा ग्रहण की। विक्रम संवत् १६२२ में अयवन्ता ऋषि के स्वर्गस्थ होने पर संघ का उत्तरदायित्व आपने संभाला।

कवि तिलोक ऋषि जी का जीवन जितना साधनामय था उतना ही ज्ञानमय भी था। वे कवि और कलाकार दोनों थे। कविता करना उनका व्यवसाय नहीं था। लोकमानस को प्रबुद्ध करने के लिए वे काव्य का सृजन करते थे। उनका काव्य स्वान्तःसुखाय के साथ लोकहिताय भी था। उन्होंने प्रबन्ध काव्य और मुक्तक दोनों ही प्रकार के काव्य लिखे। वे संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषाओं के ज्ञाता थे और साथ ही आगमों के मर्मज्ञ भी थे। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में एक ओर सन्त कवियों का सारल्य है तो दूसरी ओर शास्त्रज्ञ कवि का पाण्डित्य भी। उनकी रचनाएँ केवल निवृत्तिमूलक ही नहीं, प्रवृत्तिमूलक भी हैं।

सन्त और भक्त, सदा ही ईश्वर के प्रति निष्ठावान रहे हैं और उनके स्मरण पर अधिक बल दिया है। श्री तिलोक ऋषि जी महाराज ने चौबीस तीर्थंकर, पञ्च परमेष्ठी, गणधर, सन्त और सतियों की स्तुति विशेष रूप से की है। उनके द्वारा रचित पञ्चपरमेष्ठी वन्दना अत्यधिक लोकप्रिय हुई है। स्थानकवासी समाज में सर्वत्र इसका प्रयोग प्रतिक्रमण में होता है। स्तुतिपरक रचनाओं में गीतितत्त्व की प्रधानता है। आख्यानमूलक जो कृतियाँ हैं वे प्रबन्ध कोटि में तो रखी जा सकती हैं किन्तु उन्हें महाकाव्य और खण्डकाव्य

की कसौटी पर कसना उपयुक्त नहीं है। सभी कथानकों में धार्मिक दृष्टि और उपदेश की प्रधानता है। इन कथानकों में राजा, राजकुमार, सेठ-साहूकार और सत्य एवं शील पर न्यौछावर होने वाली सन्नारियां भी हैं। सामान्य पात्रों का चित्रण बहुत ही कम हुआ है। सम्भव है, भुक्ति से मुक्ति की ओर, भोग से योग की ओर, राग से विराग की ओर जीवन प्रवाह को मोड़ने के लिए इस प्रकार का उपक्रम किया गया हो।

कवि ने चौढालिया और पञ्चढालिया के नाम से भी अनेक रचनाएँ की हैं। साथ ही चरित्र काव्य भी लिखे हैं। उनमें श्रीचन्द केवली चरित्र, सीता चरित्र, नेमि चरित्र, हंस-केशव चरित्र, धर्मबुद्धि-पापबुद्धि चरित्र, श्रेणिक चरित्र, शालिभद्र चरित्र, समरादित्य केवली चरित्र आदि मुख्य हैं। लावणी नाम से भी कई रचनाएं हैं—गजसुकुमाल की लावणी, धन्नाजी की लावणी, काल की लावणी, जीव रक्षा की लावणी आदि। छन्द संज्ञक रचनाओं में आचार्य छन्द, पार्श्वनाथ छन्द, साधु छन्द आदि हैं। इसी तरह आपने राजमती बारहमासा भी लिखा है। ये सारी रचनाएँ बहुत ही प्रभा-वोत्पादक हैं और जन-जन में धर्म प्रचार की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी हैं।

उपदेश देना सन्तों की सामान्य प्रवृत्ति है। यदि उस प्रवृत्ति में कवित्व की प्रतिभा हो तो वह उपदेश भार रूप नहीं होता। कवि अपनी लाक्षणिक अभिव्यक्ति से उस भाव विशेष को सरस और सरल बनाकर प्रस्तुत करता है। तिलोक ऋषिजी ने रूपक योजना द्वारा सामान्य लौकिक भावों में अलौ-किक सौन्दर्य की सृष्टि की। उन्होंने जितने भी लौकिक त्यौहार हैं—चाहे वह दशहरा, रूप चौदस, धन तेरस, दीपावली, होली, शीतला सप्तमी, वसन्त पंचमी, अक्षय तृतीया अथवा गणगौर हो, उन सभी पर आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्तन किया है। जैन सन्त घुमक्कड़ है, वह गांव और नगरों में पाद विहार करता है। आपने गांव और नगरों के नाम पर भी आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्तन किया है। सात वारों पर भी आध्यात्मिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। यहाँ तक कि सामान्य व्यक्तियों के नाम को भी आध्यात्मिक रंग में रंगकर कवि ने अपनी प्रबल प्रतिभा का परिचय दिया है।

कवि-व्यक्तित्व के साथ वे चित्रकार भी थे। आपने चित्र-काव्य भी लिखे हैं। चित्र काव्य दो प्रकार के हैं—सामान्य और रूपकात्मक। सामान्य चित्रकाव्य वह है जिसमें कवि अपनी या अन्य प्रसिद्ध कवि की कविता, दोहे सवैये आदि में इस प्रकार से लिखता है कि वह चित्र के रूप से बन जाता

है। जैसे—समुद्रबन्ध, नागपाशबन्ध आदि इसी प्रकार की कृतियाँ हैं। समुद्र-बन्ध रचना में संसार को समुद्र के रूप में उपमित किया गया है। नागपाश बन्ध में भगवान पार्श्व के जीवन की वह घटना व्यक्त की गई है जिसमें उन्होंने कमठ तापस को अग्नि में जलते हुए नाग को बताया था। चित्रालंकार काव्य में ३६ दोहे लिखे गए हैं। प्रथम पंक्ति में मंगलाचरण, द्वितीय पंक्ति से पच्चीसवीं पंक्ति तक चौबीस दोहों में तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। उसके पश्चात् नमस्कार मंत्र के पाँच दोहे, त्रिरत्न के तीन दोहे, देव, गुरु, धर्म विषयक तीन दोहे दिये गये हैं। बीच में छत्रबन्ध, दुर्गबन्ध, गोमूत्रिका-बन्ध में तीन प्रकार के नमस्कार महामंत्र दिये गये हैं। रचना का समय और स्वयं का नाम कवि ने बड़ी खूबी से लिखा है। ज्ञानकुञ्जर आदि भी कवि की सुन्दर कृतियाँ हैं।

आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के निदेशन में आपकी समस्त कृतियों का सुन्दर सम्पादन होकर तिलोक काव्य कल्पतरु नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। इस संग्रह से साहित्य के शोधार्थियों को विशेष लाभ होने की आशा है।

इस प्रकार तिलोक ऋषि जी अपने युग के एक विशिष्ट सन्त-कवि थे। उनके काव्य में भक्ति की प्रधानता है और साथ ही कलात्मकता भी है।

□□

आचार्य श्री अमोलक ऋषि जी

श्री अमोलक ऋषि जी महाराज आगम के विशिष्ट मर्मज्ञ श्रमण थे। आपके पूर्वज मेड़ता रहते थे। वहां से वे भोपाल के सन्निकट आ बसे थे। आपके पिताश्री का नाम केवलचन्द जी कांसटिया और माता का नाम हुलासीबाई था। विक्रम संवत् १९३४ में आपका जन्म हुआ। बाल्यकाल में आपकी मातेश्वरी का देहान्त हो गया। कुछ समय के पश्चात् पिता केवलचन्दजी भी संसार को असार समझकर दीक्षित हो गये। पिता के दीक्षित होने से आपके मन में भी दीक्षा की भावना जाग्रत हुई। आपने दस वर्ष की लघुवय में संयम धर्म को स्वीकार किया और पण्डित मुनि श्री रत्न ऋषि जी म० की सेवा में रहकर शास्त्रीय अध्ययन किया। संवत् १९८९ में इन्दौर में आप ऋषि सम्प्रदाय के आचार्य बने। इसके पूर्व कई वर्षों से ऋषि सम्प्रदाय में आचार्य पद रिक्त था, आपने उस पद की पूर्ति की।

आप जब हैदराबाद और कर्नाटक प्रान्त में विचरण कर रहे थे, तब आपके मन में एक विचार उत्पन्न हुआ कि साधक आगमों का अध्ययन करें। पर आगम सहज उपलब्ध नहीं थे। आगमों की भाषा अर्द्धमागधी होने से सभी व्यक्ति आगमों के अर्थ को ग्रहण नहीं कर सकते। अतः आपने ३२ आगमों का सरल हिन्दी में अनुवाद किया। ३ वर्ष के स्वल्प समय में आपने ३२ आगमों का अनुवाद कार्य सम्पन्न कर दिया। इस कार्य को करते समय आपने निरन्तर एकासन व्रत की आराधना की और स्वयं ने सात-सात घन्टे बैठकर आगमों का गुरुतर कार्य सम्पन्न किया। स्वर्गीय सेठ सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद जी ने वे ३२ आगम प्रकाशित कर सभी स्थानों पर अमूल्य समर्पित किये। आपने आगमों के अतिरिक्त जैन तत्व प्रकाश, परमात्म मार्ग दर्शक, मुक्ति सोपान प्रभृति १०१ पुस्तकों का सम्पादन और लेखन किया।

आप बहुत ही विनम्र प्रकृति के धनी थे। श्रद्धेय गुरुदेव उपाध्याय पुष्कर मुनिजी महाराज ने आपके जीवन से सम्बन्धित एक आँखों देखी घटना मुझे सुनाई कि अजमेर में संवत् १९८९ में बृहद साधु सम्मेलन था। उस सम्मेलन में प्रातःकाल लगभग ४ बजे एक सन्त सिर पर चद्दर ओढ़कर हमारे

कमरे में आते और सभी सन्तों को नमस्कार कर चले जाते। एक दिन हमने सोचा कि ये सन्त कौन हैं? जो मौन मुद्रा में नमस्कार कर लौट जाते हैं। मैं उनके पीछे हो गया। मैंने देखा जिस तरह से हमारे कमरे में नमस्कार कर गये थे उसी तरह से वे मुनि सभी अन्य मुनिवरों को भी जो सम्मेलन में पधारे हुए थे, उनको नमस्कार कर अन्त में अपने स्थान पर लौटे। इतने में कुछ प्रकाश भी हो चुका था। मैंने देखा वह मुनि सामान्य और लघु मुनि नहीं थे, वे थे—आचार्य प्रवर अमोलक ऋषि जी महाराज। मैंने सनम्र निवेदन किया—भगवन्! आप लघु मुनियों को नमस्कार करते हैं, यह कहाँ तक उचित है? आपने कहा—सन्त सभी भगवन्त होते हैं। मैं सोचने लगा कि एक ओर सम्प्रदायवाद का नाग फन फैलाये हुए है जिसके जहरीले दंश के कारण बड़ों का विनय भी करने से सन्त कतराते हैं तथा दूसरी ओर यह पुण्यात्मा है जो बिना संकोच हर सम्प्रदाय के छोटे सन्तों को भी नमन करने में आनन्द की अनुभूति करता है। मैंने पुनः उनसे पूछा—भगवन्! जब सभी सन्त अपने स्वाध्याय और ध्यान में होते हैं, तब आप नमस्कार कर लेते हैं। इसका क्या रहस्य है? उत्तर में उन्होंने कहा—सूर्योदय होने के बाद मुझे कौन नमस्कार करने देगा? यह थी अमोलक ऋषि जी महाराज के जीवन की शिष्टता। विद्या से विनय की प्राप्ति होती है, यह उन्होंने सिद्ध कर दिया था।

जैन आगम साहित्य के पुनरुद्धार में आपश्री का महान् योगदान शताब्दियों तक स्मरणीय रहेगा।

धार्मिक शिक्षा के क्षेत्र में आपश्री की प्रेरणा से बम्बई में श्रीरत्न चिन्तामणि पाठशाला, कड़ा में श्री अमोलक जैन पाठशाला आदि अनेक संस्थाओं की संस्थापना हुई। और भी अनेक स्थानों पर धार्मिक पाठशालाएँ खोली गई। वि० सं० १९९३ की भाद्रपद कृष्णा दशमी के दिन धुलिया में आपका स्वर्गवास हुआ। आपका जीवन ज्ञान और चारित्र का संगम था। वस्तुतः आप समाज के अनमोल रत्न थे। □

आचार्य श्री हुकमीचन्द जी महाराज

पूज्य हुकमीचन्द जी महाराज एक आचारनिष्ठ विद्वान श्रमण थे। आपका जन्म शेखावटी के टोड़ा नामक ग्राम में हुआ था। संवत् १८०९ में कोटा सम्प्रदाय के मूर्धन्य मनीषी मुनिश्री लालचन्दजी महाराज के पास आपने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आपके अन्तर्मानस में यह भावना उद्बुद्ध हुई कि हमें श्रमणाचार का उत्कृष्ट पालन करना चाहिए। इस भावना को मूर्त रूप देने के लिए आप गुरु की अनुमति लेकर पृथक रूप से विचरण करने लगे। आपने २१ वर्ष तक छट्ठ-छट्ठ के तप की आराधना की। पारणे में सभी प्रकार की मिठाइयों और तले हुए पदार्थों का त्याग कर दिया। केवल तेरह द्रव्यों का उपयोग करना ही आपने रखा था। कहा जाता है कि वे प्रतिदिन २००० बार नमोत्थुणं के द्वारा वीतराग प्रभु को वन्दन करते थे और अवशेष समय में आगमों की प्रतिलिपियाँ उतारते थे। उनकी लिपि बहुत ही सुन्दर थी। आपके हाथ से लिखे हुए १९ आगमों की प्रतियाँ मुनियों के पास सुरक्षित हैं। आप उग्र तपस्वी थे। भयंकर सर्दी में निर्वस्त्र होकर रात्रि में शीत-आतापना लेते और भीष्म-ग्रीष्म ऋतु में मध्याह्न काल में सूर्य की आतापना लेते। शीत ऋतु में केवल एक चादर का ही उपयोग करते। आपका जीवन निर्मल और पवित्र था। पद और प्रतिष्ठा की भूख आप में नहीं थी तथापि आपके नाम से सम्प्रदाय का प्रचलन हुआ। संवत १९१८ में मध्य भारत के जावद ग्राम में संथारेपूर्वक आपका स्वर्गवास हुआ। आप जैसे तेजस्वी सन्त जैन शासन के शृंगार रहे हैं।

□□

आचार्य श्री मन्नालाल जी महाराज

श्री मन्नालाल जी महाराज एक प्रभावक और संयमपरायण मुनि रत्न थे। विक्रम संवत् १९२५ में रतलाम में आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम अमरचन्द जी नागोरी और माता का नाम नन्दीबाई था। तेरह वर्ष की उम्र में आपने पूज्य उदयसागर जी महाराज के पास रहकर धार्मिक अध्ययन किया और सरलमना श्री रतनचन्द जी महाराज के आप सुशिष्य बने। आपके पच्चीस गुरु भ्राता थे और ग्यारह शिष्य थे।

आपका आगम ज्ञान तलस्पर्शी था। कोई भी जिज्ञासु आगमिक जिज्ञासा व्यक्त करता तो आप सरल भाषा में प्रमाण पुरस्सर उसका समाधान कर देते थे। आगम ज्ञान आपके जीवन के कण-कण में और मन के अणु-अणु में रम गया था। यही कारण है कि आपके जीवन में सहज सरलता व क्षमा और निर्लोभता थी। आपके शास्त्रीय प्रवचन सहज ग्राह्य थे। संवत् १९७३ में आपको आचार्य पद प्रदान किया गया। ५२ वर्ष तक संयम-साधना, तप:आराधना कर संवत् १९९० में, ब्यावर में आपका समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ।

□□

आचार्य श्रीलाल जी महाराज

आचार्य श्रीलाल जी म. बहुत ही पुण्यधारी थे। वि.सं. १९२६ में आपका जन्म राजस्थान प्रान्त के नगर टोंक में हुआ। आपके पिता का नाम चुन्नीलाल जी और माता का नाम चाँदकुँवर था। वे स्वभाव से बहुत ही मधुर और मिलनसार थे। जब श्रीलाल जी छह वर्ष के थे, तब आपका वाग्दान मानकुँवर के साथ हो गया था और ग्यारह वर्ष की उम्र में विवाह हो गया। पर वे संसार के प्रति आसक्त नहीं थे। जब कभी भी उन्हें समय मिलता तब वे एकान्त स्थान में बैठकर 'मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है ?' इस गम्भीर समस्या को सुलझाने में लगे रहते। विवाह होने पर भी आपने अपनी पत्नी का मुँह अच्छी तरह से नहीं देखा। कहा जाता है कि एक बार मध्यान्ह में वे अपने कमरे में बैठे हुए चिन्तन कर रहे थे, उसी समय उनकी पत्नी आ गई। वे अपनी छत से ही कूद कर दूसरी छत पर चले गये। क्योंकि उन्होंने मन ही मन में पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा ले रखी थी। मानकुँवर उन्हें संसार में फँसाना चाहती थी। छत पर कूदने की आवाज से माता को पता लग गया कि पुत्र पत्नी का परित्याग कर श्रमण धर्म स्वीकार करने के लिए ललक रहा है। माता-पिता ने पुत्र को समझाया कि दीक्षा न लो। पर पुत्र की वैराग्य-भावना प्रबल थी। अन्त में बीस वर्ष की उम्र में संवत् १९४५ में आप पूज्य किशनलाल जी महाराज के पास दीक्षित हुए। मानकुँवर ने भी आपका अनुसरण किया। आपकी स्मरण शक्ति बहुत अद्भुत थी। आप तपस्वी थे। वर्षावास में एकान्तर तप की साधना करते रहते थे। ३२ वर्ष के संयमी जीवन में अनेक उपसर्ग सहन किये पर अपने स्वीकृत मार्ग से वे कभी भी विचलित नहीं हुए। संवत् १९५७ में पूज्य चौथमल जी महाराज के स्वर्गस्थ होने पर आप आचार्य बने। आचार्य बनने पर अनेकों व्यक्तियों को अपने उपदेश से मद्य-मांस का परित्याग करवाया और अनेक राजाओं, महाराजाओं, ठाकुरों को प्रतिबोध दिया।

वि० सं० १९७७ में आप जैतारण विराज रहे थे। शरीर में यकायक व्याधि हुई। आपने संथारा किया और समाधिपूर्वक आयु पूर्ण किया। □

जैन दिवाकर श्री चौथमल जी महाराज

भारत की पावन पुण्यधरा में मालव प्रान्त का गौरवपूर्ण स्थान रहा है। जहाँ पर विक्रमादित्य जैसे तेजस्वी सम्राट ने जन्म लेकर अपने नाम को रोशन किया। राजा भोज जैसे सरस्वती-उपासकों ने जहाँ शासन कर अपनी कीर्ति कौमुदी का आलोक विश्व में फैलाया। जहाँ कवि कुल दिवाकर कालीदास जैसे गीर्वाण गिरा के यशस्वी कवि हुए। उसी प्रान्त में जैन दिवाकर चौथमल जी महाराज ने भी जन्म ग्रहण किया। आपका जन्म गाँव नीमच था। आपके पूज्य पिता का नाम गंगाराम जी और मातेश्वरी का नाम केसरबाई था। विक्रम संवत् १९३४ कार्तिक सुदी १३ रविवार के दिन आपका जन्म हुआ। आप कुशाग्र बुद्धि के धनी थे। अपने भ्राता और पिता के देहान्त से उनके मन में वैराग्य भावना उत्पन्न हुई। माता केसरबाई ने उनका सोलह वर्ष की आयु में मानकुंवर के साथ विक्रम संवत् १९५० में विवाह कर दिया। पर उनके मन में तो वैराग्य भावना पनप रही थी। विवाह होने पर भी वे सांसारिक वासनाओं के प्रति आसक्त नहीं थे। विक्रम संवत् १९५२ फाल्गुन शुक्ला पञ्चमी रविवार के दिन आपने कविवर्य हीरालाल जी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की।

आप प्रखर प्रवक्ता थे। वाणी के जादूगर थे। आपके प्रवचनों में जैन ही नहीं, अजैन भी भारी संख्या में उपस्थित होते थे। आप जहां भी जाते वहाँ अपार भीड़ एकत्रित हो जाती। राजा, महाराजा और ठाकुर आदि आपके परम भक्त थे। आपकी प्रवचन सभा सचमुच में ही इन्द्र धनुष की तरह बहुरंगी मोहक छटा ली हुई होती थी। वे साक्षात् करुणामूर्ति थे। परदुखकातर थे। अभावग्रस्त असहाय वृद्धों की दयनीय स्थिति उनसे देखी नहीं गई तो उन्होंने इतिहास केन्द्र चित्तौड़ में वृद्धाश्रम की संस्थापना की। अनेक स्थानों पर अतीत काल से चली आ रही बलि प्रथा समाप्त करवाकर अमारी घोषणाएं करवाई। हजारों परिवारों को मद्य, मांस, द्यूत आदि दुर्व्यसनों से मुक्त करवाया और उनके जीवन को धर्म के संस्कारों से अनुरंजित किया। शिक्षण के क्षेत्र में अनेक नैतिक शिक्षा निकेतन खोले। जैन

दिवाकर जी महाराज जैन शासन प्रभाकर मुनि प्रवर थे। उन्होंने जैन शासन की जो प्रभावना की वैसी प्रभावना बड़े-बड़े आचार्य भी नहीं कर सकते। वे कालजयी इतिहास पुरुष थे।

वे कवि भी थे। उन्होंने अनेक चौपाइयां लिखीं और शताधिक भजन लिखे तथा वे सभी भजन और चौपाइयां बहुत ही सरल भाषा में लिखी गई हैं। भाषा का आडम्बर आपकी कविता में नहीं है। आपने पद्य में ही नहीं, गद्य में भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। पद्य और गद्य दोनों की ही साहित्य सम्पदा अपूर्व और अनूठी है। आपके साहित्य में विश्व मैत्री का पावन संदेश है, जड़ता के प्रति चैतन्य का विद्रोह है, विकृति के प्रति संस्कृति का जयघोष है।

□□

आचार्य श्री जवाहरलाल जी महाराज

आचार्य जवाहरलाल जी महाराज युगप्रवर्तक, महान क्रान्तिकारी आचार्य थे। आपका जन्म विक्रम सं० १९३२ में मालवा प्रान्त के थांदला गांव में हुआ। आपके पिताजी का नाम जीवराज जी और माता का नाम नाथीबाई था। जब बालक जवाहर दो वर्ष का हुआ तब मां का देहान्त हो गया और जब पांच वर्ष का हुआ तब पिता का। अतः बालक अपने मामा मूलचंद के पास रहने लगा। जब वह बालक ११ वर्ष का हुआ तब मामा की दुकान पर बैठ कर व्यापार करने लगा। जब बालक १३ वर्ष का हुआ तब मामा जी का भी देहान्त हो गया। माता-पिता और मामा के देहान्त ने उसके मन में संसार से विरक्ति पैदा की और वह अमर बनने का उपाय सोचने लगा।

थांदला में मुनियों का आगमन होता रहता था। आपने आत्मार्थी मुनि मगनलाल जी के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेने के १॥ माह बाद गुरु मगनलाल जी का स्वर्गवास हो गया जिससे जवाहरलाल जी का चित्त विक्षिप्त हो गया उस समय तपस्वी मोतीलाल जी महाराज ने उनकी खूब सेवा की। तीन सेर पानी सिर में से निकाला गया। विक्षिप्तता कम हुई। राष्ट्रनायक जवाहरलाल को बनाने वाले उनके पिता पंडित मोतीलाल नेहरू थे, उसी प्रकार मुनि जवाहरलाल जी को बनाने वाले तपस्वी श्री मोतीलाल जी म० थे। मुनि जवाहरलाल जी जब स्वस्थ हुए तब कविता निर्माण करने लगे। उन्होंने अनेक स्तुतियां लिखीं। आपने रामपुरा में केशरीमल जी श्रावक से अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया।

आपके सम्प्रदाय के उस समय आचार्य चौथमल जी महाराज थे। उनकी शारीरिक शक्ति क्षीण हो चुकी थी। उस समय सम्प्रदाय के संचालन हेतु चार मुनियों को नियुक्त किया गया, उनमें एक आप भी थे। उसके बाद श्रीलाल जी महाराज आचार्य बने। आप मेधासम्पन्न सन्त थे। आपने अपने जीवन में अनेकों बार तेरापंथी मुनियों से दया दान के सम्बन्ध में चर्चाएं कीं और सभी चर्चाओं में विजयश्री ने आपको वरण किया। एक बार आपका चातुर्मास थांदला में था। कुछ उच्छृंखल बालकों ने आप पर पत्थरों

से प्रहार किया। श्रावकों ने रुष्ट होकर उन बालकों को दण्ड देना चाहा पर आपने स्पष्ट शब्दों में कहा कि पत्थर फेंकने पर आम का वृक्ष मधुर फल देता है वैसे ही सन्त भी कष्ट देने वाले को अभिशाप नहीं देता। हमारे निमित्त से किसी को कष्ट हो, यह हमें अभिप्रेत नहीं है। आपके प्रमुख शिष्य थे— घासीलाल जी महाराज, गणेशीलाल जी महाराज, सिरेमल जी महाराज आदि। उन शिष्यों को आपने वैतनिक पण्डित रखकर संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का गम्भीर अध्ययन करवाया। जिसकी उस समय कटु आलोचना हुई, किन्तु आपने सटीक उत्तर दिया।

उस समय देश परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। आप में राष्ट्रीय भावना प्रबल थी। तत्कालीन राष्ट्रनायकों से आपका गहरा सम्पर्क था। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, लोकमान्य तिलक, सरदार बल्लभ भाई पटेल आदि अनेक गणमान्य राष्ट्रीय नेतागण आपके निकट सम्पर्क में आते रहे। स्वाधीनता आन्दोलन, सत्याग्रह, खादी-धारण, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, हरिजनोद्धार, नारी-जागरण, व्यसन-मुक्ति, दहेज निवारण जैसे रचनात्मक कार्यक्रमों के आप प्रबल समर्थक थे। आपके उपदेशों से प्रभावित होकर बड़े-बड़े श्रीमन्तों ने विदेशी वस्तुओं को त्याग कर खादी धारण करने का व्रत लिया और राष्ट्रीय आन्दोलन में सहयोगी बने। आपकी वाणी वाग्विलास न होकर सच्ची युगवाणी थी। आपमें विचार-शक्ति और व्याख्यान-शक्ति की अद्भुत क्षमता थी। आपका प्रवचन साहित्य बहुत ही विशाल है। जवाहर किरणावली के नाम से ३५ भाग प्रकाशित हो चुके हैं। छह भागों में भगवती सूत्र पर विवेचन भी पृथक् रूप से निकला है। अनुकम्पा-विचार, सद्धर्म-मण्डन, सूत्रकृतांग विवेचन आपश्री की विशिष्ट रचनाएँ हैं।

आचार्य श्रीलाल जी महाराज ने आपको अपना उत्तराधिकारी चुना। उनके स्वर्गवास के पश्चात् आप आचार्य बने। आप निर्भीक वक्ता थे। आपकी वाणी में ओज था, जिससे जैन-अजैन सभी प्रभावित होते थे। आपकी प्रेरणा से बम्बई में जीवदया मण्डल की स्थापना हुई। संवत् १६८१ में आपके हाथ में एक जहरीला फोड़ा हुआ। बम्बई के डॉ मुलगांवकर ने उसका आप्रेशन किया। आप्रेशन बड़ा भयंकर था किन्तु बिना क्लोरोफार्म सूँघे ही आपने आपरेशन करवाया। सन् १६४३ में लम्बी व्याधि के पश्चात् भीनासर में दिनांक १०-७-४३ को आपने एक दिन के संथारे के पश्चात् स्वर्गारोहण किया। पूज्य श्री जवाहरलाल जी महाराज एक प्रभावशाली आचार्य थे, दयादान प्रचारक थे, दृढ़ निश्चयी थे, क्रियावादी थे और श्रेष्ठ वाग्मी थे। □

आचार्य श्री गणेशीलाल जी महाराज

आपका जन्म वि० सं० १६४७ श्रावण कृष्णा तीज को उदयपुर में हुआ। आपके पिताश्री का नाम साहबलाल जी मारु और मातेश्वरी का नाम इन्द्राबाई था। चौदह वर्ष की लघु उम्र में आपका विवाह हो गया और पन्द्रह वर्ष की अवस्था में माँ और पत्नी मृत्यु के पश्चात आपके मन में संसार की असारता का भान हुआ। उस समय उदयपुर में आचार्य जवाहर लाल जी म० का चातुर्मास था। उनके पावन उपदेश से प्रभावित होकर संवत् १६६२ में मार्गशीर्ष एकम के दिन आपने दीक्षा ग्रहण की।

गुरु-चरणों में रहकर आपने संस्कृत, प्राकृत भाषाओं का और आगम, दर्शन, व्याकरण का गम्भीर अध्ययन किया। आपकी वाणी में माधुर्य था। प्रवचन शैली दिल को लुभाने वाली थी। संवत् १६६० फाल्गुन शुक्ला तीज को जावद में आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. ने आपको युवाचार्य पद प्रदान किया। संवत् १६६६ में आषाढ़ सुदी तीज को आप आचार्य पद पर आसीन हुए। संवत् २००६ में संगठन की एक लहर चली। सादड़ी में सन्त सम्मेलन हुआ और जितने भी सन्त उस सम्मेलन में उपस्थित हुए उन सभी ने एक श्रमण संघ का निर्माण किया। उस सम्मेलन में आपश्री को उपाचार्य पद प्रदान किया गया। सन् १६६० में आपने कुछ मतभेद होने से श्रमण संघ से त्याग-पत्र दिया और उपाचार्य पद से भी। स्वास्थ्य की प्रतिकूलता से जीवन की सांध्य बेला में आप उदयपुर स्थानापन्न विराजे और स्वयं ने संथारा कर आयु पूर्ण किया।

आप त्यागनिष्ठ प्रभावशाली सन्तरत्न थे।

□□

आचार्य श्री घासीलाल जी महाराज

श्री घासीलाल जी महाराज स्थानकवासी परम्परा के एक तेजस्वी सन्त थे। विक्रम संवत् १९४१ में मेवाड़ के ग्राम बनोल में आपका जन्म हुआ। आपके पिताश्री का नाम प्रभुदत्त और माता का नाम विमलाबाई था। पहले प्रकृति की पाठशाला में ही उनकी शिक्षा प्रारम्भ हुई। पिता के निधन के पश्चात् जब बालक अपनी माँ को उदासीन देखता तो वह उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करता। बालक अपनी माँ के कार्य में हाथ बँटाने लगा। वह पुरुषार्थी था। गाय और भैंसों को चराता और खेतों को पानी लगाता था। कुछ समय के बाद माँ का निधन हो गया। बालक घासीलाल सेठ भागचन्द के यहाँ कार्य करने लगा। सेठ भागचन्द की पुत्री जसवन्तगढ़ ब्याही हुई थी। वह बालक घासीलाल को अपने साथ जसवन्तगढ़ ले आई और बालक वहाँ देवीचन्दजी बोल्या के यहाँ रहने लगा। उस समय आचार्य जवाहरलाल जी महाराज अपने शिष्यों के साथ वहाँ पधारे हुए थे। उनके उपदेश को सुनकर किशोर घासीलाल ने संवत् १९५८ में गोगुन्दा में दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षा लेकर वे सन्तों के साथ विहार कर रहे थे कि तस्करों ने उनके नये वस्त्र छीन लिए। उस समय जवाहरलाल जी महाराज ने उन चोरों को प्रतिबोध दिया। जीवन के उषाकाल में घासीलाल जी महाराज की बुद्धि बहुत ही मन्द थी। नमस्कार महामंत्र को याद करने में १८ दिन लगे। वे सोचने लगे कि बुद्धि को तीक्ष्ण बनाने का मुझे उपाय करना चाहिए। उन्होंने आयंबिल वर्द्धमान तप प्रारम्भ किया और अनेक कठोर प्रयोग भी किये। कितनी ही बार लकड़ी के बारीक बुरादे को पानी में डालकर पीते, कभी नीम के सूखे पत्ते, कभी राख आदि को पानी में डालकर उसे ग्रहण करते। इस प्रकार कठोर तप की साधना और निरन्तर अभ्यास से उनकी बुद्धि तीक्ष्ण होने लगी। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, मराठी, फारसी, उर्दू आदि भाषाओं का अध्ययन और आगमों का गहराई से परिशीलन किया। आपके सम्पर्क में आकर कोल्हापुरनरेश प्रभावित हुए थे। उदयपुर के नरेश भोपाल सिंह जी तथा अन्य अनेक नरेश भी आपसे लाभान्वित हुए थे। आपने ११

अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद और आवश्यक सूत्र इन ३२ आगमों पर संस्कृत में टीकाएँ लिखीं। हिन्दी, गुजराती में विस्तृत विवेचन के साथ अनुवाद भी किया।

आपने कल्पसूत्र के नाम से स्वतन्त्र कल्पसूत्र की रचना की और तत्त्वार्थ सूत्र की भी। न्याय रत्नसार, न्याय रत्नावली, न्याय रत्नावली स्याद्वाद मार्तण्ड टीका और इसी तरह व्याकरण में प्राकृत व्याकरण, प्राकृत कौमुदी, आर्हत व्याकरण तथा कोष में श्रीलाल नाममाला कोष, नानार्थोदय सागर कोष, शिव कोष, सिद्धान्त ग्रन्थ—गृह धर्म कल्पतरु, जैनागम तत्त्व दीपिका, तत्त्व प्रदीपिका, काव्यग्रन्थ—लोकाशाह महाकाव्य, शान्ति सिन्धु महाकाव्य, मोक्ष पद, स्तोत्र स्तुतियों में—जवाहिर गुण किरणावली, नव-स्मरण, कल्याण मंगल स्तोत्र, महावीराष्टक, जिनाष्टक, वर्द्धमान भक्तामर, नागाम्बरमञ्जरी, लवजी स्वामी स्तोत्र, माणक्य अष्टक, पूज्य श्रीलाल काव्य, संकटमोचनाष्टक, पुरुषोत्तमाष्टक, समर्थाष्टक, जैन दिवाकर स्तोत्र, वृत्तबोध, सूक्ति संग्रह और तत्त्वप्रदीप इत्यादि विविध स्तुतियाँ आपके द्वारा लिखी गई हैं। आपने व्याकरण, धर्म, न्यायशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि विविध विषयों पर ग्रन्थ लिखकर जैन धर्म की महान प्रभावना की।

विक्रम संवत् २०२९ पौष कृष्णा अमावस्या के दिन संथारे के साथ आपका अहमदाबाद में स्वर्गवास हुआ। आप जपयोगी-ज्ञानयोगी साधक थे। प्रतिमाह दो अष्टम तप जीवन की सांध्य वेला तक आप करते रहे और ज्ञान की आराधना भी। आगम कार्य को सम्पन्न करने के लिए आप सोलह वर्ष तक सरसपुर अहमदाबाद में विराजे। ●

आचार्य श्री माधव मुनिजी

माधव मुनि जी एक प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। विक्रम संवत् १९२८ में भरतपुर के सन्निकट ओंढेरा ग्राम में आपका जन्म हुआ। आपके पिताश्री का नाम बंशीधर और मातेश्वरी का नाम रायकुंवर था। आप वर्ण से ब्राह्मण थे। जब आप पांच वर्ष के थे तब माता का देहान्त हो गया और उसके कुछ समय बाद पिता का भी। शिशु अवस्था में माता-पिता का निधन बालक के लिए संकट की घड़ी होती है। माता-पिता से निराश्रित बालक माधव अपनी बुआ के पास भरतपुर पहुंच गया और वहीं रहने लगा। एक बार पूज्य मेघराज जी महाराज (मालव पट्टावली में चुन्नीलाल जी महाराज का नाम है) का भरतपुर में आगमन हुआ। वे ध्यानयोगी और जपयोगी सन्त थे। बालक माधव अपनी बुआ के साथ प्रवचन में गया। बालक के शरीर पर विलक्षण लक्षण निहारकर पूज्य श्री ने बालक की बुआ से कहा—यह बालक यदि दीक्षा ग्रहण करता है तो जैन शासन की प्रभावना करेगा। बुआ ने कहा—आपने इस बालक की याचना की है, मैं कैसे इन्कार कर सकती हूँ ? मैं सहर्ष आपको इसे समर्पित करती हूँ। बालक माधव महाराज श्री के साथ हो लिया। बालक की बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी और वह कष्ट-सहिष्णु भी था। विक्रम संवत् १९४० अक्षय तृतीया को आपने अजमेर में में दीक्षा ग्रहण की। छह माह के बाद गुरुदेव श्री मेघराज जी महाराज का स्वर्गवास हो गया। उसके बाद आप मेघराज जी के गुरुभ्राता श्री मगन मुनि जी के पास रहकर अध्ययन करने लगे। आगम और दर्शन शास्त्र का तथा वैदिक परम्परा के वेद, उपनिषद् पुराण और स्मृति ग्रन्थों का भी आपने अध्ययन किया। ग्रह लाघव, होरा चक्र, मुहूर्त चिन्तामणि, ताजिक नीलकण्ठी, रणवीर ज्योतिर्महानिबन्ध आदि ग्रन्थों का भी पारायण किया। चरक, सुश्रुत प्रभृति आयुर्वेदिक ग्रन्थों का भी परिशीलन किया। अध्ययन के साथ अनेक व्यक्तियों को अध्यापन भी करवाया। वि० सं० १९७६ में आपका वर्षावास पालनपुर में था। उस समय आपके विद्यागुरु पूज्य मगन मुनि जी का चातुर्मास मण्डावर में था। उनका वहाँ स्वर्गवास हो गया। वि० सं० १९७८ वैशाख शुक्ला पञ्चमी को आप युवाचार्य बने। वि० सं० १९७९ में आपने आचार्य पद ग्रहण किया। संवत् १९८१ में आपका वर्षावास जयपुर

में था। जयपुर का वर्षावास सम्पन्न कर आपने जोधपुर की ओर प्रस्थान किया। जयपुर और दौसा के बीच में गाडोता ग्राम के सन्निकट यकायक स्वास्थ्य अस्वस्थ हुआ। नमस्कार मुद्रा में बैठते ही नमस्कार महामन्त्र उच्चारित करते-करते स्वर्गवास हो गया। आपका अग्नि संस्कार जयपुर में किया गया। ५३ वर्ष की अवस्था में आपका स्वर्गवास हुआ।

आप विलक्षण प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। आप निर्भीक थे और विनोदप्रिय भी। एक बार आप मथुरा पधारे। वे एक अग्रवाल गृहस्थ के यहाँ ठहरे। एक आर्य समाजी को वह बात पसन्द नहीं आई। उसने आपश्री का अपमान करना चाहा। वह आपके पास आया और पूछा—सनातन शब्द का क्या अर्थ है ? पूज्य श्री ने कहा—जो सदा से है, वह सनातन है।

पण्डित ने पूछा—सनातन धर्म प्राचीन है या जैन धर्म ?

माधव मुनि जी ने कहा—आपको झमेले में पड़ने की आवश्यकता नहीं। चाहे कोई नया हो या पुराना हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

पण्डित ने कहा—जो पुराना होता है, वह अच्छा होता है। माधव मुनि जी ने कहा—यह कोई तर्क नहीं है। पुराने और नये का सम्बन्ध अच्छे-बुरे से नहीं होता। क्या आपको पुराना पसन्द है ? तो मैं आपसे पूछता हूँ कि आप ताजा रोटी खाना पसन्द करते हैं या बासी ? प्राचीनता और नवीनता किसी वस्तु की उत्तमता कसौटी नहीं है। पण्डित के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। वह निरुत्तर होकर वहाँ से खिसक लिया।

झाबुआ में दुर्लभराम जी शास्त्री थे। उन्होंने एक बार कहा कि ढूंढ़ियों में संस्कृत भाषा का कोई विद्वान साधु नहीं है। एक बार माधव मुनि जी वहाँ पधारे। उन्होंने पण्डित जी से संस्कृत भाषा में धाराप्रवाह वार्तालाप किया और विविध विषयों पर विचार-चर्चाएँ कीं। शास्त्री जी की जो भ्रान्त धारणा थी, वह मिट गई।

आपके द्वारा समय-समय पर पद्यों का निर्माण होता रहा। पद्यों की भाषा संस्कृत मिश्रित हिन्दी है। अनुप्रासों की छटा दर्शनीय है। आपके द्वारा रचित 'सेवो सिद्ध सदा जयकार' पद भारत में एक अञ्चल से दूसरे अञ्चल तक भक्तों के हृदय का हार बना हुआ है। आपका यह पद्य संग्रह 'स्तवन तरंगिणी' के नाम से प्रकाशित हुआ है और एक पुस्तक "ढंढोदम्भ दर्पण" के नाम से। आपकी अन्य रचनाएँ भी होंगी पर वे प्रकाश में नहीं आई हैं। □

मालवकेसरी श्री सौभाग्यमल जी महाराज

मालवकेसरी सौभाग्यमल जी महाराज एक लोकप्रिय सन्तरत्न थे। विक्रम संवत् १६५५ में नीमच के सन्निकट सखानिया ग्राम में आपका जन्म हुआ। आपके पिता का नाम चौथमल जी फाफडिया और माता का नाम केसरबाई था। जब आपकी लघुवय थी, तभी माता का देहान्त हो गया। पिता चौथमल जी ने सट्टे में अपनी सारी पूँजी गँवा दी, जिससे आर्थिक संकट समुत्पन्न हो गया। आजीविका की अन्वेषणा के लिए अपने पुत्र के साथ मन्दसौर, जावरा होते हुए रतलाम पहुंचे। उस समय पूज्य श्रीलाल जी महाराज का वर्षावास रतलाम में था। दर्शनार्थी बन्धुओं के लिए चौका चल रहा था। उसमें उन्हें नौकरी मिल गई। पर भाग्य ने साथ नहीं दिया। वे बीमार हो गये और अपने पुत्र सौभाग्यमल को अनाथ छोड़कर सदा के लिये आँखें मूँद लीं। रतलाम के सेठ इन्द्रमल कावडिया ने बालक को अपने यहाँ रख लिया। पर एक दिन एक ब्राह्मण उस बालक को फुसलाकर अपने साथ ले गया। वह खाचरोद पहुंचा और यकायक बालक को रास्ते में छोड़कर वह नौ-दो-ग्यारह हो गया। बालक भूख से छटपटाने लगा। खाचरौद के मियांचन्द खिवेसरा ने उस अनाथ बालक को अपने यहाँ रख लिया। बालक सौभाग्यमल बहुत ही नटखट था। उसमें अध्ययन की रुचि नहीं थी। सारे दिन अन्य बालकों के साथ खेल-कूद में मगन रहता।

एक बार वहाँ आचार्य धर्मदास जी महाराज के सम्प्रदाय के पूज्य नन्दलाल जी महाराज का आगमन हुआ। पूज्यश्री ने बालक को देखा और मियांचन्द जी खिवेसरा ने बालक पूज्यश्री को समर्पित कर दिया। विक्रम संवत् १६६७ वैशाख कृष्णा तीज के दिन आपने आर्हती दीक्षा ग्रहण की और श्री किशनलाल जी महाराज को अपना गुरु बनाया। आप में गुरुभक्ति तीव्र थी। आप अपने गुरुदेव को सदा 'ईश्वर' सम्बोधन से पुकारते थे। दीक्षा के पश्चात् आपने शिक्षा की ओर अपने कदम बढ़ाये। वक्तृत्व शक्ति आपको जन्मजात मिली हुई थी। आपके प्रवचन को सुनकर श्रोता मन्त्रमुग्ध बन जाते थे। आपके बाईस शिष्य हुए। आप सरस कवि थे। श्रेणिक चरित्र, चन्द चरित्र आदि कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं और अनेक कृतियाँ अभी तक

प्रकाशित नहीं हो सकी हैं। आपने आचारांग सूत्र पर विस्तृत विवेचन भी लिखा है जो दो भागों में प्रकाशित हुआ है। उसमें आपश्री का गम्भीर पाण्डित्य छलक रहा है।

आप संगठन के प्रबल पक्षधर थे। आपने वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के निर्माण के लिये प्रबल प्रयास किया और उसके लिए लम्बी यात्राएँ भी कीं। आपकी प्रेरणा से कई जनोपयोगी संस्थाएँ भी निर्मित हुईं। सन् १९८४, २२ जुलाई को रतलाम में आपका स्वर्गवास हुआ। उनके स्वर्गवास से एक महान ज्योतिर्धर अस्त हो गया। उनका सुदीर्घ संयमी जीवन सदा-सर्वदा चतुर्विध संघ के लिए सर्मपित रहा। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व असाधारण था। वे प्रियदर्शी और प्रियभाषी अमृत पुरुष थे।

□□

मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज

महामहिम मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज स्थानकवासी समाज के एक तेजस्वी सन्त थे। विक्रम संवत् १९४८ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी के दिन पाली में आपका जन्म हुआ। आपके पूर्वज पाली के सन्निकट राणा गाँव में रहते थे। आपके पिता का नाम शेषमल जी और माँ का नाम केसर कुँवर था। आपने स्वामी श्री बुधमल जी महाराज के उपदेश को सुना, तो आपके मन में वैराग्य भावना प्रबल हो उठी। आपने २७ वर्ष की युवावस्था में विक्रम संवत् १९७५ में बुधमल जी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की। आपने जैन आगम साहित्य, स्तोक साहित्य, ज्योतिष, व्याकरण, न्याय साहित्य, गणित, छन्द, अलंकार आदि का गहराई से अध्ययन किया। विक्रम संवत् १९८५ में कुरडाया गाँव में आपके गुरुदेव बुधमलजी महाराज का स्वर्गवास हो गया। उसके पश्चात् आप एकाकी रह गये तथापि आप साहस के धनी थे और संयम साधना के प्रति जागरूक थे। इसलिए निरन्तर आपका विकास होता रहा। वि० सं० १९९३ में आप 'मरुधरकेसरी' उपाधि से अलंकृत हुए और सादड़ी सम्मेलन में आपको मन्त्री पद से विभूषित किया

गया। वि० सं० २०२५ में आप प्रवर्तक पद पर आसीन हुए। संवत् २०३३ में आप "श्रमण-सूर्य" की उपाधि से सम्मानित किये गये।

आप आशु कवि थे। आपने विविध विषयों पर विपुल मात्रा में पद्य साहित्य का निर्माण किया है। विविध राग-रागिनियों के माध्यम से जन-जीवन में क्रान्ति और शान्ति का शंख फूंकने के लिए हजारों भजनों का निर्माण और कई दर्जन चौपाइयों का सृजन किया। पाण्डव यशोरसायन, राम यशोरसायन आदि आपके द्वारा रचित महाकाव्य हैं। जैन धर्म में तप, जीवन ज्योति, प्रवचन प्रभा, प्रवचन सुधा, साधना के पथ पर, धवल ज्ञान धारा, मिश्री की डलियाँ, मित्रता की मणियाँ आदि आपके द्वारा रचित जीवनोपयोगी प्रवचन ग्रन्थ हैं। कर्मग्रन्थ के विवेचन में आपकी तात्त्विक प्रतिभा पूर्ण रूप से प्रकट हुई है। आप जहाँ कुशल साहित्यकार थे वहाँ आप कुशल मार्गदर्शक और समाजोद्धारक भी थे। आपकी प्रेरणा से अनेक विद्यालय और गोशालाएँ, औषधालय और साहित्य-संस्थान निर्मित हुए हैं जो आपकी कर्मठ कर्तृत्व शक्ति को अभिव्यक्त करते हैं।

आप संगठन के प्रबल पक्षधर रहे। आपने समय-समय पर श्रमण संगठन के लिए भरसक प्रयास किये। आपका व्यक्तित्व और कृतित्व बहु-आयामी था। सन् १९८४ के जनवरी माह में जैतारण में आपश्री का समाधि-पूर्वक स्वर्गवास हुआ।

□□

जैनागम महोदधि के प्रकांड व्याख्याता

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज अपने युग के एक विशिष्ट प्रज्ञा-स्कन्ध महापुरुष थे। उन्होंने अपनी प्रतापपूर्ण प्रतिभा की तेजस्विता से जन-जन को आलोक प्रदान किया था। वे ज्ञानयोगी थे। जैनागम साहित्य के तलस्पर्शी अध्येता थे। उन्होंने आगम साहित्य का गहराई से मन्थन किया था और युगानुरूप आगमों पर सविस्तृत भाष्य लिखकर अपनी उत्कृष्ट मेधा का परिचय दिया है। आपके द्वारा लिखित भाष्य इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि आपका कितना गम्भीर अध्ययन था। आपने अध्ययन के साथ जो गहन चिन्तन और मनन किया था वह भी उसमें सहज रूप से प्रकट हुआ है। वेद, उपनिषद्, महाभारत, गीता, स्मृति और पुराण साहित्य का जो तुलनात्मक अध्ययन आपने विभिन्न ग्रन्थों में प्रस्तुत किया, वह आपके प्रकाण्ड पाण्डित्य को प्रदर्शित करता है। संस्कृत, प्राकृत, पालि जैसी प्राचीन भाषाओं पर आपका पूर्ण अधिकार था। आपने अपने जीवनकाल में शताधिक ग्रन्थों का लेखन और सम्पादन किया। आगमों के अतिरिक्त धर्म, दर्शन, संस्कृति, नीति प्रभृति विषयों पर अनेक ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है। आपकी श्रुत-सेवा अपूर्व थी। आप स्थानकवासी समाज के एक युगान्तरकारी समर्थ साहित्यकार थे। आपकी साहित्य सम्पत्ति पर समाज को सात्विक गर्व है। आप साहित्यकार थे, व्याख्याकार थे और सफल प्रवक्ता थे। आचार्य आत्माराम जी महाराज का जीवन सागर से भी अधिक गम्भीर था, हिमगिरि से भी अधिक उत्तुंग था और धरती से भी अधिक विशाल था। उनके जीवन का मूल्यांकन करना कठिन ही नहीं, कठिनतर है।

आपका जन्म पंजाब प्रान्त के जालन्धर जिले के अन्तर्गत राहों गाँव में हुआ। आपके पिता का नाम मनसाराम जी और मातेश्वरी का नाम परमेश्वरी था। वर्ण से आप क्षत्रिय थे। वि० सं० १९३९ के भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को आपका जन्म हुआ। बाल्यकाल में ही माता-पिता का साया आपके सिर से उठ गया था। वकील सोहनलाल जी के साथ एक दिन आप पूज्य

प्रवर श्री मोतीराम जी महाराज के दर्शन हेतु पहुंचे। पूज्यश्री के पावन उपदेश को श्रवण कर मन में वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई और वि० संवत् १९५१ आषाढ़ शुक्ला पञ्चमी को छत बनूड़ गांव में आपने दीक्षा ग्रहण की। आपके दीक्षागुरु शालिगराम जी महाराज और विद्यागुरु आचार्य मोतीराम जी महाराज थे। संवत् १९६९ में पूज्य श्री सोहनलाल जी महाराज ने अमृतसर में आपको उपाध्याय पद प्रदान किया। वि० सं० १९९१ में दिल्ली में आपको "जैन धर्म दिवाकर" की उपाधि प्रदान की गई। वि० सं० १९९३ में स्यालकोट में आपको "साहित्य रत्न" की उपाधि से सम्मानित किया गया। वि० सं० २००३ में पंजाब संघ ने आपको पंजाब प्रान्त का आचार्य पद प्रदान कर आचार्य बनाया। संवत् २००९ में स्थानकवासी जैन समाज का बृहद् साधु सम्मेलन सादड़ी में सम्पन्न हुआ। उस समय शारीरिक कारण से लुधियाना पंजाब में आप अवस्थित थे। पर आपकी प्रतिभा से प्रभावित होकर अनुपस्थिति होने पर भी आप एकमत से श्रमण संघ के आचार्य नियुक्त किये गये। आप दस वर्ष तक श्रमण संघ का कुशल नेतृत्व करते रहे। श्रमण संघ के आचार्य पद पर आसीन होकर भी अपने आपको संघ का सेवक मानते रहे। सत्ता का कभी भी आपके मन में अहंकार नहीं आया और न कभी भी उसका दुरुपयोग ही किया। आचार्यश्री प्रकृति से कठोर नहीं अपितु मधुर थे। आपने विशाल श्रमण संघ का संचालन बहुत ही कुशलता के साथ किया। एक बार जो भी व्यक्ति आपके परिचय में आ जाता वह सदा-सर्वदा के लिए आपका अनुयायी बन जाता था। यही कारण है कि संघ की आप पर अपूर्व निष्ठा थी। आप प्रतिभा, मेधा और शारीरिक सम्पन्नता से युक्त थे। अधिक मधुर व्यक्ति शासन संचालन नहीं कर पाता पर आपने कुशल शासन संचालन कर यह सिद्ध कर दिया कि आत्मीयतापूर्ण सद्व्यवहार से तन पर ही नहीं, मन पर भी शासन सम्भव है और वह शासन ही चिरस्थायी होता है।

आपश्री का सीधा-सादा रहन-सहन था, सीधा-सादा व्यवहार था और सीधा-सादा ही जीवन था। जो जादू की तरह जनमानस को लुभाता था।

आप बाह्य तप के साथ ही अन्तरंग तप पर अधिक बल देते थे। स्वाध्याय आपश्री को अधिक प्रिय था। आपके जीवन के अनमोल क्षण स्वाध्याय में व्यतीत होते थे। स्वाध्याय करते समय आप इतने अधिक तल्लीन हो जाते कि संसार में कहाँ पर क्या हो रहा है, वह आपको ध्यान ही नहीं रहता। आप फरमाते थे कि स्वाध्याय का आनन्द तो नन्दन-वन में

विचरण करने के सदृश है। स्वाध्याय के फलस्वरूप ही आप गम्भीर विषयों पर साधिकार लिख सके हैं। जैनागम न्याय संग्रह, जैनागमों में स्याद्वाद, जैनागमों में परमात्मवाद, जीव-कर्म संवाद, जैनागमों में अष्टांगयोग, विभक्ति संवाद, तत्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय, वीरत्थुई आदि आपकी महत्वपूर्ण और मौलिक कृतियाँ हैं और साथ ही आवश्यक सूत्र, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, उपासकदशांग, स्थानांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपातिक, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहद्कल्प, निरयावलिका, प्रश्नव्याकरण आदि पर जो आपने सविस्तृत व्याख्याएँ लिखी हैं—वे आपके गम्भीर अध्ययन की प्रतीक हैं। 'तत्त्वार्थ सूत्र—जैनागम समन्वय' तो आपकी अद्भुत कृति है। तत्त्वार्थ सूत्र के सूत्रों को ३२ आगमों के पाठों से तुलना कर आपने विद्वद् जगत् में एक अनूठा स्थान बना लिया। यह ग्रन्थ शोधार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी है।

आपश्री की दो मौलिक कृतियों का आपश्री के प्रपौत्र शिष्य श्री अमर मुनि जी तथा श्रीचन्दजी सुराना ने नवीन शैली से पुनः सम्पादन किया है।

(१) **जैन तत्त्व कलिका विकास**—आचार्यश्री की रचना का 'जैन तत्त्व कलिका' नाम से पुनः प्रकाशन हुआ है, इसमें जैन तत्त्व ज्ञान का प्रामाणिक विवेचन बड़ी ही सरल भाषा तथा रोचक शैली में प्रस्तुत हुआ है।

(२) **जैनागमों के अष्टांग योग**—आचार्यश्री की इस कृति को '**जैन योग : सिद्धान्त और साधना**' नाम से उक्त दोनों विद्वानों ने सम्पादन किया है। इसमें जैन योग का ऐतिहासिक, सैद्धान्तिक स्वरूप बताकर साधना पद्धति पर भी सुन्दर प्रकाश डाला गया है। तुलनात्मक दृष्टि से पौर्वात्य और पाश्चात्य योग का भी विवेचन किया गया है। साधकों-शोधकों के लिए ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

विक्रम संवत् २०१८ (सन् १९६१) माघ वदी नवमी को तीन माह तक कैंसर की भयंकर व्याधि को सहन कर समाधिपूर्वक आपका स्वर्गवास हुआ। आपश्री की संयमनिष्ठा, कष्टसहिष्णुता, गम्भीरता, दीर्घदर्शिता, सरलता, नम्रता आदि ऐसे सद्गुण थे जो कभी भुलाये नहीं जा सकते।

आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज के महान् व्यक्तित्व को शब्दों के संकीर्ण घेरे में निबद्ध करना कठिन ही नहीं, कठिनतर है। वह तो 'महतो महीयान' 'गरितो गरीयान' है, जो युग-युग तक प्रकाश दान करता रहेगा—भूले-भटके जीवन-राहियों को मार्गदर्शन देता रहेगा।

□

शतावधानी रत्नचंद जी महाराज

आपका जन्म वि० सं० १९३६ में भोरारा (कच्छ) में हुआ। लघुवय में ही आपका पाणिग्रहण हो चुका था। पत्नी के निधन के पश्चात् आपका दूसरा पाणिग्रहण होने की तैयारी हो रही थी तभी आपके मन में यह विचार लहलहाये कि जीवन अस्थिर है। जिस प्रकार पत्नी लघु वय में मुझे छोड़कर चल दी, इसी तरह मैं भी तो इस संसार को छोड़कर चला जाऊँगा। क्या मानव का जीवन कुकर और शूकर की तरह विषय-वासना के दलदल में फसने के लिए है ? इस जीवन का लक्ष्य महान है तो मुझे उस महानता की ओर बढ़ना है। अतः आपने आचार्य गुलाबचंद जी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आपकी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी। अतः आपने संस्कृत, प्राकृत प्राचीन भाषाओं का तलस्पर्शी अध्ययन किया। उन भाषाओं में आप धारा प्रवाह लिख भी सकते थे और प्रवचन भी कर सकते थे। अर्द्ध मागधी कोष तैयार कर आपने आगमों के अध्ययन के मार्ग को सरल और सुगम बना दिया। "जैन सिद्धान्त कौमुदी" आपकी महत्वपूर्ण रचना है। प्राकृत व्याकरण के अध्ययन के लिए वह बहुत ही उपयोगी है। 'कर्त्तव्य कौमुदी', 'भावना शतक' 'सृष्टिवाद और ईश्वर' प्रभृति रचनाएं आपकी मेधा की उपज हैं। अवधान की शक्ति आप में प्रेक्षणीय थी। आधुनिक अवधानों की अपेक्षा उनमें अधिक विशेषताएं और पाण्डित्य झलक रहा था।

आपकी प्रतिभा से प्रभावित होकर आपको "भारत रत्न भूषण" की उपाधि प्रदान की गई। घाटकोपर बम्बई में आपने स्थानकवासी समाज की उन्नति के लिए वीर सघ की योजना बनाई। आप आचार्य पद पर आसीन नहीं हुए पर आपका सम्मान विद्वद्जगत में आचार्य से भी अधिक था। बम्बई में सन् १९४० में आपके शरीर में भयंकर व्याधि उत्पन्न हुई। शल्य चिकित्सा भी की गई पर लाभ नहीं हुआ और असमय में ही आपका स्वर्गवास हो गया। आपके स्वर्गवास से एक प्रतिभासम्पन्न सन्त-रत्न की कमी हो गई। घाटकोपर बम्बई में कन्या हाई स्कूल, सुरेन्द्रनगर में ज्ञान मन्दिर और वाराणसी में श्री रत्न जैन पुस्तकालय आपके जीवन्त स्मारक हैं। □

आचार्यप्रवर श्री आनन्द ऋषि जी महाराज

दीप्तिमान निर्मल गेहुँआ वर्ण, दार्शनिक मुखमण्डल पर चमकती-दमकती हुई निश्छल स्मितरेखा, उत्फुल्ल नील कमल के समान मुस्कराती हुई स्नेह-स्निग्ध निर्मल आँखें, स्वर्ण-पत्र के समान दमकता हुआ सर्वतोभद्र भव्य ललाट, कर्मयोग की प्रतिमूर्ति के सदृश सुगठित शरीर, यह है हमारे परमाराध्य आचार्य प्रवर का बाह्य व्यक्तित्व। जिसे लोग राष्ट्र संत आचार्य आनन्द-ऋषि जी महाराज के नाम से जानते हैं, पहचानते हैं।

वे बाहर से जितने सुन्दर हैं, नयनाभिराम हैं, उससे भी अधिक अन्दर से मनोभिराम हैं। उनकी मञ्जुल मुखाकृति पर निष्कपट विचारकता की भव्य आभा झलकती है और उनकी उदार आंखों के भीतर से बालक के समान सरल सहज स्नेह सुधा छलकती है। जब भी देखिए, वार्तालाप में सरस शालीनता के दर्शन होते हैं। हृदय की उच्छल संवेदनशीलता एवं उदात्त उदारता दिखाई देती है जो दर्शक के मन और मस्तिष्क को एक साथ प्रभावित करती है और कुछ क्षणों में ही जीवन की महान दूरी को समाप्त कर सहज स्नेह सूत्र में बाँध देती है।

आपश्री का जन्म वि० सं० १९५७ श्रावण शुक्ला १, तदनुसार २६ जुलाई, सन् १९००) के शुभ दिन अहमदनगर के निकटवर्ती चिचोंडी ग्राम में हुआ। आपके पिताजी देवीचन्द जी एवं माताश्री हुलासबाई बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति के थे। तेरह वर्ष की सुकुमार वय में आपने पूज्य श्री रत्न ऋषिजी महाराज के चरणों में वि० सं० १९७० मार्गशीर्ष शुक्ला ९, रविवार को मिरीगांव में भागवती दीक्षा ग्रहण की।

आपश्री बाल्यकाल से ही बहुत प्रतिभाशाली, मेधावी, अध्ययनरुचि वाले तथा शांत प्रकृति के थे।

वि० सं० १९९९ माघ कृष्णा ६ को पाथर्डी में आप ऋषि संप्रदाय के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए तथा वि० सं० २००९ के ऐतिहासिक वर्ष में आपश्री श्री वर्धमान स्थानकवासी श्रमण संघ के प्रधानमंत्री एवं वि० सं० २०१९, माघकृष्णा ६, (३० जनवरी १९६३) को श्रमण संघ के द्वितीय आचार्य बने।

स्वर्णगरुड़

आचार्य प्रवर के सम्बन्ध में लिखने की भावना उमड़ी तो ऐसा अनुभव होने लगा कि कोई विहग शावक स्वर्णगरुड़ के विषय में अपना अनुभव व्यक्त करने को लालायित हुआ हो। आचार्य श्री विश्वरूपी आकाश के स्वर्णगरुड़ हैं। उनका निर्भीक साहस, उनकी पारदर्शक दृष्टि, उनका ज्वलंत त्याग आदि ऐसे गुण हैं जिनके कारण उनका समाज पर प्रभाव है और प्रतिष्ठा का उच्चतम स्थान है।

विशेषताओं का संगम

आचार्य प्रवर का जीवन अनेक विशेषताओं का संगम स्थल है। उनका आकर्षक व्यक्तित्व असाधारण है। उनके कमनीय कर्तृत्व ने उनके व्यक्तित्व को निखारा है। साधना के प्रथम चरण में ही उनकी प्रगति का अध्याय प्रारम्भ हुआ। प्रतिकूल परिस्थितियों ने उनकी प्रगति में बाधा बनने का प्रयास किया; किन्तु गंगा के निर्मल प्रवाह की तरह वे निर्बाध गति से आगे बढ़ते गये। वट वृक्ष की भाँति उनका व्यक्तित्व सदा विस्तार पाता गया। उनकी वरिष्ठ योग्यता का ही यह ज्वलन्त प्रमाण है कि वे सर्वप्रथम ऋषि-सम्प्रदाय के आचार्य बने, फिर पाँच सम्प्रदाय के प्रधानाचार्य बने, और फिर श्रमण संघ के प्रधान मन्त्री, उपाध्याय एवं आचार्य बने।

ओजस्वी आचार्य

आप श्रमण संघ के एक ओजस्वी और तेजस्वी आचार्य हैं। आपका जीवन एक सच्चे सन्त का जीवन है। जिस किसी ने आपको निकट से देखा है, उसके मन में आपके प्रति श्रद्धा और प्रेम बढ़ा है। आपश्री की प्रगाढ़ विद्वत्ता, अदम्य साहस, उत्तम कर्तव्यनिष्ठा, अद्वितीय अद्‌भुत त्याग, निस्सीम कर्मठता, स्नेह और संगठन की निर्मल भावना को देखकर कौन मुग्ध नहीं हुआ ? प्रलोभनों ने आपको कभी भी विचलित नहीं किया। सत्ता दासी होकर आई है। अधिकार प्राप्त करके भी आपश्री उसी प्रकार निर्लेप हैं जैसे जल में कमल।

आत्मविश्वास के धनी

आत्मविश्वास अचिन्त्य शक्ति का अक्षय कोष है। उसमें अमंगल को

मंगल के रूप में परिणत कर देने की अद्भुत क्षमता है। महान् वह बनता है जो आत्मविश्वास का धनी होता है। श्रद्धेय आचार्यश्री का आत्मविश्वास गजब का है। शरीर अनेक व्याधियों से ग्रसित है। भारत के मूर्धन्य चिकित्सकों की राय है, आप विहार न करें; विशेष शारीरिक श्रम न करें, पर आपश्री ने अपने आत्मविश्वास के बल पर जन-जन के मन में त्याग-निष्ठा, सयम-प्रतिष्ठा और शुद्ध जैनत्व का सन्देश देने के लिए हजारों मील की यात्रा की है। चिकित्सक आपश्री के आत्म-विश्वास को देखकर चकित हैं। आपकी सहिष्णुता बेजोड़ है। दीन मनोभावों को आपने कभी आदर नहीं दिया है।

कठोरता और कोमलता का समन्वय

जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए कठोरता और कोमलता ये दोनों तत्त्व अपेक्षित हैं, अनिवार्य हैं। केवल कठोरता विकास के मार्ग में बाधक है और केवल कोमलता भी उसका सम्बल नहीं हो सकती, मात्रा के औचित्य से ही दोनों की फलवत्ता है।

आचार्यश्री के जीवन की आलोचना करते हुए कुछ आलोचक कहा करते हैं कि आचार्यश्री आवश्यकता से अधिक कोमल हैं, वे किसी पर भी अनुशासन नहीं कर सकते, आनन्द के शासन में जितना आनन्द लूटना चाहो लूट लो। पर सत्य तथ्य यह है कि उनके जीवन में कठोरता और कोमलता का मधुर समन्वय है। उनका मानस जहाँ अनुशासन के क्षेत्र में वज्र से भी अधिक कठोर है तो श्रद्धान्वित चेता के लिए कुसुम से भी अधिक सुकुमार है।

कोमलता को जो लोग उनका दूषण मानते हैं वे भूल-भरे हैं। कोमलता उनका दूषण नहीं अपितु भूषण है।

वात्सल्य और अनुशासन

आचार्य संघ के शास्ता होते हैं। प्रशासन उनका कार्य है। हजारों श्रमण और श्रमणियों को तथा लाखों श्रावक और श्राविकाओं को उन्हें मार्गदर्शन देना होता है। उनका प्रशासक भाव जिस समय वात्सल्य से भावित होकर संघ के सदस्यों को अपने कर्त्तव्यों की ओर अग्रसर होने के लिए उत्प्रेरित करता है, उस समय अनुशासन, अनुशासन न रहकर आत्मधर्म बन जाता है। उसमें सहजता और आत्मीयता आ जाती है। वह अनुशासन बाहर से थोपा हुआ नहीं, अपितु आत्मगत होता है। श्रद्धेय आचार्यश्री इस प्रकार के प्रयोग सदैव करते रहते हैं। उन्होंने संघीय अनुशासन को हमेशा प्रधानता दी है। अनुशासन का उल्लंघन करना उन्हें बहुत ही अखरता है और वे

अनुशासनात्मक कार्यवाही भी करते हैं। उसके पश्चात् उनका हृदय वात्सल्य से छलछलाने लगता है, जिससे उनका कठोर अनुशासन भी किसी को कठोर प्रतीत नहीं होता।

विवादों से दूर

आचार्यश्री को वाद-विवाद पसन्द नहीं है। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि वाद-विवाद से तत्त्वबोध नहीं अपितु कषाय की अभिवृद्धि होती है। यह शक्ति का अपव्यय है। निरर्थक शक्ति का दुरुपयोग करना बुद्धिमानी नहीं है। मुझे स्मरण है कि अजमेर शिखर सम्मेलन के अवसर पर एक व्यक्ति आपश्री के पास आया और बोला—मैं आपसे शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ।

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए पूछा—किसलिए ?

उसने कहा—मैं आपको पराजित कर यह उद्घोषणा करूँगा कि श्रमण संघ के आचार्य मेरे जैसे से हार गये।

आचार्यश्री ने उसी प्रकार मुस्कराते हुए पूछा—उससे तुम्हें क्या लाभ होगा ?

उसने कहा—इससे मेरा सम्पूर्ण समाज में यश फैलेगा।

आचार्यश्री ने कहा—तो फिर तुम यह मान लो, मैं हारा और तुम जीते।

आगन्तुक आचार्यश्री के चरणों में गिर पड़ा और कहने लगा कि आप श्री ने तो बिना शास्त्रार्थ किये ही मुझे पराजित कर दिया।

ध्यानी और स्वाध्यायी

जैन-संस्कृति तपोमूलक रही है। यदि यह कह दिया जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी कि मुहम्मद ने अपने भक्तों को नमाज प्रदान की, ईसा ने प्रार्थना दी, बुद्ध ने ध्यानमार्ग का उपदेश दिया, पतञ्जलि ने योग पर प्रकाश डाला तो भगवान महावीर ने तपोमार्ग का सन्देश दिया। भगवान महावीर ने स्वयं उग्र तप की साधना की और अपने अनुयायी वर्ग को भी उस पर बढ़ने के लिए उत्प्रेरित किया। तप के द्वादश प्रकार में स्वाध्याय और ध्यान का भी स्थान है।

मैंने आचार्य प्रवर के जीवन को गहराई से देखा है। मुझे अनुभव हुआ है कि आचार्य प्रवर के जीवन में ध्यान और स्वाध्याय साकार हो उठे हैं। रात्रि के एकान्त शान्त क्षणों में जब सभी सोये हुए होते हैं तब आपश्री ध्यान में तल्लीन होते हैं। मैंने आपश्री के चरणों में जिज्ञासा प्रस्तुत की तो

बताया कि ध्यान आत्मा की एक महान शक्ति है, ध्यान के अभाव में ध्येय की पूर्ति कदापि सम्भव नहीं है। ध्याता ध्यान से ध्येयरूप बन जाता है। ध्यान चेतना की वह निर्मल अवस्था है, जहाँ सम्पूर्ण अनुभूतियाँ एक ही अनुभूति में विलीन हो जाती हैं, विचारों में सामंजस्य आ जाता है, परिक्रियाँ समाप्त हो जाती हैं। जीवन और स्वतन्त्रता की प्रस्तुत अनुभूति में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता।

इस कथन से सहज ही परिज्ञात होता है कि आपश्री की ध्यान के प्रति कितनी गहरी निष्ठा है।

ध्यान के समान स्वाध्याय भी आपश्री के जीवन का आवश्यक अंग है। आपश्री ने आगम, त्रिपिटक और वैदिक साहित्य का गहराई से अनुशीलन और परिशीलन किया है। हजारों गाथाएँ, श्लोक, अभंग, सूक्तियां, स्तोत्र आपश्री को कण्ठस्थ हैं। आपश्री स्वाध्याय करने में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि उस समय आपश्री को कुछ भी ध्यान नहीं रहता। आहार आने पर आपश्री आहार करने के लिए नहीं बैठते पर पहले स्वाध्याय और ध्यान करते हैं। आपश्री फरमाते हैं कि पहले भजन और फिर भोजन।

जीवन और शिक्षा

जीवन का शिक्षा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीवन शरीर है तो शिक्षा उसका प्राण है। शिक्षा के अभाव में जीवन का कुछ भी मूल्य नहीं है। शिक्षा से ही जीवन में अभिनव चमक और दमक आती है। आचार्यश्री समय-समय पर शिक्षा पर बल देते हैं। आपश्री ने प्रबल प्रेरणा देकर शताधिक स्थानों पर पाठशालाएँ और स्कूल व छात्रावास खुलवाये हैं। श्री तिलोक रत्न स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड आपश्री की ही कल्पना का मूर्त रूप है, जिसमें भारत के एक छोर से द्वितीय छोर तक हजारों विद्यार्थी, सन्त व सतीगण बैठती हैं, प्रवेशिका से लेकर आचार्य तक अध्ययन होता है।

आपश्री का अभिमत है कि जीवन को संस्कारी, विचारी और आचारी बनाने के लिए शिक्षा से बढ़कर अन्य कोई उपाय नहीं है। आज स्वतन्त्र भारत के समक्ष दो समस्याएँ हैं—शिक्षा और रक्षा। रक्षा की समस्या का समाधान तो दस बीस लाख सैनिक कर सकते हैं पर अज्ञानान्धकार को मिटाने के लिए सभी को शिक्षित बनना आवश्यक है। शिक्षा केवल व्यावहारिक ही नहीं अपितु आध्यात्मिक भी होनी चाहिए। सदाचार और निर्मल जीवन ही सच्ची शिक्षा का आधार है।

प्राकृत भाषा के प्रेमी

आज पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध में मानव अपनी संस्कृति, सभ्यता और भाषा को भूलता चला जा रहा है। यही कारण है कि वह प्राचीन महापुरुषों की मौलिक विचार-निधि से वंचित हो रहा है और असहाय की भाँति इधर-उधर भटक रहा है। आपश्री का मत है कि संस्कृति की आत्मा साहित्य के भीतर से अपने असीम सौन्दर्य को अभिव्यक्त करती है। साहित्य सामाजिक भावना, क्रान्तिकारी विचार एवं जीवन के विभिन्न उत्थान और पतन की विशुद्ध अभिव्यजना है। वह समाज के यथार्थ स्वरूप को अवगत कराने वाला दर्पण है और संस्कृति का प्रधान वाहन है। वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक 'सत्यं, शिवं और सुन्दरम्' को व्यक्त करता है और गहन समस्याओं का समाधान करता है। प्राकृत साहित्य भारत की अनमोल निधि है। उसमें आध्यात्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभृति जीवन की समस्त भावनाएँ अभिव्यंजित हुई हैं। भगवान महावीर एवं तथागत बुद्ध ने इसी भाषा में उपदेश प्रदान किया है। सम्राट अशोक ने शिला-लेख और स्तम्भ-लेखों को इसी भाषा में उत्कीर्ण कराया है। खारवेल का हाथी गुफा लेख भी प्राकृत में ही है। हजारों ग्रन्थ इस भाषा में निर्मित हैं, इसलिये इस भाषा का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य होना चाहिए। आपश्री ने शताधिक व्यक्तियों को इस भाषा का गम्भीर अध्ययन करने के लिए प्रेरणा प्रदान की है।

संगठन के प्रबल समर्थक

आचार्यश्री जीवन के अरुणोदय से ही संगठन के प्रबल समर्थक रहे हैं। आपश्री के स्पष्ट विचार रहे हैं कि 'संगठन जीवन है और विघटन मृत्यु है'। जैन समाज की बिखरी हुई शक्तियों को देखकर आपश्री के मन में अपार वेदना होती है और हृदय की वेदना वाणी के द्वारा अनेक बार मुखरित हुई है। मैंने स्वयं देखा है—सादड़ी, सोजत, अजमेर व साण्डेराव सन्त सम्मेलनों में आपश्री ने जो मानसिक व बौद्धिक श्रम किया है, वह किसी से भी छिपा नहीं है। इस समय भी आप सम्पूर्ण जैन समाज की एकता के लिए अथक परिश्रम कर रहे हैं।

वाणी के जादूगर

बोलना एक कला है और कलाओं में उसका प्रथम स्थान है। आचार्यश्री की वाणी में जादू है जो श्रोताओं के दिल को भी लुभा लेती है, मन को मोह लेती है। आपश्री की जादू भरी वाणी से साधारण व्यक्ति ही

नहीं किन्तु देश के चोटी के विद्वान और नेतागण भी प्रभावित हुए हैं। आपकी वाणी में मृदुता, मधुरता और सहज सुन्दरता है। भावों की लड़ी, भाषा की झड़ी और तर्कों की कड़ी का ऐसा मधुर समन्वय होता है कि श्रोता झूम उठता है। आपका प्रवचन मधुर ही नहीं, अति मधुर होता है। आपश्री के प्रवचन की तुलना महात्मा गांधी के प्रवचन से सहज रूप से कर सकते हैं।

बहुभाषाविद्

भाषा की दृष्टि से आचार्यश्री का परिज्ञान बहुविध और बहुव्यापी है। संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं पर उनका पूर्ण अधिकार है। हिन्दी, गुजराती, मराठी और राजस्थानी भाषा में धाराप्रवाह प्रवचन कर सकते हैं, लिख सकते हैं। मराठी आपश्री की मातृभाषा है। सन्त तुकाराम के अभंगों को और अन्य मराठी सन्तों के भजनों को आप बड़ी तन्मयता के साथ गाते हैं।

महापुरुष

त्याग और मनस्विता, आदर्श चिन्तन और पुरुषार्थमय जीवन, उदार वृत्ति और सत्य पर दृढ़ रहने का आग्रह, प्रेम-पेशल हृदय और निर्भय कर्तव्य-निष्ठा, सबके प्रति आदर भाव और सप्रयोजन विरोध करने की क्षमता, विनम्रता और सैद्धान्तिक अकड़ एक साथ नहीं रह पाती। जहाँ रहती है वह मानव नहीं, महामानव है। आचार्यश्री के जीवन में इनका अद्भुत मिलन हुआ है, इसलिए वे साधारण पुरुष नहीं, महापुरुष हैं।

मंगल कामना

आचार्य प्रवर सुदीर्घकाल तक स्वस्थ और प्रसन्न रहकर हम सभी का कुशल नेतृत्व करते रहें। समाज को ज्ञान, दर्शन और चारित्र की दृष्टि से निरन्तर आगे बढ़ाते रहें। मैं अपनी असीम श्रद्धा के साथ शत-शत मंगल कामनाएँ अर्पित करता हुआ गौरव का अनुभव करता हूं।

□

आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज

आपका जन्म विक्रम संवत् १९६७ पौष शुक्ला चतुर्दशी को पीपाड़ में हुआ। आपके पूज्य पिता का नाम केवलचन्द जी और माता का नाम रूपादेवी था। आपने दस वर्ष की लघु वय में पूज्य श्री सोभाचन्द जी महाराज के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आपने संस्कृत-प्राकृत भाषाओं के अध्ययन के साथ ही आगम, दर्शन, धर्म आदि का तलस्पर्शी अनुशीलन किया। लघु वय में ही आपकी संयम-साधना के प्रति गहरी निष्ठा को निहार कर पूज्य रतनचन्द जी महाराज के सम्प्रदाय के आप आचार्य नियुक्त किये गये। उस समय आपकी उम्र केवल बीस वर्ष की थी। आपने कुशलता के साथ 'रत्न संघ' का सञ्चालन किया। सादड़ी सन्त सम्मेलन में आपने संघ एकता हेतु आचार्य पद का त्याग किया। श्रमण संघ ने आपको साहित्य शिक्षण मंत्री, सहमंत्री और उपाध्याय पद प्रदान किया। श्रमण संघ के साथ विचार-भेद होने पर आप श्रमण संघ को छोड़कर पुनः आपने भूतपूर्व सम्प्रदाय में चले गये। इस समय आप रत्न गच्छ के एक तेजस्वी आचार्य हैं।

आपने दशवैकालिक, नन्दी, प्रश्नव्याकरण, बृहद्कल्प आदि अनेक आगमों का अनुवाद और सम्पादन भी किया है। जैन-धर्म का मौलिक इतिहास तीन भागों में प्रकाशित हो चुका है। जिसमें आपकी शोधपरक दृष्टि, गम्भीर पांडित्य झलक रहा है। आपके अनेक प्रवचन संग्रह प्रकाशित हुए हैं। गजेन्द्र मुक्तावली, आध्यात्मिक साधना, आध्यात्मिक आलोक, प्रार्थना प्रवचन, गजेन्द्र व्याख्यानमाला आदि विविध पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

आप एक इतिहासज्ञ, शोधार्थी, मूर्धन्य विद्वान हैं। आप प्राचीन परम्परा के एक प्रतिनिधि सन्त हैं। आपकी आचारनिष्ठा प्रशंसनीय है। समाज को आपसे बहुत आशायें हैं। □

युवाचार्य मधुकर मुनि जी

आपका जन्म जोधपुर जिले के अन्तर्गत तिवरी ग्राम में संवत् १९७० मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को हुआ। आपके पिताश्री का नाम जमनालाल जी और मातुश्री का नाम तुलसीबाई था। जब बालक मधुकर बाल्यावस्था में ही था तभी पूज्य पिता की छत्रछाया सदा के लिए उठ गई। माता तुलसीबाई ने साहस के साथ बालक का लालन-पालन किया। बालक के मन में वैराग्य भावना उद्बुद्ध हुई और उसने जोरावरमल जी म० के पास दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षा के बाद शिक्षा प्रारम्भ हुई। आपने व्याकरण, कोष, काव्य, छन्दशास्त्र, अलंकार शास्त्र, न्यायशास्त्र आदि अनेक विषयों का सांगोपांग अध्ययन किया तथा जैन तत्त्वज्ञान और जैनागम साहित्य का परिशीलन किया।

जीवन के उषाकाल से ही आपकी संगठन के प्रति निष्ठा रही। विक्रम संवत् १९९० में अजमेर में स्थानकवासी परम्परा के साधु साध्वियों का अखिल भारतवर्षीय सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन में आप युवा थे। आपने अपनी कर्मठ कार्यशक्ति का परिचय दिया। उसके पश्चात् आपने जयगच्छ को एकता के सूत्र में पिरोया और आप उसके मनोनीत आचार्य हुए। सादड़ी, भीनासर और अजमेर सम्मेलन में भी आप सक्रिय संगठन पुरोधा रहे। विक्रम संवत् २०३६ में आपकी संगठननिष्ठा, प्रकाण्ड पाण्डित्य को निहार कर आचार्य सम्राट आनन्द ऋषिजी महाराज ने आपको अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।

आप जन्मजात कवित्व संस्कार के धनी थे। आपकी कवित्व प्रतिभा, संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी भाषा के माध्यम से विविध रूपों में प्रस्फुटित हुई है। कभी-कभी आप प्राकृत भाषा में भी रचना करते थे। आपने अपने ज्येष्ठ गुरुभ्राता मुनि हजारीमल जी महाराज के नाम से एक विराट्काय स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित करवाया। आपके लिखे हुए पांच उपन्यास तथा जैन कथामाला के ५१ भाग प्रकाशित हुए हैं। आपके निबन्धों की लघु पुस्तिकाएँ

सुगम साहित्य माला के अन्तर्गत प्रकाशित हुई हैं और प्रवचन साहित्य के रूप में अन्तर की ओर, साधना के सूत्र, पर्युषण पर्व प्रवचन, आदि प्रमुख कृतियां हैं।

आगम के प्रति आपकी अगाध श्रद्धा थी। आपने अपने गुरु श्री जोरावर मलजी महाराज की पुण्य स्मृति में आगम बत्तीसी के प्रकाशन का महनीय कार्य हाथ में लिया और आपके प्रधान सम्पादकत्व में २०-२१ आगम प्रकाशित हो चुके हैं, जिनकी विज्ञों ने सर्वत्र प्रशंसा की है।

युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी स्वभाव से बहुत ही सरल, विनम्र थे। उनकी वाणी सदा ही मधुर और शिष्टजनोचित रही। श्रमण संघ की एकता को सुदृढ़ बनाने हेतु आपश्री ने अन्त तक अथक परिश्रम किया।

२६ नवम्बर १९८३ को आपका नासिक में असामयिक स्वर्गवास हो गया। आपके स्वर्गवास से जैन समाज हतप्रभ सा रह गया। आपके प्रति समाज में आश्चर्यजनक श्रद्धा और सद्भावनाएँ थीं।

□

दिगम्बर आचार्य परम्परा—

आचार्य कुन्दकुन्द

आचार्य कुन्दकुन्द अध्यात्म जगत् के एक दिव्य नक्षत्र थे। आपका जन्म कर्नाटक के कोंडकुंड ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम करमण्डू और माता का नाम श्रीमती था। बोधप्राभृत ग्रन्थ के अनुसार आपके गुरु का नाम श्रुतकेवली भद्रबाहु था।[1] पर कितने ही विज्ञों का यह अभिमत है कि भद्रबाहु आपके साक्षात् गुरु नहीं थे।[2] कन्नड़ भाषा में आचार्य कुन्दकुन्द का नाम कोंडकुंड है। कोंडकुंड का ही संस्कृत रूप कुन्दकुन्द प्रतीत होता है। पद्मनन्दी, वक्रग्रीव, गृद्धपिच्छ और एलाचार्य—ये आपके अपर नाम थे। आपका सबसे पहला नाम पद्मनन्दी था। निरन्तर अध्ययन में ग्रीवा झुकी होने के कारण आप वक्रग्रीव कहलाये। एक बार गृद्धपिच्छी धारण करने से गृद्धपिच्छ के नाम से भी आप विश्रुत हुए। पट्टावलियों के अनुसार आपने आठ वर्ष की अवस्था में श्रमण दीक्षा ली और ८४ वर्ष की आयु तक जीवित रहे।

आचार्य कुन्दकुन्द अध्यात्म के विशिष्ट व्याख्याकार रहे हैं। उनकी अनुभूतिपरक विमल वाणी ने अध्यात्म को नए परिवेश में प्रस्तुत किया। उन्होंने आगमिक परिभाषाएँ निश्चय नय को केन्द्र मानकर कीं। उनका यह स्पष्ट अभिमत था कि जो भी क्रियाएं की जायँ वे भावयुक्त होनी चाहिए। भावरहित द्रव्यक्रियाएँ सिद्धि प्रदान नहीं कर सकतीं। उन्होंने दंसणपाहुड, चारित्तपाहुड, सुत्त पाहुड, बोध पाहुड, मोक्ख पाहुड, लिङ्ग पाहुड, सील पाहुड आदि पाहुडों की रचना की। उनके द्वारा रचित ८४ पाहुड माने जाते हैं। पर वर्तमान में वे सभी पाहुड उपलब्ध नहीं हैं। पाहुडों की भाषा शौरसेनी प्राकृत है। इन पाहुडों में दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रभृति विषयों पर निश्चयनय की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया है।

समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, यह ग्रन्थत्रयी आचार्य कुन्दकुन्द की श्रेष्ठतम रचना है। इन ग्रन्थों की रचना जैन शौरसेनी प्राकृत भाषा में

---

१ बोधपाहुड गाथा ६१,६२

२ बोधपाहुड, श्रुतसागरीय संस्कृत टीका।

हुई है। समयसार में जीवादि नव तत्त्वों का सुन्दर विवेचन है। रत्नत्रयी की आराधना पर बल दिया गया है। प्रवचनसार में जिनवाणी का सार प्रस्तुत किया गया है, तो नियमसार में शाश्वत सुख और शान्ति के लिए विविध नियमों के पालन पर बल दिया गया है। इस रत्नत्रयी का दिगम्बर परम्परा में वही महत्त्व है जैसा महत्त्व वैदिक परम्परा में उपनिषद्, ब्राह्मण सूत्र और गीता का है। पंचास्तिकाय, आचार्य कुन्दकुन्द की एक श्रेष्ठ रचना है, जिसमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, जीव और पुद्गल की सुस्पष्ट और सुसम्बद्ध व्याख्या की गई है। सप्त भंगी का निरूपण भी इसमें हुआ है। दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द को कलिकाल सर्वज्ञ माना है और उनके द्वारा रचित ग्रन्थों को गणधर द्वारा रचित अंग-साहित्य की भांति प्रमाणभूत भी माना है।

आचार्य कुन्दकुन्द प्राकृत शौरसेनी भाषा के ही नहीं, तमिल भाषा के भी एक अधिकारी विद्वान थे। उनके द्वारा रचित तिरुकुरल तमिल भाषा की की एक श्रेष्ठतम कृति है। हम पूर्व लिख चुके हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द के कई नाम थे, उनमें एक नाम एलाचार्य भी था। प्रस्तुत कृति एलाचार्य के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य कुन्दकुन्द ने दर्शन को अध्यात्म के सांचे में ढाल कर प्रस्तुत किया है। उन्होंने दर्शन के युग में जन्म लेकर दर्शन को अध्यात्म की ओर मोड़कर भागीरथी का कार्य किया है। आचार्य कुन्दकुन्द का विचरण मुख्य रूप में कर्नाटक में रहा। वे पहाड़ों पर और उनकी गुफाओं में ध्यान आदि किया करते थे। नन्दी पर्वत की गुफाओं में तो वे लम्बे समय तक रहे हैं। यों उन्होंने भारत के विविध अंचलों में भी विहार किया था। ऐसी भी जनश्रुति है कि उन्हें महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी से विशिष्ट ज्ञान की उपलब्धि हुई थी। डॉ० ज्योतिप्रसाद का अभिमत है कि आचार्य कुन्दकुन्द का समय ईस्वी पूर्व ८ से ४४ है और विक्रम संवत् ४८ से १०१ तक उनकी अवस्थिति थी। डॉ० ए० एन० उपाध्याय ने प्रवचनसार की प्रस्तावना में, श्री जुगलकिशोर मुख्त्यार ने समन्तभद्र की प्रस्तावना में, डा० ए० चक्रवर्ती ने पञ्चास्तिकाय की प्रस्तावना में और पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री ने कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह में उनके समय के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चाएँ की हैं। विशेष जिज्ञासु उन ग्रन्थों को देख सकते हैं। पर सामान्य मत यही है कि वे इस्वी सन् की प्रथम या द्वितीय शताब्दी हुए है। □

आचार्य अर्हद्वलि

दिगम्बर परम्परा के ज्योतिर्धर आचार्यों में आचार्य अर्हद्बलि का नाम भी गौरव के साथ लिया जाता है। वे मूलसंघ के नायक थे, और अंग साहित्य के एक देश के ज्ञाता थे तथा उन्हें पूर्व साहित्य का भी कुछ परिज्ञान था। उनका अपर नाम गुप्तिगुप्त था। पुष्पदन्त और भूतबलि ये दोनों मूर्धन्य मनीषी—आपके ही शिष्यरत्न थे। गृहस्थाश्रम में पुष्पदन्त श्रेष्ठिपुत्र थे तो भूतबलि सौराष्ट्र के 'नहपात' नामक राजा थे। गौतमिपुत्र और सातकर्णि से पराजित होकर उन्होंने अर्हद्बलि के पास श्रामणी-दीक्षा ग्रहण की थी।

एक बार आन्ध्र प्रदेश में वेणानदी के किनारे पर बसी हुई महिमा नामक महानगरी में दिगम्बर जन श्रमणों का सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में दिगम्बर जैन संघ की अतरंग और बहिरंग स्थिति पर गहराई से चिन्तन हुआ। उस समय मूल संघ में अनेक तपस्वी, विद्वान, ज्ञानी, ध्यानी अध्ययन और अध्यापनरत श्रमण थे। अर्हद्बलि ने मूल संघ को नन्दी, देव, सिंह, भद्र, वीर, अपराजित, पंचस्तूप, गुणधर प्रभृति विभिन्न उपसंघों में विभक्त कर एक अभिनव संघ व्यवस्था का सूत्रपात किया। इस सूत्रपात का मूल उद्देश्य था—परस्पर में स्नेह की अभिवृद्धि हो और संघ की प्रभावना हो। इस सम्मेलन की अध्यक्षता आचार्य अर्हद्बलि ने की। आचार्य अर्हद्बलि ने पुण्ड्रवर्द्धन नगर में जन्म लेकर श्रमण धर्म स्वीकार किया और युगपुरुष बने। सुयोग्य शिष्यों के कारण गुरु का नाम इतिहास के पृष्ठों पर चमक उठा। उनका समय विज्ञों ने वीर निर्वाण ५६५ विक्रम ६५ के आस-पास स्वीकार किया है।

□□

आचार्य धरसेन

आचार्य धरसेन दिगम्बर परम्परा के एक विशिष्ट आचार्य थे। वे आगम साहित्य के मर्मज्ञ विज्ञ थे, और साथ ही अष्टांग निमित्त के भी विशिष्ट ज्ञाता थे। उनके माता-पिता और जन्मस्थली के सम्बन्ध में ऐतिहासिक पृष्ठ मौन हैं। वे सौराष्ट्र के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में प्रायः रहते थे। वे द्वितीय पूर्व के आंशिक ज्ञाता भी थे। उन्होंने एक बार श्रुतज्ञान की सुरक्षा के लिए दक्षिणांचल में विचरण करने वाले आचार्य महासेन प्रभृति प्रमुख श्रमणों को पत्र लिखा था और उस पत्र में उन्होंने यह सूचित किया था कि आप ऐसे मेधावी सन्तों को मेरे पास प्रेषित करें जो श्रुतज्ञान को धारण कर सकें। धरसेन के पत्र पर श्रमणों ने गम्भीरता से चिन्तन किया। उन्होंने 'सुबुद्धि' और 'नरवाहन' नामक दो श्रमणों को जो आगम के रहस्यों को जानने में समर्थ थे, विनयवान, शीलवान, जाति और कुल सम्पन्न थे, उन्हें प्रेषित किया। जब वे दोनों श्रमण वेणानदी के किनारे से धरसेन आचार्य के पास जाने के लिए प्रस्थित हुए, उस समय पश्चिम निशा में आचार्य धरसेन ने एक स्वप्न देखा—दो श्वेत कर्ण वाले बैल उनके पास आये हैं और वे उनकी प्रदक्षिणा कर उनके चरणों में बैठ गये हैं। इस स्वप्न को निहार कर आचार्य को बहुत ही प्रसन्नता हुई। जब वे दोनों श्रमण आचार्य के पास पहुंचे तो आचार्य प्रवर ने उनकी परीक्षा ली। दोनों मुनि परीक्षा में समुत्तीर्ण हुए। शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभ दिन में अध्ययन कार्य प्रारम्भ किया गया। दोनों युगल मुनियों ने विनयपूर्वक श्रुत उपासना प्रारम्भ की। अध्ययन का प्रारम्भ द्रुत गति से चलता रहा। आषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन पूर्वाह्न में अध्ययन सम्पन्न हुआ। धरसेन आचार्य ने सुबुद्धि मुनि का नाम भूतबलि और मुनि नरवाहन का नाम मुनि पुष्पदन्त रखा।

आचार्य धरसेन ने निमित्त ज्ञान से देखा—मेरा अन्तिम समय सन्निकट है। मेरे स्वर्गवास से भूतबलि और पुष्पदन्त मुनि को हार्दिक आघात लगेगा। अतः दोनों मुनियों को श्रुत की महान उपसम्पदा प्रदान कर उन्हें वहाँ से

प्रस्थान करा दिया। आचार्य धरसेन की दीर्घदर्शिता से ही दिगम्बर परम्परा का आगम साहित्य सुरक्षित रह सका। आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्त ने षट्खण्डागम की महत्त्वपूर्ण रचना की। दिगम्बर विद्वान इस ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रम की प्रथम शताब्दी मानते हैं। यह ग्रन्थ छह खण्डों में विभक्त होने से षट्खण्डागम के नाम से विश्रुत है। वे छह खण्ड इस प्रकार हैं—जीवस्थान, क्षुद्रकबन्ध, बन्धस्वामित्व विचय, वेदना, वर्गणा, और महाबन्ध। इनमें से प्रथम खण्ड जीवस्थान के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त हैं और अवशेष ग्रन्थ के रचयिता आचार्य भूतबलि हैं। दिगम्बर परम्परा का अभिमत है कि दृष्टिवाद का कुछ अंश षटखण्डागम के रूप में आज भी विद्यमान है। षटखण्डागम जैन साहित्य की अमूल्य निधि है। और उस निधि के निर्माण में आचार्य धरसेन की दूरदर्शिता स्पष्ट रूप से झलक रही है।

□□

आचार्य गुणधर

आचार्य गुणधर का नाम दिगम्बर परम्परा के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। उन्होंने प्राकृत भाषा में कषाय प्राभृत ग्रन्थ की रचना की। षट्खण्डागम की तरह यह ग्रन्थरत्न भी विज्ञों के हृदय का हार है। इसके रचयिता गुणधर आचार्य धरसेन के समकालीन थे। ये भी उन्हीं की तरह पूर्वांशों के ज्ञाता थे। उन्होंने ज्ञानप्रवाद नामक पञ्चम पूर्व की दसवीं वस्तु के अधिकारान्तर्गत तृतीय पेज्जदोस पाहुड के आधार से कषाय पाहुड की रचना की। यह ग्रन्थ सूत्र रूप गागाओं में निमित है। समस्त गाथाओं की संख्या २३३ है, जिसमें मूल गाथा १८० हैं और भाष्य गाथा ५३ हैं। ये गाथाएं बहुत ही क्लिष्ट व अपने आप में अर्थगांभीर्य को लिए हुए हैं। षट्खण्डागम में आठों ही कर्मों का विस्तार से विवेचन है तो प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल मोह-नीय कर्म पर ही विचार से चिन्तन किया गया है। इसमें पेज्जदोसविभक्ति, स्थिति विभक्ति, अनुभाग विभक्ति, प्रदेश विभक्ति, क्षीणाक्षीणस्थित्यन्तिक, बन्धक-अधिकार, वेदक अधिकार, उपयोग अधिकार, चतुःस्थान अधिकार, व्यञ्जन अधिकार, दर्शनमोहोपशमना अधिकार, दर्शनमोहक्षपणा अधिकार संयमासंयम लब्धि अधिकार, संयम लब्धि अधिकार, चारित्र मोहोपशमना, चारित्रमोहक्षपणा आदि पन्द्रह अधिकार हैं। इनमें प्रारंभ के आठ अधिकारों में संसार के कारणभूत मोहनीय कर्म की और अन्तिम सात अधिकारों में आत्म-परिणामों के विकास से शिथिल होते हुए मोहनीय कर्म की विविध दशाओं का वर्णन है।

इस ग्रन्थ पर विक्रम की छठी शताब्दी में होने वाले आचार्य यति वृषभ ने ६००० श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र और आचार्य वीरसेन और जिनसेन ने ६०००० श्लोक प्रमाण जयधवला नामक टीका रची।

आपका समय वीर निर्वाण की ६वीं और विक्रम की प्रथम-द्वितीय शताब्दी है।

□□

आचार्य पुष्पदन्त और आचार्य भूतबलि

पुष्पदन्त और भूतबलि महान् मेधावी आचार्य थे। उन्होंने आचार्य धरसेन के ज्ञान को ग्रहण कर अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा का परिचय दिया था। आचार्य धरसेन से आज्ञा लेकर उन्होंने प्रस्थान किया। वर्षावास आ जाने से दोनों ने ही अङ्कुलेश्वर में संयुक्त वर्षावास बिताया। वर्षावास सम्पन्न होने पर पुष्पदन्त ने साधना के लिए वन की ओर प्रस्थान किया और भूतबलि ने द्रमिल देश की ओर। आचार्य पुष्पदन्त ने कुछ समय के बाद जिनपालित नामक एक व्यक्ति को दीक्षित किया। जिनपालित विशिष्ट योगी था।

षटखण्डागम आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि की एक विशिष्ट रचना है। आचार्य पुष्पदन्त ने सत्प्ररूपणा के १७७ सूत्रों का निर्माण किया और वे सूत्र उन्होंने अपने शिष्य जिनपालित को देकर आचार्य भूतबलि के पास प्रेषित किया। जिनपालित ने आचार्य पुष्पदन्त का संदेश देते हुए कहा कि 'मेरे जीवन का संध्याकाल है अतः अवशिष्ट ग्रन्थ आप पूर्ण करें।' भूतबलि ने ग्रन्थ को सम्पन्न करने का उत्तरदायित्व लिया और ग्रन्थ का नाम उन्होंने षटखण्डागम रखा। षटखण्डागम के छह विभाग हैं। पहले खण्ड का नाम जीवस्थान है; उसमें आठ अनुयोगद्वार हैं और नौ चूलिकाएँ हैं, इस खण्ड का श्लोक परिमाण १८००० है। द्वितीय खण्ड का नाम क्षुद्रकबन्ध है। प्रथम खण्ड में जीवों पर गुणस्थान और मार्गणा के आधार पर से चिन्तन किया है; जबकि इस खण्ड में एक जीव की दृष्टि से स्वामित्व, एक जीव की दृष्टि से काल आदि ग्यारह अनुयोगों द्वारा चिन्तन किया गया है। बन्ध का विस्तार से निरूपण छठे खण्ड में होने से इसका नाम षटखण्डागम रखा गया। तीसरे खण्ड में बन्धस्वामित्व विचय है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के निमित्त से जीव और कर्म पुद्‌गलों का एकतारूप परिणमन बन्ध है। प्रश्न और उत्तर के रूप में कर्म सम्बन्धी विस्तृत विवेचन है। चतुर्थ खण्ड वेदना खण्ड है। इसमें १६ अनुयोगद्वारों के माध्यम से वेदना की विचारणा की गई है। पञ्चम विभाग का नाम वर्गणा है। इसमें विभिन्न प्रकार की कर्मवर्गणा का प्रतिपादन है। छठे विभाग का नाम महाबन्ध है। इस खंड में प्रकृति,

स्थति, अनुभाग और प्रदेश—इन चारों भेदों की विस्तार से चर्चा है। इस खण्ड का श्लोक परिमाण ३०,००० है। जबकि पांच खण्डों का मूल ग्रन्थ परिमाण ६००० श्लोक है। महाबन्ध का अपर नाम महाधवल भी है। षट्खण्डागम ग्रन्थ में संयुक्त होने पर भी यह स्वतन्त्र कृति है। आचार्य वीरसेन ने पांच खण्डों पर धवला नामक टीका लिखी जिसका श्लोक परिमाण ७२००० है किन्तु महाबन्ध प्रारम्भ से ही इतना विस्तृत था कि उस पर टीका लिखने की आवश्यकता ही महसूस नहीं हुई। जैन दर्शनसम्मत कर्म-वाद का पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में हुआ है।

पुष्पदन्त और भूतबलि के मध्य जिनपालित संयोजक कड़ी के रूप में रहे। विज्ञों का यह भी अनुमान है कि आचार्य भूतबलि के पास रहकर जिनपालित ने प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में पूर्ण सहयोग किया। दिगम्बर पर-म्परा का यह सर्वप्रथम ग्रन्थ है। जब इस ग्रन्थ का लेखन सम्पन्न हुआ उस समय आचार्य पुष्पदन्त भी विद्यमान थे। आचार्य भूतबलि ने आचार्य जिन-पालित के साथ यह ग्रन्थ पुष्पदन्त को प्रेषित किया था। पर ग्रन्थ की प्रशस्ति में जिनपालित और भूतबलि—इन दोनों के नामों का उल्लेख नहीं है। इस विराट्काय ग्रन्थ को निहार कर आचार्य पुष्पदन्त को हार्दिक आह्लाद हुआ। अनुसंधानकर्त्ताओं ने आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि का समय विक्रम की दूसरी शताब्दी माना है। □

आचार्य समन्तभद्र

आपका गृहस्थाश्रम में नाम शान्ति वर्मा था। आप तमिलनाडु उरगपुरनरेश के सुपुत्र थे। शिलालेखों और परवर्ती ग्रन्थकारों ने आपका प्रचुर यशोगान गाया है। पं० जुगल किशोर मुख्तार ने "स्वामी समन्तभद्र" नामक ग्रन्थ में आपके सम्बन्ध में विस्तार से चर्चाएँ की हैं।

आपने श्रमण बनकर अपने गुणों से श्रमणों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त किया। आपका संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, तमिल आदि अनेक भाषाओं पर पूर्ण अधिकार था। आपकी प्रतिभा ने भारतीय विद्या की अनेक विधाओं को स्पर्श किया था। आपका चिन्तन, मनन स्याद्वाद को उजागर करने में लगा हुआ था। आप जो भी बोलते और लिखते वह स्याद्वाद की तुला पर तुला हुआ होता। यही कारण है कि परवर्ती अनेक मनीषियों ने आपके लिए 'स्याद्वाद-विद्यापति', 'स्याद्वादविद्यागुरु', 'स्याद्वाद अग्रणी' आदि विशेषण आपके नाम के पूर्व लगाये हैं। आप वादकला कुशल होने के साथ ही वाद-रसिक भी थे। आपने भारत के प्रमुख नगरों—पाटलिपुत्र, वाराणसी, उज्जैन, धार, पंजाब और काञ्चिपुर (काञ्जिवरम्) आदि में जाकर विद्वानों को आह्वान किया और उनसे शास्त्रार्थ कर जैन शासन की प्रभावना की।[1]

स्वयंभू स्तोत्र में आचार्य समन्तभद्र ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—स्वामी समन्तभद्र आचार्य, कवि, वादिराट्, पण्डित, दैवज्ञ,

---

१ पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुठक्कविषये कांचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते! शार्दूलविक्रीडितम्॥

—श्रवण बेलगोल शिलालेख नं० ५४

ज्योतिषज्ञ, वैद्य, मान्त्रिक, तान्त्रिक और आज्ञासिद्ध थे। उन पर सरस्वती की अपार कृपा थी।[२]

स्वामी समन्तभद्र बौद्ध आचार्य नागार्जुन के समकालीन थे। उनका मूल निवास स्थान 'राजबलिकथे' के अनुसार काञ्ची था, जो वर्तमान में काञ्जीवरम् के नाम से विश्रुत है। लेखक ने अपने को काञ्ची का नग्नाटक लिखा है।

एक बार उनके शरीर में भस्मक नामक रोग हो गया। वे जो भी खाते वह उसी क्षण हजम हो जाता। उन्हें तीव्र भूख सताने लगी। भूख से छटपटाते हुए आचार्य समन्तभद्र ने सोचा कि इससे तो यही श्रेयस्कर है कि अनशनपूर्वक आयु पूर्ण करूँ। उन्होंने अपने गुरु से आज्ञा माँगी पर गुरु ने उनको अनशन की आज्ञा नहीं दी। वे पर्याप्त आहार प्राप्त करने के लिए काञ्चीवरम् के शिवालय में पुजारी बनकर रहे। प्रतिदिन जो चालीस सेर का चढ़ावा देव प्रतिमा को अर्पित किया जाता था वह उन्हें खाने के लिए मिलने लगा। प्रतिदिन मधुर और पर्याप्त भोजन मिलने से उनका रोग धीरे-धीरे शान्त हो गया। अब नैवेद्य बचने लगा। एक दिन वह गुप्त रहस्य भी उद्‌घाटित हो गया। राजा ने सोचा कि कोई भयंकर घटना होने वाली है। अतः उसने मन्दिर को चारों ओर से घेर लिया। समन्तभद्र ने भक्तिभाव से विभोर होकर तीर्थंकर चन्द्रप्रभ की स्तुति की। राजा 'शिवकोटि' समन्तभद्र की भक्ति से प्रभावित हुआ और उनका शिष्य बन गया। समन्तभद्र ने पुनः दीक्षा ग्रहण की। संयम में स्थिर होकर आचार्य पद पर आसीन हुए।

समन्तभद्र महान प्रतिभासम्पन्न थे। उन्होंने विपुल मात्रा में संस्कृत भाषा में साहित्य का सृजन कर जैन शासन की जो महनीय सेवा की है वह इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर युग-युग तक चमकती रहेगी। आचार्य समन्तभद्र की संस्कृत भाषा बहुत ही परिष्कृत और सानुप्रास है। कवित्व, गमकत्व, वादित्व, वाग्मित्व ये चार उनके विशिष्ट गुण थे जिससे उनका व्यक्तित्व और कृतित्व चमक उठा। आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र,

---

२ आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं,
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहं।
राजन्नस्यां जलधिवलया मेखलायामिलाया—
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्ध सारस्वतोऽहं॥ —स्वयम्भू स्तोत्र, ३

स्तुति विद्या, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, आपकी प्रकाशित रचनाएँ हैं। इन ग्रन्थों पर विज्ञों ने टीकाएँ भी लिखी हैं। जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन, 'प्रमाण पदार्थ', 'कषाय प्राभृतिका', 'गन्धहस्ती-महाभाष्य' आदि आपकी अप्रकाशित रचनाएँ हैं। उनमें से कितनी ही रचनाएँ विद्वानों को अभी तक मिल नहीं सकी हैं। विज्ञों का यह भी मानना है कि गन्धहस्ती महाभाष्य में ८४,००० श्लोक हैं। आचार्य समन्तभद्र के सम्बन्ध में अनेक मनीषियों ने जमकर लिखा है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही विद्वानों ने उनके पाण्डित्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। वे अपने युग के अनुपम रत्न थे और जिन-शासन के शृंगार थे। उन्होंने कुमारिल भट्ट की शैली का अनुसरण किया है। कुमारिल भट्ट का समय विज्ञगण ईस्वी सन् ६२५ से ६८० के बीच मानते हैं। इस दृष्टि से आचार्य समन्तभद्र वीर निर्वाण की बारहवीं सदी के एक विशिष्ट आचार्य माने जा सकते हैं। कितने ही इतिहासकार उन्हें विक्रम की पांचवीं सदी का आचार्य मानते हैं। पं० जुगलकिशोर मुख्तार ने आपका समय विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी निश्चित किया है।

वस्तुतः आपका व्यक्तित्व और कृतित्व अद्भुत था।

—●—

आचार्य देवनंदी (पूज्यपाद)

आप दक्षिण के निवासी थे। आपका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था। आपके पिता का नाम माधवभट्ट और माता का नाम श्रीदेवी था। आपके देवनन्दी, जिनेन्द्रबुद्धि और पूज्यपाद—ये तीन नाम थे। श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ४० में स्पष्ट रूप से लिखा है कि आचार्य प्रवर का असली नाम देवनन्दी था। आपकी बुद्धि जिनेन्द्र की तरह विशिष्टता लिए हुए थी इसलिए आपको जिनेन्द्रबुद्धि के नाम से भी पुकारते थे। देवों के द्वारा भी आप अर्चनीय थे इसलिए पूज्यपाद की अभिधा से भी अभिहित किये गये।[1] दो नामों की अपेक्षा पूज्यपाद नाम अधिक प्रसिद्ध हुआ।

आप मूल संघान्तर्गत नन्दी संघ के प्रथम आचार्य थे। आपके जीवन म विविध गुण थे। एक बार आपकी नेत्रज्योति चली गई थी। आपने बहुत ही विश्वास के साथ शान्त्याष्टक का जप किया जिससे आपकी नेत्र ज्योति पुन: आ गई। श्रवण बेलगोल शिलालेख १०८ के आधार से यह कहा जाता है, आपको ऐसी ऋद्धि प्राप्त थी जिसे अद्वितीय औषध ऋद्धि कहते थे। एक बार आपके चरण प्रक्षालन किए हुए जल से लोहा भी सोना बन गया था। और यह भी कहा जाता है कि आप महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी के दर्शन हेतु गये थे।[2]

आपने तत्त्वार्थ सूत्र पर एक टीका लिखी जो सर्वार्थसिद्धि के नाम से विश्रुत है। टीका आपके प्रकाण्ड पाण्डित्य को प्रदर्शित करती है। समाधितन्त्र और इष्टोपदेश ये दोनों ग्रन्थ आध्यात्मिक चिन्तन से

---

१. यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्॥

—श्रवण बेलगोल शिलालेख क्र० ४०-६४

२. श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद्विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसंस्पर्श प्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार॥

—श्रवणबेलगोल, शिलालेख क्र० १०८-२५८

ओत-प्रोत हैं। रचनाओं को पढ़ते समय ऐसा स्पष्ट प्रतिभास होता है कि रचनाकार का आध्यात्मिक चिन्तन बहुत ही गहरा था। सिद्ध-भक्ति, श्रुत-भक्ति, चारित्र भक्ति, योग-भक्ति, आचार्य-भक्ति, निर्वाण भक्ति और नन्दीश्वर भक्ति आदि अनेक प्रकरण आपके द्वारा रचित हैं। आपने वैद्यक शास्त्र पर भी 'वैद्यक शास्त्र' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है।

शिमोगा जिले में "नगर ताल्लुक" का छियालिसवाँ शिलालेख है। उस शिलालेख में आचार्य पूज्यपाद के चार ग्रन्थों का उल्लेख है।[३] उसमें वैद्यक ग्रन्थ भी एक है। आचार्य जिनसेन, आचार्य वादिराज, पद्मप्रभ, धनञ्जय, गुणनन्दी और शुभचन्द्र आदि मूर्धन्य मनीषियों का मानना है कि जैनेन्द्र व्याकरण, पूज्यपाद की महत्त्वपूर्ण कृति है। आज अनेक विद्वानों ने भी विविध प्रमाणों को देकर यह सिद्ध किया है कि जैनेन्द्र व्याकरण पूज्यपाद की ही रचना है। जैन मनीषियों के द्वारा लिखा हुआ यह प्रथम जैन-संस्कृत व्याकरण है। पर नाथूराम प्रेमी जैनेन्द्र व्याकरण के रचयिता पूज्यपाद को न मानकर अन्य जैन मनीषी को मानते हैं। पूज्यपाद की एक अन्य रचना शब्दावतार भी है। वह कृति पाणिनी व्याकरण पर लिखी गई कृति है।

अनेक प्रमाणों के आधार से यह सिद्ध हो चुका है कि पूज्यपाद देवनन्दी आचार्य समन्तभद्र के बाद में हुए हैं। क्योंकि पूज्यपाद ने भी स्वयं समन्तभद्र का उल्लेख अपनी रचना में किया है। देवनन्दी पूज्यपाद वीर निर्वाण १००९ (वि० सं० ५३९) में विद्यमान थे। क्योंकि वीर निर्वाण ९९६ (वि० सं० ५२६) में पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने द्रविड़ संघ की स्थापना की थी। कोंगुणी युवराज दुर्विनीत पूज्यपाद के पास अध्ययन के लिए रहे थे और वे उनके परम भक्त बन गये थे। वे साहित्य प्रेमी और कलम कलाधर भी थे। उन्होंने पूज्यपाद की रचना शब्दावतार का कन्नड़ भाषा में अनुवाद भी किया था। दुर्विनीत वीर निर्वाण १००९ (वि० सं० ५३९) में विद्यमान थे अतः यही काल पूज्यपाद देवनन्दी का भी प्रमाणित होता है। □

---

३. न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो,
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचदिह तां भात्यसौ पूज्यपाद,
स्वामी भूपालवंद्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः॥

—नगर ताल्लुक शिलालेख क्र० ४६

आचार्य पात्र स्वामी

आपके जन्म और जन्मस्थली के सम्बन्ध में विज्ञ गण अन्वेषण कर रहे हैं कि वे कहाँ के थे पर अभी तक किसी निर्णय पर नहीं पहुंच सके हैं। यह सत्य है कि आप न्यायविद्या के पारगामी विद्वान थे । आपका अपर नाम पात्रकेसरी भी था। आधुनिक अनुसन्धान के पहले विद्यानन्दि का दूसरा नाम पात्र स्वामी या पात्रकेसरी समझा जाता था। पर पण्डित जुगल किशोर मुख्तार ने विविध प्रमाणों के आधार से यह सिद्ध कर दिया है कि ये दोनों आचार्य पृथक्-पृथक थे।

आपने त्रिलक्षणकदर्थन नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ का निर्माण बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के "त्रिलक्षण हेतु" ग्रन्थ के प्रतिवाद में हुआ था। लक्षण ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का अपना अनूठा स्थान है। यद्यपि वह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है तथापि विभिन्न ग्रन्थों में उसके अवतरण पाए जाते हैं।

'अन्यथानुपपन्नत्वं तत्र तत्र त्रयेण किम्।'

इस कारिका का प्रयोग न्यायविनिश्चय में आचार्य अकलङ्क देव ने किया है। तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में आचार्य विद्यानन्दि ने भी किया है। उन्होंने वहाँ यह स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत कारिका आचार्य पात्र स्वामी की है। उन्होंने त्रिलक्षण का प्रतिवाद करने के लिए यह कारिका बनाई। 'तत्त्वार्थ संग्रह' में बौद्ध मनीषी शान्तिरक्षित ने भी पात्रस्वामी की कारिकाओं को स्थान दिया है।

पात्रस्वामी की एक अन्य और रचना भी है जो पात्रकेसरी स्तोत्र के नाम से विश्रुत है। उसमें पचास पद्य हैं। प्रत्येक पद्य में विद्वान लेखक का गम्भीर चिन्तन मुखरित हुआ है। यह कृति 'बृहद् पंचनमस्कार स्तोत्र' के नाम से भी जानी और पहचानी जाती है।

आचार्य अकलङ्क ने अपने ग्रन्थों में पात्र स्वामी की कारिकाओं का प्रयोग अनेक स्थलों पर किया है। इससे सूर्य के आलोक की तरह यह स्पष्ट है कि पात्रस्वामी आचार्य अकलङ्क से पूर्व हुए हैं। विज्ञगण आचार्य अकलङ्क भट्ट का समय बिक्रम की छठी शताब्दी मानते हैं तो पात्र स्वामी उनसे पहले हुए हैं और दिङ्नाग का काल ईस्वी सवत् ३४५ से ४२५ है। दिङ्नाग के उत्तरवर्ती और अकलंक देव के पूर्ववर्ती होने से पात्र स्वामी बिक्रम की पाँचवीं-छठी शताब्दी के आचार्य प्रमाणित होते हैं। □

आचार्य अकलंक

आचार्य अकलङ्क महान मेधावी आचार्य थे। आपका जन्म कर्नाटक प्रान्त में हुआ था। आपके पिता का नाम पुरुषोत्तम और माता का नाम जिनमती था। आपके पिता राष्ट्रकूट के राजा शुभतुङ्ग के मन्त्री थे। आपके ज्येष्ठ भ्राता का नाम निष्कलङ्क था। आपने बाल्यकाल में ही यह प्रतिज्ञा ग्रहण की थी कि मैं जीवन भर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा। एक दिन निष्कलङ्क और अकलङ्क दोनों भ्राताओं के मन में आया कि हम बौद्ध विद्यापीठ में जाकर तर्कशास्त्र का गम्भीर अध्ययन करें। दोनों भाइयों ने विचार को मूर्त्त रूप दिया और वे बौद्ध विद्यापीठ में अध्ययन के लिए पहुंच गए। पर किसी तरह बौद्ध विद्यापीठ के आचार्य को पता लग गया कि ये दोनों विद्यार्थी जैन हैं। अकलङ्क तो वहाँ से पलायन कर गये पर निष्कलङ्क भागने में असमर्थ रहे। बौद्ध आचार्य ने निष्कलङ्क को वहीं पर मरवा दिया। आचार्य अकलङ्क ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की और जैन न्याय के वे प्रमुख व्यवस्थापक बने। उन्होंने प्रमाणशास्त्र की व्यवस्थित रूपरेखा प्रस्तुत की। यही कारण है कि अमरसिंह ने अमरकोष में "प्रमाणमकलंकस्य" लिखा है।

आचार्य अकलङ्क का युग शास्त्रार्थ का युग था। चारों ओर शास्त्रार्थ की धूम थी। बौद्ध आचार्य धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति थे। उन्होंने दिङ्नाग के दर्शन को शास्त्रार्थ कर जन-जन के अन्तर्मानस में प्रतिस्थापित किया था। दूसरी ओर वैदिक परम्परा के मनीषी प्रभाकर, मण्डन मिश्र, आचार्य शंकर, भट्ट जयन्त और वाचस्पति मिश्र शास्त्रार्थ कर वैदिक चिन्तन को मूर्त्त रूप देने के लिए जी-जान से प्रयास कर रहे थे। जैन परम्परा के आचार्य भी पीछे कहाँ रहने वाले थे? वे भी जैन दर्शन को अनेकान्तवाद के आलोक में प्रसारित करने का प्रयास कर रहे थे। उनके ज्येष्ठ भ्राता निष्कलङ्क को बौद्धाचार्य ने मरवा दिया था। इसलिए आचार्य अकलङ्क के मन में बौद्ध धर्म और दर्शन के प्रति एक प्रकार से घृणा थी। जब वे आचार्य बने तब उन्होंने कलिंगनरेश हिमशीतल की सभा में बौद्ध दार्शनिकों के साथ छह माह तक शास्त्रार्थ किया। उनके शास्त्रार्थ सम्बन्धी एक आकर्षक घटना है—

बौद्ध भिक्षु एक घड़े में तारादेवी की संस्थापना करके शास्त्रार्थ किया करते थे जिससे वे शास्त्रार्थ में पराजित नहीं हो पा रहे थे। आचार्य अकलङ्क को यह बात ज्ञात हो गई। उन्होंने शासनदेवी की आराधना की, जिससे वह घड़ा फूट गया। आचार्य अकलङ्क की विजय वैजयन्ती लहराने लगी। वस्तुतः आचार्य की तेजस्वी प्रतिभा ने ही उन्हें शास्त्रार्थ में विजय प्रदान करवाई थी।

आचार्य अकलङ्क वाद-कुशल ही नहीं वरन् कलम के धनी भी थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा ग्रन्थ पर उन्होंने 'अष्टशती' नामक टीका का निर्माण किया। यह टीका अनेकान्त दर्शन को सजीव रूप में प्रस्तुत करती है। तत्त्वार्थ सूत्र पर उन्होंने सोलह हजार श्लोक परिमाण राजवार्तिक टीका लिखी जो अपने आप में अनूठी टीका है। सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय और प्रमाण संग्रह—ये तीनों ग्रन्थ उनकी कुशल तर्कशक्ति का ज्वलन्त प्रमाण हैं। लघीयस्त्रयी ग्रन्थ में उन्होंने प्रमाणशास्त्र का व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया है। अकलङ्क स्तोत्र में उनकी भक्ति की भागीरथी प्रवाहित हुई है।

आचार्य अकलङ्क अपनी प्रतिभा की तेजस्विता से विद्वद्जगत् में परमादरणीय रहे हैं। वे वीर निर्वाण की ग्यारहवीं-बारहवीं (विक्रम की सातवीं सदी के) सदी के एक मूर्धन्य मनीषी रहे हैं। □

आचार्य वीरसेन

आचार्य वीरसेन दक्षिण भारत के एक प्रभावशाली दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे। वे ज्योतिष, व्याकरण, प्रमाणशास्त्र एवं छन्दशास्त्र के तलस्पर्शी अध्येता थे। षट्खण्डागम जो बहुत ही क्लिष्ट ग्रन्थ है, जिसको समझना सामान्य व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है, इस ग्रन्थ पर ७२,००० श्लोक परिमाण की टीका का निर्माण कर आपने अपनी तेजस्वी प्रतिभा का परिचय दिया है। यह टीका प्राकृत-संस्कृत मिश्रित है। अन्य जितनी भी षट्खण्डागम पर टीकाएं हैं, उनमें यह सबसे बड़ी टीका है। इस टीका का नाम धवला है। इस टीका की पूर्णाहुति वीर निर्वाण १३४३ विक्रम संवत् ८७३ में हुई। दूसरी टीका आपने कषायपाहुड पर लिखी। यह टीका २०,००० श्लोक परिमाण में सम्पन्न हुई। इस टीका का नाम जयधवला है। ये दोनों टीकाएं बहुत ही ज्ञानवर्द्धक हैं। तीसरा ग्रन्थ 'सिद्धान्त भूपति टीका' है जो ग्रन्थ अभी तक विज्ञों को मिल नहीं सका है।

ये टीकाएं आचार्य वीरसेन ने राष्ट्रकूट नरेश "अमोघ वर्ष प्रथम" के समय में लिखी थीं। राजा अमोघवर्ष के अपर नाम धवल और अतिधवल भी थे। विज्ञों का यह मानना है कि राजा के नाम पर ही टीकाओं का धवल और जयधवल नामकरण हुआ है। टीका की प्रशस्तियों के आधार से यह निश्चित है कि वीर निर्वाण की १४वीं और विक्रम की ९वीं शताब्दी के ये एक तेजस्वी सन्तरत्न थे। □

आचार्य जिनसेन

आचार्य जिनसेन आचार्य वीरसेन के शिष्य थे। ये भी अपने गुरु की तरह जैन दर्शन के गम्भीर ज्ञाता थे। इन्होंने लघु वय में ही मुनिधर्म ग्रहण किया था। इनकी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी। इनमें विनय गुण की प्रचुरता थी जिसके कारण आपकी विद्या यशस्वी बन सकी। आपके गुरु आचार्य वीरसेन ने कषाय पाहुड पर जयधवला नामक टीका लिखनी प्रारम्भ की थी और वे २०,००० श्लोक परिमाण टीका लिख गये थे। उस अपूर्ण टीका को आचार्य जिनसेन ने चालीस हजार श्लोक रचकर उस टीका को पूर्ण किया। इसी प्रकार जयधवला टीका ६०,००० श्लोक परिमाण है।

कविकुलगुरु कालिदास के मेघदूत काव्य के आधार पर आचार्य जिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय काव्य लिखा। यह खण्ड काव्य मन्दाक्रान्ता वृत्त में है और संस्कृत भाषा में निबद्ध है। आचार्य जिनसेन ने भगवान ऋषभदेव पर एक महापुराण की रचना की जिसमें ४७ पर्व हैं। पर यह महाकाव्य पूर्ण नहीं हो सका। आपने दस हजार तीन सौ अस्सी श्लोक बनाये। आपके स्वर्गस्थ होने पर आपके शिष्य गुणभद्र ने अवशेष कार्य को पूर्ण किया। गुणभद्र ने आदिपुराण को १६२० श्लोक लिखकर पूर्ण किया और उत्तरपुराण के ८०,००० श्लोक लिखे। आचार्य जिनसेन का प्रबल प्रभाव था। राष्ट्रकूट के नरेश अमोघवर्ष एक तेजस्वी नरेश थे। वे आचार्य जिनसेन से बहुत ही प्रभावित थे। जयधवला टीका ईस्वी सन् ८३७ में सम्पन्न हुई। इस दृष्टि से आचार्य जिनसेन का समय वीर निर्वाण १३६४ वि० सं० ८९४ है, ऐसा विज्ञों का मत है। □

आचार्य विद्यानन्द

आचार्य विद्यानन्द का जीवन एक हजार वर्ष के बाद भी प्रकाशमान नक्षत्र की तरह जगमगा रहा है। वे विद्या के सागर थे। ऐसा कोई विषय नहीं था जिसमें उनकी पहुंच न हो। आप अपने युग के अद्वितीय विद्वान थे। विद्यानन्द नाम के अनेक आचार्य हुए हैं पर उन सभी में आपकी प्रतिभा विलक्षण रही है। आपके जीवन के सम्बन्ध में सामग्री अनुपलब्ध है। आप कहाँ के थे, आपके माता-पिता और गुरुजनों का नाम क्या था—यह सब अज्ञात है। आपका वैदिक दर्शन का ज्ञान अगाध था। इस दृष्टि से शोधार्थियों का अनुमान है कि आपका जन्म ब्राह्मण कुल में होना चाहिए। आपके विशाल और विराट साहित्य को निहार कर विज्ञों ने यह भी अनुमान किया है कि आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी होंगे। क्योंकि ब्रह्मचर्य के तेज बिना इस प्रकार साहित्य का सृजन सम्भव नहीं।

आचार्य विद्यानन्द ने नौ ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें छह ग्रन्थ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं और तीन टीका ग्रन्थ हैं। तत्वार्थ श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री—देवागमालंकार और युक्त्यनुशासनालंकार, ये तीन ग्रन्थ टीका ग्रन्थ हैं। विद्यानंद महोदय, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्र परीक्षा, सत्य शासन परीक्षा और श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र—ये छह रचनाएं स्वतन्त्र हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र पर आचार्य विद्यानन्द ने १८००० श्लोक परिमाण टीका का निर्माण किया। जिन विषयों में आचार्य अकलङ्क गहराई तक नहीं पहुंच सके थे उन विषयों में आचार्य विद्यानन्द ने जमकर चर्चाएं की हैं। उनका सैद्धान्तिक ज्ञान और अगाध पाण्डित्य प्रेक्षणीय है। प्रस्तुत 'श्लोकवार्तिक' की शैली मीमांसा दर्शन के चिन्तक कुमारिल भट्ट से मिलती-जुलती है। अष्टसहस्री टीका आप्तमीमांसा पर है जो आचार्य समन्तभद्र की एक गौरवशाली कृति है। उसी का अपर नाम देवागमालंकार भी है। उस पर आचार्य अकलङ्क ने भी अष्टशती टीका लिखी थी। प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य विद्यानन्द ने आचार्य अकलंक के निगूढ़ रहस्यों को उद्घाटित कर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। इसी तरह आचार्य समन्तभद्र का युक्त्यनुशासन स्तुति प्रधान ग्रन्थ है जिसमें ६४ पद्य हैं। प्रत्येक पद्य बहुत ही गूढ़ अर्थ को

लिए हुए है। आचार्य विद्यानन्द ने प्रस्तुत ग्रन्थ पर युक्त्यनुशासनालंकार टीका का निर्माण कर साहित्य रसिकों के लिए महान उपकार किया है। विद्वान लेखक ने दुरूह विषय को सरलतम बनाकर प्रस्तुत किया है। "विद्यानन्द महोदय" रचना आज अनुपलब्ध है किन्तु श्लोकवार्तिक में विद्यानन्द ने इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। आप्तपरीक्षा में सर्वज्ञ के स्वरूप का १२४ कारिकाओं के द्वारा विवेचन किया है। प्रमाणपरीक्षा ग्रन्थ में प्रत्यक्ष—परोक्ष प्रभृति प्रमाणों के भेद-प्रभेदों का निरूपण है। पत्र परीक्षा और सत्य शासन परीक्षा—ये विद्यानन्द की लघु रचनाएं होने पर भी विषय विश्लेषण की दृष्टि से अनूठी कृतियां हैं। सत्य-शासन परीक्षा ग्रन्थ भी अभी तक विज्ञों को मिल नहीं सका है। श्रीपुर पार्श्व स्तोत्र देवागम की शैली पर निर्मित ग्रन्थ है अतः दोनों कृतियों के श्लोकों में बहुत कुछ समानता भी है।

आचार्य विद्यानन्द सूक्ष्म प्रज्ञा के धनी थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में तटस्थ दृष्टि से विविध दर्शनों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनकी रचनाओं पर प्राचीन दिगम्बर आचार्यों की रचनाओं का स्पष्ट प्रभाव है। उन्हें धरोहर के रूप में जो साहित्यिक निधि मिली थी उसका उन्होंने अपने ग्रन्थों में खुलकर उपयोग किया। उन्होंने मीमांसक विद्वान जैमिनी शबर, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, कणाद दर्शन के मनीषी विद्वान योम शिवाचार्य और नैयायिक दर्शन के तलस्पर्शी अध्येता उद्योतकर प्रभृति के ग्रन्थों की समीक्षात्मक समालोचना जिस चतुरता के साथ अपने ग्रन्थों में की है, उसी कुशलता के साथ बौद्ध विज्ञ धर्मकीर्ति, प्रभाकर, धर्मोत्तर आदि के साहित्य की भी समालोचना की है। यही कारण है कि अनेक परवर्ती जैन मनीषी आपकी उत्कृष्ट मेधा शक्ति से प्रभावित हुए हैं।

शक संवत् १३२० में एक शिलालेख उत्कीर्ण हुआ है। उस शिलालेख में नन्दी संघ के आचार्य विद्यानन्द का उल्लेख है। इस शिलालेख के आधार से यह स्पष्ट है कि आचार्य विद्यानन्द नन्दी संघ में दीक्षित हुए थे। आधुनिक शोधार्थियों ने विद्यानन्द का समय ईस्वी सन् ७७५ से लेकर ८४० तक माना है। इस आधार से आचार्य विद्यानन्द का काल वीर निर्वाण १३०२ (वि० सं० ८३२) से वीर नि० १३६७ (वि० सं० ८९७) सिद्ध होता है। □

आचार्य अमृतचन्द्र

आचार्य अमृतचन्द्र गीर्वाण के गिरा के यशस्वी विद्वान थे। उन्होंने संस्कृत भाषा में साधिकार लिखा है। वे आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों के प्रशस्त व्याख्याकार हैं। उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द की आध्यात्मिक और दार्शनिक व्याख्या को सही रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। समयसार पर उन्होंने आत्मख्याति नामक टीका लिखी है। समयसार के गम्भीर विषय को समझने में यह टीका पूर्ण रूप से सहायक है। समयसार के अतिरिक्त प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय पर भी टीकाएँ लिखी हैं। ये तीनों टीकाएँ नाटकत्रयी के नाम से भी विश्रुत हैं। समयसार के आधार पर उन्होंने अध्यात्म रस से ओत-प्रोत समयसार कलश नामक ग्रन्थ लिखा, जो वस्तुतः आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार पर कलशस्वरूप ही है। आचार्य उमास्वामि के बहुचर्चित ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र पर उन्होंने संस्कृत पद्यों में तत्त्वार्थसार ग्रन्थ की रचना की। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय उनकी एक महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें उन्होंने श्रावकाचार पर गहराई से चिन्तन किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र का जैनदर्शन सम्बन्धी ज्ञान अगाध था। उनकी कृतियों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे प्रत्येक बात को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि पाठक पढ़ते-पढ़ते अध्यात्म-रस में गोते लगाने लगता है। अध्यात्म का वर्णन प्रायः नीरस होता है पर आचार्य अमृतचन्द्र की यह महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है कि वे काव्य शक्ति के द्वारा नीरस विषय को भी सरस बनाकर प्रस्तुत करते हैं। निश्चय और व्यवहार का निरूपण वे जिस सशक्त शैली में करते हैं, उससे उनका गंभीर पाण्डित्य तो झलकता ही है, साथ ही विषय पर पूर्ण अधिकार भी उजागर होता है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उनमें गम्भीर पाण्डित्य होने पर भी पाण्डित्य का किंचित् मात्र भी अहंकार नहीं था। उन्होंने ग्रन्थों में कहीं पर भी अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं किया है। उन्होंने अपनी कृतियों में अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में लिखा है—'भिन्न-भिन्न वर्णों से पद बन गए, पदों से वाक्य बन गए और वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बन गया। मैंने इसमें कुछ नहीं किया।'[1] यह है उनकी विनम्रवृत्ति, जो उनकी महानता को अभिव्यक्त करती है। विज्ञों ने आपका समय विक्रम संवत् १०५५ से पूर्व माना है। □

---

१ वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥ —पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

आचार्य सोमदेव

आचार्य सोमदेव देव संघ के एक तेजस्वी सन्त थे। आपके गुरु का नाम नेमिदेव था जो आचार्य यशोदेव के शिष्य थे। आपके लघु भ्राता का नाम महेन्द्रदेव था। आपके द्वारा रचित तीन ग्रन्थ हैं– नीतिवाक्यामृत, अध्यात्म तरंगिणी, यशस्तिलक। नीतिवाक्यामृत में राजनीति पर सर्वांग दृष्टि से उचित विवेचन किया है। यह ग्रन्थ ३२ अध्यायों में विभक्त है। अध्यात्म तरंगिणी में चालीस पद्यों के द्वारा अध्यात्म का स्वरूप प्रतिपादित है। यशस्तिलक ग्रन्थ में धार्मिक आख्यान हैं। यशोधर राजा का सम्पूर्ण कथानक सरस रीति से चित्रित किया गया है। आचार्य सोमदेव का गम्भीर पाण्डित्य और उनकी सूक्ष्म दृष्टि सर्वत्र प्रेक्षणीय है। आचार्य का शब्द लालित्य कवि माघ की सहज स्मृति दिला देता है।

यशस्तिलक में आचार्य ने इन्द्र, चन्द्र, जैनेन्द्र, पाणिनीय व्याकरण आदि की चर्चा की है और साथ ही महाकवि कालिदास, भवभूति, गुणाढ्य, बाण, मयूर, व्यास, प्रभृति मूर्धन्य मनीषियों का भी उल्लेख किया है। विषयवस्तु और रचना शैली की दृष्टि से यह काव्य उत्कृष्ट कोटि का है। यशस्तिलक में आठ आश्वास हैं। अन्तिम तीन आश्वास में उपासक के सम्बन्ध में चिन्तन है। उपासकदशांग को ही अनुलक्ष्य में रखकर आचार्य ने इसका नाम उपासकाध्ययन रखा है। यशस्तिलक ४६ कल्पों में विभाजित है। प्रत्येक कल्प में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें हैं। वैशेषिक, जैमिनीय, कणाद, ब्रह्माद्वैत प्रभृति अनेक दर्शनों पर चिन्तन करते हुए जैन दर्शन पर गहराई से और विस्तार से प्रकाश डाला है।

आचार्य सोमदेव तार्किक थे किन्तु उन्होंने अपनी तर्क शक्ति का प्रयोग विवाद के लिए नहीं वरन् सत्य-तथ्य उद्घाटित करने के लिए किया है। सोमदेव जितने आध्यात्मिक थे उतने ही व्यावहारिक भी थे। उन्होंने जीवन के व्यावहारिक पक्षों पर भी चिन्तन किया है। खान-पान आदि को कथा के माध्यम से समझाया गया है। भारतीय संस्कृति जो संयमप्रधान थी, उसे इसमें उज्जीवित किया गया है।

उपासकाध्ययन की सामग्री का उपयोग बाद के आचार्य अमितगति, पद्मनन्दि, वीरनन्दि, आशाधर, यशःकीर्ति आदि विद्वानों ने अपनी-अपनी कृतियों में किया है। आचार्य जयसेन ने तो धर्म रत्नाकर ग्रन्थ में उपासकाध्ययन के अनेक श्लोक उद्धृत किए हैं। यद्यपि आचार्य सोमदेव के पूर्व भी श्रावकाचार सम्बन्धी वर्णन अनेक ग्रन्थों में हुआ है तथापि विज्ञों ने उपासकाध्ययन की सामग्री का उपयोग क्यों किया ? इसका मूल कारण यह है कि आचार्य ने सामग्री का उपयोग इस तरह से किया है कि पढ़ते-पढ़ते पाठक झूम उठता है। यह प्रस्तुतिकरण ही जन-जन के आकर्षण का केन्द्र रहा है।

षण्णवति प्रकरण, महेन्द्र मातलिसंकल्प, युक्ति चिन्तामणिस्तव, ये ग्रन्थ भी आचार्य सोमदेव के माने जाते हैं पर वे ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। जिनदास ने उपासकाध्ययन टीका में यह लिखा है कि आचार्य सोमदेव ने ६३ महावादियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया था। जिसके कारण आपको स्याद्वाद अचलसिंह, तार्किक चक्रवर्ती, वादीभ पञ्चानन, वाक्कल्लोल पयोनिधि एवं कवि कुशलराज आदि विविध उपाधियाँ प्रदान की गई थीं। कन्नौज के राजा महेन्द्रपाल के आग्रह से उन्होंने यशस्तिलक काव्य की रचना की थी। यशस्तिलक काव्य वीर निर्वाण १४८६ (विक्रम सं० १०१६) में सम्पन्न हुआ अतः आचार्य सोमदेव वीर निर्वाण की पन्द्रहवीं सदी और विक्रम की ग्यारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध के एक विशिष्ट मनीषी रहे हैं।

आचार्य सोमदेव के काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने काव्य में अनेक नूतन शब्दों का प्रयोग किया है। □

आचार्य अमितगति

आचार्य अमितगति प्रकाण्ड पण्डित थे और जन्मजात कवि थे। वे माथुर संघ के आचार्य माधवसेन के शिष्य थे। विज्ञों का मन्तव्य है कि उनका जन्म विक्रम संवत् १०२० में हुआ है। उन्होंने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। उनमें से प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं—

१. सुभाषित रत्न संदोह
२. धर्म परीक्षा
३. पञ्चसंग्रह
४. उपासकाचार भावना
५. द्वात्रिंशिका
६. सामायिक पाठ और
७. अमितगति श्रावकाचार।

आचार्य अमितगति ने अपना सम्पूर्ण साहित्य संस्कृत भाषा में ही लिखा। संस्कृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था। उनके साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उनका अध्ययन बहुआयामी था। उन्होंने विविध विषयों पर गम्भीर अध्ययन किया था। गम्भीर अध्ययन से उनकी बुद्धि परिष्कृत हो चुकी थी। उन्होंने सत्य को सर्वोपरि स्थान दिया। प्राचीनता के नाम पर गलत धारणाओं को उन्होंने कभी भी प्रश्रय नहीं दिया। जो बातें उन्हें युक्तिपुरस्सर प्रतीत हुई उनका उन्होंने प्रतिपादन किया। धर्म परीक्षा ग्रन्थ में उन्होने रूढ़ मान्यताओं की आलोचना भी की है। अमितगति श्रावकाचार ग्रन्थ में श्रावक के बारह व्रतों और उनकी भावनाओं पर सुन्दर रीति से प्रकाश डाला है। श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का अपना अनूठा स्थान है।

आचार्य अमितगति के प्रकाण्ड पाण्डित्य से उज्जैन के राजा मुञ्ज अत्यधिक प्रभावित थे। वे जब भी राजसभा में जाते तब मुञ्ज उनका बहुत ही सम्मान करता था। विक्रम संवत् १०५० पौष शुक्ला पञ्चमी के दिन उन्होंने सुभाषित रत्न संदोह ग्रन्थ की रचना राजा मुञ्ज की राजधानी उज्जयिनी में की। इसके अतिरिक्त भी अन्य कई ग्रन्थ उन्होंने उज्जैन में ही लिखे हैं। उन्होंने अपनी कृतियों की प्रशस्ति में यह भी लिखा है कि मैं माथुर संघ के आचार्य माधवसेन का शिष्य हूँ। विज्ञों का यह मन्तव्य है कि आचार्य अमितगति ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए हैं। □

आचार्य माणिक्यनन्दि

आचार्य माणिक्यनन्दि एक मेधावी आचार्य थे। शक सबत् १३२०, ईस्वी संवत् १३९८ में लिखे हुए विन्ध्यगिरि के शिलालेखों में नन्दि संघ के आठ आचार्यों का उल्लेख हुआ है, उनमें से एक माणिक्यनन्दि भी हैं। धारानरेश राजा भोज बहुत ही विद्या-रसिक थे। उनकी राज-सभा में अनेक मूर्धन्य मनीषी-गण थे उनमें एक आचार्य माणिक्यनन्दि भी थे। वे प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। उन्होंने आचार्य अकलङ्क के ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन कर परीक्षा-मुख ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ न्याय साहित्य का अनूठा ग्रन्थ है। लघु अनन्तवीर्य के शब्दों में कहा जाय तो यह ग्रन्थ न्याय-विद्या का अमृत है। आचार्य माणिक्यनन्दि का गम्भीर ज्ञान इसमें स्पष्ट रूप से झलक रहा है। आचार्य ने बहुत ही संक्षेप में गम्भीर भावों को व्यक्त कर दिया है। यह सत्य है कि प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और प्रमाण-मीमांसा की छाप इस ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से है। तथापि सम्पूर्ण जैन न्याय को इस ग्रन्थ में सूत्रबद्ध कर दिया गया है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ पर प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामक एक विराट्काय टीका लिखी है। सुदंसण चरिउ ग्रन्थ में मुनि नयनन्दि ने आचार्य माणिक्यनन्दि को महापण्डित लिखा है। आचार्य माणिक्यनन्दि के प्रभाचन्द्र शिष्य थे। अनुसन्धान के पश्चात् विज्ञों ने आचार्य माणिक्यनन्दि का समय वीर निर्वाण १५२० से १५८० (विक्रम संवत् १०५० से ११९०) तक स्वीकार किया है। □

आचार्य वादिराज

इनकी जीवन-परिचय-रेखा प्राप्त नहीं है तथापि यह सत्य है कि वे तर्कविद्या के एक जाने-माने हुए विज्ञ थे। आपका सम्बन्ध द्रविड़ या द्रमिल की उरुमंगल शाखा के साथ था। आप वाद-विद्या में बहुत ही कुशल थे इसलिए आपका नाम वादिराज के नाम से विश्रुत हुआ। स्याद्वाद विद्यापति, जगदेक मल्लवादी और षट्तर्कसन्मुख प्रभृति विविध उपाधियाँ आपको मिली थीं जो आपके गम्भीर पाण्डित्य को प्रकट करती हैं। आपके गुणों को प्रकट करने वाला नगरतालुका के शिलालेख क्रमांक ३६ का उद्धरण इस प्रकार है—"वे सभा में अकलङ्क थे, विवेचन करने में धर्मकीर्ति थे, प्रवचन में बृहस्पति और न्यायविद्या में नैयायिक गौतम के सदृश थे[1]।"

वादिराज चामत्कारिक विद्या के भी ज्ञाता थे। उनके शरीर में भयंकर कुष्ठ रोग हो गया था। एक भक्त की प्रार्थना पर उन्होंने अपने शरीर का वह रोग छिपा दिया और शरीर को कंचन की तरह चमका दिया। जयसिंह जो दक्षिण के विख्यात सोलंकी वंश के नरेश थे, वे आपका अत्यधिक आदर करते थे।

आपके द्वारा विविध विषयों पर ग्रन्थ लिखे गये, उनमें मुख्य ग्रन्थ ये हैं—न्यायविनिश्चय विवरण—यह आचार्य अकलङ्क भट्ट के न्यायविनिश्चय ग्रन्थ पर बीस हजार श्लोक परिमाण का भाष्य है। प्रमाण निर्णय—इस ग्रन्थ में प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रभृति प्रमाण की गहराई से चर्चा की गई है। यशोधर चरित्र—एक खण्ड काव्य है, इस खण्ड काव्य में २९६ पद्य हैं। एकीभाव स्तोत्र—इसमें पच्चीस पद्यों के द्वारा स्तुति की गई है। पार्श्वनाथ स्तोत्र—इसमें बारह सर्ग हैं, यह श्रेष्ठ काव्य है। अध्यात्माष्टक—इसमें आठ पद्यों के द्वारा अध्यात्म की चर्चा की गई है। त्रैलोक्यदीपिका—यह करणानुयोग का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अध्यात्माष्टक और त्रैलोक्यदीपिका के सम्बन्ध के विज्ञों में मतैक्य नहीं है, कितने ही विज्ञ इन्हें वादिराज की कृति मानते हैं तो कितने ही विज्ञ इन्हें उनकी कृति मानने में संकोच करते हैं। पार्श्वनाथ चरित्र की रचना ईस्वी सन् १०२५ में हुई। अतः वादिराज का समय वीर निर्वाण १५५२ (विक्रम संवत् १०८२) के लगभग होना चाहिये। □

---

१ सदसि यदकलंकः कीर्तने धर्मकीर्तिर्वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपाकः।

आचार्य प्रभाचन्द्र

आचार्य प्रभाचन्द्र की निर्मल साहित्यिक प्रभा जैन जगत को आलोकित करती रही। तत्त्वार्थवृत्ति पद, विवरण शाकटायन, शब्दांभोज भास्कर, प्रवचनसार, सरोज भास्कर, रत्नकरण्ड श्रावकाचार टीका, समाधि तन्त्र टीका आदि विविध ग्रन्थों की उन्होंने टीकाएँ लिखी हैं। न्याय कुमुदचन्द्र और प्रमेयकमल मार्तण्ड जैसे विराट्काय टीका ग्रन्थों का निर्माण कर अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। न्यायकुमुदचन्द्र भट्ट अकलङ्क की लघीयस्त्रयी पर १६००० श्लोक परिमाण विवेचन है। जिसमें दार्शनिक विषयों पर गहराई से चिन्तन किया गया है। प्रमेय कमल मार्तण्ड का श्लोक परिमाण १२००० है। यह ग्रन्थ राजा भोज के राज्यकाल में सम्पन्न हुआ था।

आचार्य प्रभाचन्द्र राजा भोज के समकालीन थे। राजा भोज का उनके प्रति हार्दिक सम्मान था। वे उनकी राजसभा में भी जाया करते थे। वे न्यायविद्या के अध्ययन के लिए धारा नगरी में आये थे, वहीं पर आचार्य माणिक्यनन्दि का सान्निध्य मिला और माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख ग्रन्थ पर उन्होंने प्रमेयकमल मार्तण्ड टीका लिखी। टीका की प्रशस्ति में प्रभाचन्द्र ने माणिक्यनन्दि को अपना गुरु स्वीकार किया है क्योंकि उन्होंने उनसे न्यायविद्या प्राप्त की थी। आचार्य प्रभाचन्द्र ने कितने ग्रन्थों का निर्माण किया, इस सम्बन्ध में विज्ञगण एकमत नहीं है। गद्य—आराधना कथाकोष उनकी अपनी मौलिक रचना है। उसमें विविध धार्मिक कथाएँ दी गई हैं। शब्दांभोज भास्कर ग्रन्थ में जैनेन्द्र व्याकरण की विस्तृत व्याख्या की गई है। वर्तमान में वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। आचार्य पुष्पदन्त के महापुराण पर भी आपने संक्षिप्त टिप्पण लिखा। परमारनरेश भोज और जयसिंहदेव के आप समकालीन थे।

□

आचार्य नेमिचन्द्र

नेमिचन्द्र दिगम्बर परम्परा के महान तत्त्वदर्शी विज्ञ थे। वे जैन सिद्धान्त के गहन अभ्यासी थे। इसीलिए उनके नाम के साथ सिद्धान्त चक्रवर्ती उपाधि लगी हुई है। जिस प्रकार चक्रवर्ती षट्खण्ड पर विजय-वैजयन्ती फहराता है उसी प्रकार आचार्य नेमिचन्द्र ने अपनी निर्मल मति के चक्र से सैद्धान्तिक ज्ञान पर विजय पताका फहराई। उन्होंने जयधवला, धवला, ग्रन्थों को आधार बनाकर गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार, प्रभृति अनेक ग्रन्थों का सृजन किया। गोम्मटसार उनकी बहुत प्रसिद्ध कृति है। यह ग्रन्थ दो भागों में विभक्त है—जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। जीवकाण्ड में महाकर्मप्राभृत के सिद्धान्त सम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रक बन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदना खण्ड और वर्गणा खण्ड—इन पांच विषयों का निरूपण है। गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन बीस अधिकारों में जीव की विविध अवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है। कर्मकाण्ड प्रकरण में प्रकृति-समुत्कीर्तन, बन्धोदय, सत्त्व, सत्त्वस्थान, भंग, त्रिचूलिका, स्थान समुत्कीर्तन, प्रत्यय, भावचूलिका और कर्मस्थिति इन नौ अधिकारों में विभिन्न अवस्थाओं का विश्लेषण किया गया है। लब्धिसार में दर्शनलब्धि, चारित्रलब्धि और क्षायिक चारित्र—ये तीन अधिकार हैं। प्रसंगानुसार गुणस्थान की दृष्टि से विभिन्न प्रकृतियों के नामों का भी उल्लेख है। विभिन्न प्रकृतियों के नामों का उल्लेख करके बन्ध आदि की हीनता के क्रम को प्रदर्शित किया गया है। त्रिलोकसार में करणानुयोग का वर्णन है। इसका मूल आधार त्रिलोकप्रज्ञप्ति है। द्रव्यसंग्रह आचार्य की बहुचर्चित कृति है। जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, आकाश, काल, कर्म, तत्त्व, ध्यान आदि के सम्बन्ध में संक्षेप में किन्तु व्यवस्थित रूप से चर्चा की गई है। समस्त विषय को जीवाधिकार, सप्त पदार्थ निरूपण अधिकार, मोक्ष मार्ग अधिकार इन तीन अधिकारों में विभक्त कर सकते हैं। द्रव्य, अस्तिकाय और तत्त्वों को संक्षेप में समझने के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। आपके ग्रन्थों की भाषा प्राकृत और शौरसेनी का सम्मिश्रण है।

आप देशीय गण के थे। आप गंगवंशीय राजा राजमल्ल के प्रधान मन्त्री और सेनापति चामुण्डराय के समकालीन थे। आपने आचार्य अभयनन्दि, वीरनन्दि और कनकनन्दि को अपना गुरु माना है। गृहस्थाश्रम में ये तलवार के धनी थे। जब भी रणक्षेत्र में पहुंचते शत्रुओं के कलेजे कांपने लगते। सदा विजय को वरण करने के कारण युद्धविक्रम, महाविजेता आदि विविध उपाधियां प्राप्त कीं। श्रमण बनकर ये कलम के धनी बने और कलम के द्वारा उन्होंने सैद्धान्तिक विषयों का गहराई से प्रतिपादन किया। सम्पूर्ण दक्षिण में उन्होंने अध्यात्म लहर प्रसारित कर जैन शासन के गौरव में अभिवृद्धि की। चामुण्डराय की धार्मिक प्रवृत्ति के प्रेरणास्रोत आप ही थे। उसके अन्तर्मानस को धार्मिक भावना ने इतना अधिक प्रभावित किया कि उसने स्वप्न में भी झूठ न बोलने की प्रतिज्ञा ली थी। आपका समय विक्रम की ग्यारहवीं और वीर निर्वाण की १६वीं शताब्दी माना जाता है।

□□□

आचार्य शुभचन्द्र

आचार्य शुभचन्द्र संस्कृत भाषा के मूर्धन्य मनीषी थे। आपकी महत्त्वपूर्ण कृति ज्ञानार्णव है। इस ग्रन्थ के अपर नाम योग प्रदीप और योगार्णव भी हैं। यह ग्रन्थ ध्यान सम्बन्धी विपुल सामग्री प्रस्तुत करता है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत ध्यान का बहुत ही सूक्ष्मता से विश्लेषण करता है। आग्नेयी, मारुति, वारुणी, पार्थिवी धारणाओं पर चिन्तन करते हुए धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय का विश्लेषण कर मन के नानाविध रूपों का विश्लेषण किया है। कर्मक्षय की प्रक्रिया, बारह भावना, पांच महाव्रत और उनका ध्यान के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है, यह भी बताया गया है। भाषा की सरलता और शैली की प्रौढ़ता से कृति में चार-चांद लग गये हैं। आचार्य श्री की बहुश्रुतता यत्र-तत्र मुखरित हुई है। उनका अन्य दर्शनों का अध्ययन गहरा है। उनका प्रगल्भ पाण्डित्य विज्ञों के लिए गौरव का विषय है।

आचार्य शुभचन्द्र पर आचार्य पूज्यपाद, भट्ट अकलङ्क, अमृतचन्द्र, सोमदेव, अमितगति आदि दिगम्बर आचार्यों की रचनाओं का स्पष्ट प्रभाव है।

आचार्य हरिभद्र ने योग पर सर्वप्रथम विस्तार से चिन्तन किया। योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योगविंशिका, योग शतक आदि ग्रन्थ योग सम्बन्धी मौलिक चिन्तन प्रदान करते हैं।

आचार्य शुभचन्द्र के ग्रन्थ का प्रभाव आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र पर भी देखा जा सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि शुभचन्द्र आचार्य हरिभद्र के बाद में हुए हैं और आचार्य हेमचन्द्र से पहले हुए हैं। वे विक्रम की ११वीं शती के विज्ञ हैं। ये राजा मुंज के समकालीन थे। 卐

परिशिष्ट

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रयुक्त ग्रन्थ सूची

अथर्ववेद
अभिधान चिन्तामणि
अपापाकल्प विविध तीर्थकल्प
अनुयोगद्वार सूत्र
आवश्यक निर्युक्ति
आवश्यक मलयगिरि वृत्ति
आवश्यकचूर्णि
आवश्यक हरिभद्रीया वृत्ति
आगम अष्टोत्तरी
आचारांग चूर्णि
आप्त-मीमांसा
इतिहास प्रवेश
उपदेशमाला सटीक
उपदेशसार टीका
उत्तराध्ययनसूत्र
उपदेशमाला विशेष वृत्ति
ऋषभदेव : एक परिशीलन
ऋषिमण्डल प्रकरण
औपपातिक सूत्र
कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी
कल्पसूत्र चूर्णि
कल्पसूत्र कल्पार्थ बोधिनी
कुरान
कहावली
कल्पसूत्र
खरतरगच्छ गुर्वावली
गणधरवाद की भूमिका
(दलसुख मालवणिया)
गुर्वावली-(मुनि रत्नसूरि)
गणधर सार्ध शतक—(वर्द्धमान सूरि)
गोपथ ब्राह्मण
जैन परम्परा नो इतिहास
जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा
जैन गुर्जरकवियो
जैन तीर्थ सर्व संग्रह
जैन सत्यप्रकाश
ज्योतिष करण्डक टीका
ठाणं (सूत्र)
तित्थोगालिय पइन्ना
तीर्थमाला—(विनयप्रभ उपाध्याय)
तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्तिरीय आरण्यक
तत्त्वार्थ भाष्य
दशाश्रुतस्कंध चूर्णि
दशवैकालिक
दिव्यानुदान
दुष्षमाकाल श्री समण संघ स्तोत्र अवचूरि
दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति

दशवैकालिक निर्युक्ति
दशाश्रुतस्कंध निर्युक्ति
दर्शनसार
निशीथ चूर्णि
नन्दि चूर्णि
निशीथ भाष्य
निरयावलिका
नन्दि सूत्र
नगर ताल्लुक शिलालेख
पट्टावली पराग—(मुनि कल्याणविजय)
पज्जोसणाकप्पनिज्जुती
परिशिष्ट पर्व
पट्टावली समुच्चय
प्रश्नव्याकरण
प्रभावक चरित्र
प्राकृत साहित्य का इतिहास
पंचकल्प चूर्णि
प्रबन्धकोष
पुरातन प्रबन्ध संग्रह
पञ्चसिद्धान्तिका
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय
भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण
भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन
भगवान महावीर : एक अनुशीलन
भगवतीसूत्र
भरतेश्वर-बाहुबली वृत्ति
भारतवर्ष का इतिहास
भाव संग्रह—(आचार्य देवसेन)
मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ
मुण्डक उपनिषद्
महाबन्ध
योगशास्त्र
राजपुताने का इतिहास
राजस्थान का इतिहास—टॉड
रत्न संचय प्रकरण
विशेषावश्यक भाष्य
वीर निर्वाण संवत् और काल गणना—(मुनि श्री कल्याणविजय)
विविध तीर्थकल्प
विचार श्रेणी
वृहद्कल्प भाष्य
शिव पुराण
श्रीमाल पुराण
श्रीमद् भागवत
श्रवणबेलगोला शिलालेख
सुश्रुत संहिता
समवाओ
स्वयम्भूस्तोत्र
हिमवन्त स्थविरावली
ज्ञाता सूत्र

□□